लेखक के दो शब्द

'महाकवि हरिऔध' का लेखन-कार्य आज समाप्त हो गया और यह शीघ्र ही पाठकों के कर-कमलों में प्रस्तुत हो सकेगा, यह सोच कर मुझे संतोष हो रहा है; यदि इससे उनका कुछ मनोरंजन हो सका तो निस्सन्देह यह आनन्द की बात हो सकेगी।

इस ग्रन्थ के सीमित महत्त्व के विषय में मेरे हृदय में कोई सन्देह नहीं है; इसकी दुर्बलताओं को मैं जानता हूँ। फिर भी यदि मेरे मित्रगण इस सम्बन्ध में मेरा ध्यान आकृष्ट करेंगे तो मैं उनका आभारी हूँगा।

श्री हरिऔध जी के योग्य अनुज, मान्यवर रायबहादुर पं० गुरुसेवक उपाध्याय बी० ए०, के उस अमूल्य सहयोग के लिए—जिसके बिना सम्भवतः श्री हरिऔध जी के व्यक्तित्व-सम्बन्धी मेरे अध्ययन को प्रामाणिक सफलता न प्राप्त हो सकती—आभार प्रगट करने का अर्थ होगा उनके स्नेह के अपरिमित मूल्य को परिमित बना देना। पं० किशोरी शरण त्रिपाठी तथा अपने अन्य अनेक मित्रों की स्नेह-मयी सहायता के लिए भी, इसी कारण, मैं यहाँ धन्यवाद नहीं देता हूँ।

एक बात और; 'प्रियप्रवास' की हृदयस्पर्शिनी पंक्तियों में हरिऔध जी की काव्य-कुशलता और मार्म्मिकता का परिचय पाकर लगभग बीस वर्षों से हिन्दी-संसार के अनेक लब्धप्रतिष्ठ महानुभाव उन्हें 'कवि-सम्राट' की उपाधि के साथ स्मरण करते आ रहे हैं। थोड़े समय से इन शब्दों के प्रयोग से सहज ही 'हरिऔध' जी की ओर हमारा ध्यान चला

जाने लगा है और अब तो हरिऔध जी का नाम न रहने पर भी अकेला 'कवि-सम्राट' उनका बोध कराने के लिए पर्य्याप्त हो रहा है। इस ग्रन्थ के नामकरण में तथा इसके भीतर यत्र तत्र प्राप्त प्रसंगों पर मैंने उनकी इस लोक-स्वीकृत उपाधि का प्रयोग नहीं किया है; इसका कारण मेरी रुचि मात्र है, यह नहीं कि मैं उन्हें 'कवि-सम्राट' कहे जाने का अधिकारी नहीं समझता; वास्तव में हिन्दी के अनेक श्रेष्ठ विद्वानों के इस मत से मैं सर्वथा सहमत हूँ कि वर्त्तमान हिन्दी-कवियों में यदि कोई भी 'कवि-सम्राट' के गौरवपूर्ण पद पर प्रतिष्ठित किया जा सकता है तो वे श्रीहरिऔध जी ही हैं।

दारागंज, प्रयाग
दिसम्बर, १९३२

श्रीगिरिजादत्त शुक्ल

समर्पण

सैंतालीस वर्ष के अल्प वय में समस्त परिवार को व्यथित करके परलोक-यात्रा करनेवाले, अपूर्व प्रतिभा-सम्पन्न, तथा गणित, विज्ञान, और क़ानून के दिग्गज विद्वान् पूज्य पितृव्य पं० देवीदत्त शुक्ल बी. एससी., एल. एल. बी. ऐडवोकेट की स्मृति में—

[१]

जहाँ ज्योति भरना जीवन का व्रत था तुमने माना।
अन्धकार भर गये वहीं क्यों? विलग भाव क्यों ठाना?
श्रीनिवास करते थे जिसको उसकी श्री सब हर कर।
चले गये क्यों हे निरमोही घर का दीया घर कर।
करते थे अपराध सदा हम क्षमा सदा पाते थे।
दया-निधान जान कर तुमको कभी न घबराते थे।
वह चिर क्षमा भुला दी तुमने हमें छोड़ कर भागे।
अनुरति से हो विरत विरति से क्यों इतने अनुरागे?
अंतिम समय नहीं चरणों का दर्शन भी कर पाया।
मन्द भाग्य ही इस जीवन में मैं ने हाय कमाया।
जाते ही थे तो पद-पंकज तो रोकर धो लेता।
पा आशीश तुम्हारा जी को तो कुछ धीरज देता।
हाय, एक भी दिया न साधन शोक-जलधि तरने का।
घाव कर दिया उरमें ऐसा कभी न जो भरने का।

[२]

प्रतिभा अमित प्रकृति से पाकर जीवन में आये थे।
परम रंक कुटिया में राजा का वैभव लाये थे।

रूप तुम्हारा प्रखर दिवाकर सदृश दीप्तिमय दीखा।
कमलों ही की भाँति विकसना हम सब ने भी सीखा।
मुखर मोद-मधुकर का गुंजन था कितना मनहारी!
विरह-निशा की स्मृतियाँ भी थीं नव रस वर्द्धनकारी।
बीत गयी प्रभात की वेला मध्य दिवस भी बीता।
आयी संध्या, गये प्रभाकर, कमल-कोष-रस रीता।
अब न गर्व हम लोग करेंगे: अहंकार सब टूटा।
तुम्हें गँवा कर आज हमारा भाग्य सदा को फूटा।
तुम सा पारस पाकर हम थे सोना खरे कहाये!
चले गये तुम फिर कुधातु ही होने के दिन आये।
कृष्ण बिना अर्जुन से हम सब रहित पराक्रम होकर।
दिवस बितावेंगे जीवन के आहें भर कर रोकर।

[३]

सूना पड़ा तुम्हारा वह घर जिसके थे तुम राजा।
नव सौन्दर्य-स्वाद ने जिसकी ईंट ईंट को साजा।
मिले धूलि में ग्रन्थ आज वे जो थे तुमको प्यारे।
जिनकी धूलि पोंछते थे तुम प्रति दिन श्रम से न्यारे।
जिन किवाड़ पर आज तुम्हारा अंकित नाम दिखाता।
बिना तुम्हारे, रंग हाय! अब उसका उड़ता जाता।
गोरा वत्स तुम्हारा प्यारा गैया बड़ी दुलारी।
वे [illegible] देखते अब भी नित ही राह तुम्हारी।
भोजन समय भूल लें तुमको सहज भावना आती।
जब न मिलोगे, फिर तुरन्त ही स्मृति निष्ठुर जग जाती।
[illegible] जब न्यायालय से आते गृह में पैठे।
हम सोचेंगे, क्या [illegible] होंगे तुम गाड़ी में बैठे।
हाय! [illegible] गाड़ी घर में मानो भ्रम मिट जाता।
[illegible] सदा को [illegible] गये तुम तोड़ सभी से नाता।

[४]

सोचा था यह ग्रंथ तुम्हारे चरणों में रख दूँगा।
वत्सल आशीर्वचन-प्राप्ति से अति कृतकृत्य बनूँगा।
हाय रही उर की अभिलाषा उर ही में यह सारी।
चले गये तुम उजड़ गयी यह असमय ही फुलवारी।
न्याय-ज्ञान-कानन-पंचानन! प्रखर तुम्हारा गर्जन।
क्या न कभी फिर देख सकेंगे हम होकर पुलकित-तन?
कैसी चिरनिद्रा में सोये क्या न कभी जागोगे?
प्रिय जन रोदन करुण श्रवण कर मौन न क्या त्यागोगे?
जिनके लिए रहे तुम जीवन भर श्रमजल बरसाते।
वे ही दृगजल बरसाने में आज नहीं थक पाते।
आँख खोलकर एक बोल तो बोलो जाने वाले!
हम हतभागों पर असमय ही वज्र ढहाने वाले!
जीवन भर जिनकी चिन्ता का बोझा ढोया तुमने।
बीच धार में क्यों निर्दय हो उन्हें डुबोया तुमने?

[५]

जिन्हें न छोड़ा दो घड़ियों को उन्हें सदा को छोड़ा।
हाय! हाय!! यों निर्दय हो क्यों हम सब से मुंह मोड़ा?
सदय मेघ से हो जिनके हित प्रेम-वारि बरसाया।
उनकी हरी-भरी खेती पर क्यों फिर उपल गिराया।
जिनके हित छाया करते थे सघन कल्पतरु ऐसे।
उन्हें जेठ की दोपहरी में भटकाओगे कैसे?
अपने आश्रित की सेवा में तत्पर रहनेवाले!
कैसे दृग से देख सकोगे उनके पर के छाले?
नहीं, नहीं, तुम हृदयवान थे, गये न अपने मन से।
विरत न हो सकते थे माली! सुमनों के सिंसचन से।
आकर क्रूर काल ने तुमको विवश किया चलने को।

अन्य लोक में अन्य आश्रितों की विपदा दलने को।
जाना ही अनिवार्य्य जानकर कितना तुम रोये थे!
विरतिमयी मोहक निन्द्रा में तो पीछे सोये थे।

[६]

हाय कठोर सत्य हम सब तुम्हें न अब पाएँगे।
भुजग सदृश मणि खोकर निज सिर धुनते रह जाएँगे।
चले गये, तुम गये सदा को, फिर न कभी आओगे।
स्नेहमयी मंजुल मूरति फिर कभी न दरसाओगे।
आये थे दिखलाने जग को प्रतिभा-विभव अनोखा।
चले गये पुरुपार्थ-प्रबलता का प्रमाण दे चोखा।
जाओ, जाना ही अभीष्ट जब, हे अनन्त के यात्री।
पथराई आँखें ये होंगी कालकृपा की पात्री।
जहां कहीं भी जाओ निश्छल सत्य तुम्हारा रथ हो।
बाधाओं से मुक्त, सुमन से लसित, प्रेममय रथ हो।
सकल सिद्धियां बनें सेविका शांति बने चिर संगिनि।
विद्या-व्यसन-निरति मन मोहित-करे नित्य नवरंगिणि।
मेरी इस कृति की स्मृति अविकल प्रतिपल उर उमँगावे।
विस्मृति-वारिधि-पारंगत कर तुमसे मुझे मिलावे।

तुम्हारे चरण-कमलों की स्मृति का उपासक

गिरिजादत्त शुक्ल

विषय-सूची

चतुर्थ खण्ड

पंचम खण्ड

—:o:—

हरिऔध की लोकप्रियता

बहुत दिनों की बात है, तब मैं आजमगढ़ के एक स्कूल में पढ़ता था। परीक्षा के दिन थे, किन्तु तुकबन्दी का नशा सिर पर कुछ ऐसा सवार था कि एक नवीन रचना लेकर मैं हरिऔध जी की खोज में निकल पड़ा। उसके पहले मैंने उनके दर्शन नहीं किये थे। जाड़े के दिन थे; सवेरे की धूप अच्छी तरह छिटिक चली थी। वे खड़े-खड़े किसी भाव-लहरी में निमग्न थे। उनकी कवित्वपूर्ण दृष्टि और भावमयी मुखमुद्रा ने तत्काल ही निश्चय करा दिया कि महाकवि हरिऔध यही हैं। किसी से पूछताछ किये बिना ही मैंने अपनी तुकबन्दी उनके हाथों में रख दी। उन्होंने पूछा—"क्या यह कोई कविता है ?"

मैंने उत्तर दिया—"जी, हाँ।"

हरिऔध जी ने कहा—"सन्ध्या-समय आइए तो मैं इसका उचित संशोधन करके इसकी त्रुटियाँ समझा दूँ।"

आज्ञानुसार संध्या-समय जब मैं फिर उपस्थित हुआ तब हरिऔध जी मेरी तुकबन्दी को बड़े ध्यान से देखने लगे। मैंने बाबू मैथिलीशरण गुप्त की निम्नलिखित पंक्तियों के नमूने पर अपनी रचना की थी :—

"प्रिय सखे तव पत्र मिला नहीं।
मम मनोरथ-पुष्प खिला नहीं॥
न इसका तुमको कुछ दोष है।
बस हमीं पर दैविक रोष है॥
जब स्वयं तुम भूल रहे हमें।
विधि कहाँ अनुकूल रहे हमें॥"

× × × ×

इस कविता में संस्कृत के द्रुतविलम्बित वर्णवृत्त का प्रयोग किया गया है। परन्तु दुर्मिल छन्द के साथ मैंने इसकी ऐसी खिचड़ी पकायी

थी कि मेरी कविता का छन्द निश्चित करने में हरिऔध जी को बहुत हैरान होना पड़ा। उन्होंने बड़ी देर तक चक्कर में पड़े रहने के बाद अन्त में दुर्मिल छन्द के नियम मुझे बता दिये और उस दिन उनके परिश्रम, धैर्य तथा वात्सल्य-भाव से प्रभावित होकर मैं घर लौटा। हरिऔध जी से मेरा प्रथम परिचय इसी प्रकार हुआ।

इसके बाद धीरे-धीरे हिन्दी के अनेक लेखकों और कवियों से मेरा परिचय हुआ। किन्तु मेरे चित्त पर हरिऔध जी के व्यक्तित्व का जैसा स्थायी प्रभाव पड़ा वैसा किसी अन्य के व्यक्तित्व का नहीं पड़ सका। हरिऔध जी में हृदय पर प्रभाव डालने की एक अद्भुत शक्ति है, जिसकी जननी है उनकी मानवतापूर्ण सहानुभूति, करुणा और निस्स्वार्थ स्नेहशीलता।

खेद है, आजमगढ़ में मैं अधिक समय तक न रह सका। मेरे पूज्य नाना पं० देवीदत्त शुक्ल बी० एस-सी०, एल-एल० बी० वहाँ विज्ञानाध्यापक के पद पर काम करते थे: इसी सम्बन्ध से मैं वहाँ पढ़ने गया था। वे आठ-दस महीनों के बाद वहाँ से चले आये। इस प्रकार हरिऔध जी के साहित्यिक नेतृत्व से मैं प्रायः सर्वथा वञ्चित हो गया। इस अभाव का अनुभव मैं आज भी करता हूँ।

थोड़ा समय हुआ, "माधुरी" में प्रकाशित एक लेख की निम्नलिखित पंक्तियों ने मेरा ध्यान आकर्षित किया :—

"जहाँ तक मेरा विचार है, बँगला के रवीन्द्र और उर्दू के इक़बाल तुलनात्मक दृष्टि से देखने से हमारी हिन्दी के श्रेष्ठ कवियों से कविता की दौड़ में कोसों आगे नहीं हैं। पर उनकी विश्वख्याति के सामने हमारे सुकवियों की अल्पख्याति अतीव शोचनीय प्रतीत होती है। निस्सन्देह, इस अल्प ख्याति का मुख्य कारण हमारा औदासीन्य है; हमारा गृह-कलह है; हमारी पराधीनता है। बँगला के द्विजेन्द्र और बंकिम की समता के कवि, जैसे सत्यनारायण थे, नाटककार तथा औपन्यासिक हमारे यहाँ इस समय भी वर्तमान हैं, पर हम उनका यथोचित सम्मान नहीं

करते। यही कारण है कि वे भारतीय साहित्य में अपने योग्यासन पर प्रतिष्ठित नहीं हो पाते। निकट भविष्य में वे अपना उचित स्थान पा जायँगे, ऐसी आशा भी नहीं है।"

उक्त कथन की यथार्थता ने मेरे हृदय पर बड़ा प्रभाव डाला। लगभग सात-आठ वर्षों से मैं हरिऔध जी की साहित्यिक जीवनी लिखने का विचार करता आ रहा हूँ। परन्तु साहित्यिक जीवन की जो विशेषताएँ अनेक असुविधाओं की जननी हो जाती हैं, उन्होंने मेरा मार्ग कण्टकाकीर्ण कर दिया। उक्त पंक्तियों ने मुझे निद्रा से जगा कर कर्तव्य-पालन की ओर प्रेरित किया।

कई कारणों से इस जीवनी के लिखे जाने में जो विलम्ब हुआ उसके लिये मैं दुखी नहीं हूँ। कालेज के विद्यार्थी-जीवन में, जब मैंने इस कार्य की प्रथम कल्पना की थी, मैं हरिऔध जी के व्यक्तित्व से प्रभावित तो था, परन्तु उसकी प्रभावशालिता के रहस्यों को यथोचित रूप से हृदयंगम नहीं कर सका था। इस कार्य्य को इतने समय तक टालते आने में निस्सन्देह उसके सदा के लिए स्थगित हो जाने की भी आशंका थी। परन्तु यह तो तभी सम्भव होता जब हरिऔध जी के साहित्य-निर्माण में वह कौशल और विदग्धता न दिखलायी पड़ती जिसके अवलम्बन से ही स्थायी साहित्य खड़ा होता है। सच बात यह है कि उनके साहित्य-निर्माण के सम्बन्ध में मेरी धारणा दिन प्रति दिन ऊँची ही होती गयी है। साथ ही, इस सुदीर्घ काल के अन्तर ने मुझे उनके सम्बन्ध में सत्य के अधिक निकट ला दिया है, जिससे मैं अपने संकल्प को सफलतापूर्वक कार्य्यरूप में परिणत करने के लिए अधिक योग्यता-सम्पन्न हो गया हूँ।

हरिऔध जी आधुनिक हिन्दी-साहित्य के नेताओं में अग्रगण्य हैं। वे चालीस वर्ष से हिन्दी-साहित्य की सेवा कर रहे हैं। उपन्यास-लेखक के रूप में, महाकाव्यकार के रूप में, अध्यापक के रूप में वे यथेष्ट यश अर्जित कर चुके हैं। मेरे मित्र बाबू पदुमलाल बख्शी बी० ए० प्रयाग में प्रायः कहा करते थे कि हरिऔध जी जितने सफल उपन्यासकार हैं

उतने सफल कवि नहीं। उपन्यासों के लिखने में हरिऔध जी को जैसी सफलता मिली थी उससे अवश्य ही आश्चर्य होता है कि उन्होंने और उपन्यास क्यों नहीं लिखे। 'ठेठ हिन्दी का ठाट' और 'अधखिला फूल' के सम्बन्ध में कुछ विद्वानों की सम्मतियाँ मैं यहाँ देता हूँ। इन ग्रन्थों में हरिऔध जी ने ठेठ हिन्दी लिखने की सफल चेष्टा की है। डाक्टर ग्रियर्सन महोदय ने ठेठ हिन्दी लिखने में हरिऔध जी के कौशल पर मुग्ध होकर 'ठेठ हिन्दी का ठाट' के प्रकाशक को लिखा था :—

"प्रिय महाशय,

'ठेठ हिन्दी का ठाट' के सफलतापूर्ण प्रकाशन के लिए मैं आपको बधाई देता हूँ। यह एक प्रशंसनीय पुस्तक है। आप कृपा कर के पंडित अयोध्यासिंह से कहिए कि मुझे इस बात का बहुत हर्ष है कि उन्होंने सफलता के साथ यह सिद्ध कर दिया है कि बिना अन्य भाषा के शब्दों का प्रयोग किये ललित और ओजस्विनी हिन्दी लिखना सुगम है।

"मेरी इच्छा है कि और लोग भी हरिऔधकृत 'ठेठ हिन्दी का ठाट' की शैली में लिखने का उद्योग करें और लिखें। जब मैं देखूँगा कि पुस्तकें वैसी ही भाषा में लिखी जाती हैं तो मुझको फिर यह आशा होगी कि आगामी समय इस भाषा का अच्छा होगा, जिसे मैं गत तीस वर्षों से आनन्द के साथ पढ़ता रहा हूँ।"

नीचे कुछ अन्य लोगों की सम्मतियाँ, जो उन्होंने हरिऔध जी को पत्र लिख कर प्रगट की थीं, दी जाती हैं। पाठक उनसे इन ग्रन्थों की [illegible] का अनुमान करें :—

देवस्वरूप का हाल कुछ और पढ़ते। पुस्तक शुरू से अखीर तक एक स्टाइल में लिखी गयी है। हम कह सकते हैं कि ऐसा उत्तम उपन्यास हिन्दी में दूसरा नहीं है। हम आपको बधाई देते हैं।"

—काशी प्रसाद जायसवाल

२—"मैं 'अधखिला फूल' आद्यन्त पढ़ गया, यह उपन्यास उत्तम और रोचक है। श्रीमान् ने हिन्दी के भाण्डार को एक प्रशंसनीय पुस्तक से सुसज्जित किया, अतएव हिन्दी-रसिक आपके अनुगृहीत हैं। इसकी भाषा लड़कों और स्त्रियों के भी समझने योग्य है। ऐसी भाषा लिखना टेढ़ी खीर है, किन्तु श्रीमान् भली भाँति सफलीभूत हुए हैं।"

—सकल नारायण पाण्डेय

उक्त ग्रन्थों में हरिऔधजी ने अपनी विलक्षण प्रतिभा का परिचय तो दिया, किन्तु उनकी कीर्ति-कौमुदी तब तक नहीं छिटकी जब तक उनके अपूर्व ग्रन्थ 'प्रिय-प्रवास' का साहित्य क्षेत्र में अवतरण नहीं हो पाया। बाबू मैथिलीशरण गुप्त की 'भारत-भारती' और 'प्रिय-प्रवास' दोनों प्रायः एक ही समय में प्रकाशित हुए। 'सरस्वती' के सिद्ध सम्पादक पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी ने 'भारत-भारती' को युगान्तरकारी काव्य बताया। कुछ तो उनकी समालोचना से प्रभावित होकर और अधिकतर समयानुकूलताजनित अपनी ही आकर्षिणी आन्तरिक शक्ति के कारण 'भारत-भारती' का ऐसा प्रचार हुआ जैसा आधुनिक काल में अन्य किसी पुस्तक का देखने में नहीं आया। 'प्रिय-प्रवास' को द्विवेदी जी ने 'हिन्दी में नयी चीज़' बतलाया और उसके कुछ मार्मिक स्थलों के उद्धरण 'सरस्वती' में दिये। उन्होंने 'प्रिय-प्रवास' के सम्बन्ध में अधिकांश में निरपेक्ष नीति का अवलम्बन किया। 'सरस्वती' के स्तम्भों में अधिक संस्कृत-गर्भित भाषा के विरोध में उन्होंने अनेक बार अपना मत प्रकट किया था। उनकी यह नीति इस मत के सर्वथा अनुकूल थी, यद्यपि 'प्रिय-प्रवास' के कवित्व को ध्यान में रख कर वे अधिक उदार भाव धारण कर सकते थे।

जनता ने 'भारत-भारती' को जिस प्रकार अपनाया उस प्रकार तो 'प्रिय-प्रवास' का स्वागत नहीं किया। परन्तु हिन्दी-काव्य-जगत में 'प्रिय-प्रवास' ने जो अभूतपूर्व क्रान्ति की थी उसकी ओर काव्य-रसिकों का ध्यान गये बिना नहीं रहा। पं० वेङ्कटेश नारायण तिवारी एम० ए० ने 'अभ्युदय' में अग्रलेख लिख कर अपने जो उद्गार प्रगट किये थे वे एक ऐसे व्यक्ति के उद्गार थे जिसने 'प्रिय-प्रवास' में नित्य नूतन रूप में अवतरित होने वाले कलामय सत्य के मनोहर स्वरूप का दर्शन किया था। उन्होंने लिखा था :—

"हम हृदय से प्रिय-प्रवास का साहित्यिक क्षेत्र में स्वागत करते हैं, और उसके रचयिता श्रीयुत अयोध्यासिंह उपाध्याय को अतुकान्त छन्दों में इस महाकाव्य के लिखने में उनकी सफलता के लिए बधाई देते हैं। अतुकान्त छन्दों में कविता रचने का हिन्दी में यह पहला ही प्रबल प्रयत्न है, और हम यह कहने का साहस करते हैं कि तुकान्त काव्य के इतिहास में कवि चन्द बरदाई का जो स्थान है, और हिन्दी गद्य में जो गौरव लल्लू जी लाल को प्राप्त है, वही स्थान और वही गौरव श्रीयुत अयोध्यासिंह उपाध्याय को 'प्रिय-प्रवास' की बदौलत अतुकान्त काव्य की गाथा में उस समय तक दिया जायगा जब तक हिन्दी-साहित्य में नवीनता और सजीवता का आदर है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि हिन्दी-साहित्य में 'प्रिय-प्रवास' ने एक महत्त्वपूर्ण नवीन युग का प्रारम्भ किया है। इसने हिन्दी की सजीवता और सफलता प्रमाणित कर दी, और इसको संसार के जीते-जागते साहित्य की पंक्ति में उच्च स्थान अब मिलेगा।

"छिद्रान्वेषण करने का अपूर्व विशेषण हम 'प्रिय-प्रवास' के [illegible] नहीं [illegible] क्या कि कविता खड़ी बोली में है? [illegible] इसमें [illegible] विशेषताएं मौजूद हैं? भाव की [illegible] इसकी इतनी [illegible] भाषा [illegible] निर्दोष नहीं है, क्योंकि [illegible] है, और यद्यपि हम

उसकी सरसता और अलंकारिक कुशलता का समुचित सत्कार करने के लिए उत्सुक हैं तो भी यह नहीं कहा जा सकता कि भविष्य में कोई कवि उपाध्याय जी की समता नहीं कर सकेगा। ऐसा नहीं है, हमारा तो दृढ़ विश्वास है कि आगे चल कर हमारे साहित्यकारों में से बहुत से ऐसे भी निकलेंगे जो सर्वतोमुखी प्रतिभा और व्योम-चुम्बिनी कल्पना से संसार के श्रेष्ठ कवियों की समता का मौर अपने उज्ज्वल मस्तकों पर बँधवाएँगे। हिन्दी-साहित्य के पूर्ण विकास का द्योतक 'प्रिय-प्रवास' कदापि नहीं। वह तो केवल शताब्दियों की निशीथ-निशा के बाद उन्नतिउषा का दिव्य दूत है; और साहित्य-दृष्टि से इस महा-काव्य का इसी में महत्व है। 'प्रिय-प्रवास' अतुकांत छन्दों में हिन्दी का प्रथम महाकाव्य है। इसका अर्थ यह है कि पुष्य कवि से लेकर उपाध्याय जी के पूर्व तक किसी भी हिन्दी-कवि ने इस विस्तार के साथ अतुकान्त कविता नहीं रची। तुक की नकेल में बँधी हुई हमारी कविता 'कोमल कान्त पदावली' की परिक्रमा करती रही। इस अस्वा-भाविक और हानिकारक दासत्व को तोड़ कर स्वच्छन्द विचरने का पहले पहल साहस उपाध्याय जी ने किया।"

इस सम्बन्ध में प्रसिद्ध विद्वान् श्रीमान् काशीप्रसाद जायसवाल का कथन भी पाठकों के देखने योग्य है :—

"अन्त के अनुप्रास के विना छन्दों में पण्डित अयोध्यासिंह उपा-ध्याय ने इसकी रचना की है। काव्य-विषय श्रीकृष्ण का व्रज से वियोग है। उपाध्याय जी ने, कुछ वर्ष हुए, एक नई शैली की हिन्दी अपने दिल में पैदा की। 'ठेठ हिन्दी का ठाट' और 'अधखिला फूल' इसके उदाहरण हैं। उपाध्याय जी की ठेठ भाषा देखने में इतनी सरल कि उससे और सरल लिखना असम्भव है, लिखने में इतनी कठिन कि दूसरे किसी ने अनुकरण की हिम्मत ही नहीं की।

"वही पण्डित अयोध्यासिंह आज एक बिलकुल दूसरी शैली में, और पद्य में, फिर एक नई चीज़ लेकर सामने आये हैं। आपको साहित्य में नये राज्य स्थापित करने की छोड़ दूसरी बात पसन्द नहीं

जनता ने 'भारत-भारती' को जिस प्रकार अपनाया उस प्रकार तो 'प्रिय-प्रवास' का स्वागत नहीं किया। परन्तु हिन्दी-काव्य-जगत में 'प्रिय-प्रवास' ने जो अभूतपूर्व क्रान्ति की थी उसकी ओर काव्य-रसिकों का ध्यान गये बिना नहीं रहा। पं० वेङ्कटेश नारायण तिवारी एम० ए० ने 'अभ्युदय' में अग्रलेख लिख कर अपने जो उद्गार प्रगट किये थे वे एक ऐसे व्यक्ति के उद्गार थे जिसने 'प्रिय-प्रवास' में नित्य नूतन रूप में अवतरित होने वाले कलामय सत्य के मनोहर स्वरूप का दर्शन किया था। उन्होंने लिखा था :—

"हम हृदय से प्रिय-प्रवास का साहित्यिक क्षेत्र में स्वागत करते हैं, और उसके रचयिता श्रीयुत अयोध्यासिंह उपाध्याय को अतुकान्त छन्दों में इस महाकाव्य के लिखने में उनकी सफलता के लिए बधाई देते हैं। अतुकान्त छन्दों में कविता रचने का हिन्दी में यह पहला ही प्रबल प्रयत्न है, और हम यह कहने का साहस करते हैं कि तुकान्त काव्य के इतिहास में कवि चन्द बरदाई का जो स्थान है, और हिन्दी गद्य में जो गौरव लल्लू जी लाल को प्राप्त है, वही स्थान और वही गौरव श्रीयुत अयोध्यासिंह उपाध्याय को 'प्रिय-प्रवास' की बदौलत अतुकान्त काव्य की गाथा में उस समय तक दिया जायगा जब तक हिन्दी-साहित्य में नवीनता और सजीवता का आदर है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि हिन्दी-साहित्य में 'प्रिय-प्रवास' ने एक महत्त्वपूर्ण नवीन युग का प्रारम्भ किया है। इसने हिन्दी की सजीवता और सबलता प्रमाणित कर दी, और उसको संसार के जीते-जागते साहित्य की श्रेणी में उच्च स्थान अब मिलेगा।

"युग-परिवर्त्तन करने का अपूर्व विशेषण हम 'प्रिय-प्रवास' के साथ क्यों लगाते हैं? इसलिए क्या कि कविता खड़ी बोली में है? अथवा इसलिए कि उसमें काव्योचित विशेषताएँ मौजूद हैं? भाव की गम्भीरता या भाषा की मधुरिमा के लिए क्या हम उसकी इतनी अधिक प्रशंसा कर रहे हैं? उसकी भाषा बिलकुल निर्दोष नहीं है, क्योंकि उसमें शब्दों का बेमेल जोड़ कहीं कहीं खटकता है, और यद्यपि हम

उसकी सरसता और अलंकारिक कुशलता का समुचित सत्कार करने के लिए उत्सुक हैं तो भी यह नहीं कहा जा सकता कि भविष्य में कोई कवि उपाध्याय जी की समता नहीं कर सकेगा। ऐसा नहीं है, हमारा तो दृढ़ विश्वास है कि आगे चल कर हमारे साहित्यकारों में से बहुत से ऐसे भी निकलेंगे जो सर्वतोमुखी प्रतिभा और व्योम-चुम्बिनी कल्पना से संसार के श्रेष्ठ कवियों की समता का मौर अपने उज्ज्वल मस्तकों पर बँधवाएँगे। हिन्दी-साहित्य के पूर्ण विकास का द्योतक 'प्रिय-प्रवास' कदापि नहीं। वह तो केवल शताब्दियों की निशीथ-निशा के बाद उन्नतिउषा का दिव्य दूत है; और साहित्य-दृष्टि से इस महा-काव्य का इसी में महत्व है। 'प्रिय-प्रवास' अतुकांत छन्दों में हिन्दी का प्रथम महाकाव्य है। इसका अर्थ यह है कि पुण्य कवि से लेकर उपाध्याय जी के पूर्व तक किसी भी हिन्दी-कवि ने इस विस्तार के साथ अतुकान्त कविता नहीं रची। तुक की नकेल में बँधी हुई हमारी कविता 'कोमल कान्त पदावली' की परिक्रमा करती रही। इस अस्वा-भाविक और हानिकारक दासत्व को तोड़ कर स्वच्छन्द विचरने का पहले पहल साहस उपाध्याय जी ने किया।"

इस सम्बन्ध में प्रसिद्ध विद्वान् श्रीमान् काशीप्रसाद जायसवाल का कथन भी पाठकों के देखने योग्य है :—

"अन्त के अनुप्रास के बिना छन्दों में पण्डित अयोध्यासिंह उपा-ध्याय ने इसकी रचना की है। काव्य-विषय श्रीकृष्ण का ब्रज से वियोग है। उपाध्याय जी ने, कुछ वर्ष हुए, एक नई शैली की हिन्दी अपने दिल में पैदा की। 'ठेठ हिन्दी का ठाट' और 'अधखिला फूल' इसके उदाहरण हैं। उपाध्याय जी की ठेठ भाषा देखने में इतनी सरल कि उससे और सरल लिखना असम्भव है, लिखने में इतनी कठिन कि दूसरे किसी ने अनुकरण की हिम्मत ही नहीं की।

"वही पण्डित अयोध्यासिंह आज एक बिलकुल दूसरी शैली में, और पद्य में, फिर एक नई चीज़ लेकर सामने आये हैं। आपको साहित्य में नये राज्य स्थापित करने की छोड़ दूसरी बात पसन्द नहीं

आती। काशीनागरीप्रचारिणी सभा का एक उत्सव था, उसमें आप मिरजापुर से जा रहे थे; एक कविता लिखना विचारा; वह कविता जब लिखी गयी, एक नई चीज थी; बरसों तक उसकी चर्चा होती रही। उसका अनूठापन लोगों को घबराता था; पर उस शैली का बहुत अनुकरण हुआ। यह महाकाव्य भी वैसा ही अनूठा है; कविता अतुकान्त होने पर भी सरस है। कहीं-कहीं करुणा रस की नदी सी बहायी गयी है।"

स्व० पण्डित श्रीधर पाठक ने तो 'प्रिय-प्रवास' ही की शैली पर रचे गये पद्यों में अपनी सम्मति प्रकाशित की थी :—

"दिवस के अवसान समे मिला।
'प्रिय-प्रवास' अहो! प्रिय आपका॥
अमित मोद हुआ चख चित्त को।
सरस स्वादुयुता कविता नयी॥
कवि-वरेण्य! अनूपम धन्य है।
सुरुचिरा रचना यह आपकी॥
मधुरिमा मृदु मंजु मनोज्ञता।
सुप्रतिभा छविपुंज प्रभामयी॥
× × × ×
यह अवश्य कवे! तव होयगी।
कृति महाकवि-कीर्ति-प्रदायिनी॥"

श्रीयुत नन्ददुलारे वाजपेयी एम० ए० का हरिऔधजी की कवित्व-शक्ति के सम्बन्ध में निम्नलिखित मत है :—

"हरिश्चन्द्र के बाद हिन्दी के क्षेत्र में जिन दो पुरुषों ने पदार्पण किया है उनके शुभ नाम हैं पंडित अयोध्यासिंह उपाध्याय और बाबू मैथिलीशरण जी गुप्त। इन दोनों का कविता-काल प्रायः एक ही है, दोनों ने हिन्दी की खड़ी बोली की कविता को अपनाया और सफलतापूर्वक काव्य-ग्रन्थों की रचना की। दोनों ही देश-भक्त तथा जाति-भक्त आत्माएँ हैं। पर इतनी समानता होते हुए भी कविता

की दृष्टि से उपाध्याय जी का स्थान गुप्त जी से ऊँचा है। ऐसा मेरा बिचार है। इतना ही नहीं, मैं तो उपाध्याय जी को वर्तमान युग का सर्वश्रेष्ठ कवि मानता हूँ और उनका स्थान कवित्व की दृष्टि से भारतेन्दु हरिश्चन्द्र से भी उत्तम समझता हूँ। मैं उनकी तुलना बँगला के महाकवि मधुसूदन से करता हूँ और सब मिला कर 'मेघनाद-बध' काव्य से 'प्रिय-प्रवास' को कम नहीं मानता। बँगलावाले अपने मन में जो चाहे समझें, पर तुलनात्मक समालोचना की कसौटी में कस कर परखने से पता चलता है कि हमारी हिन्दी—वर्तमान शैली की हिन्दी—में भी ऐसे काव्य-ग्रन्थ हैं, जिनके मुक़ाबले बँगला भाषा बड़ी मुश्किल से ठहर सकती है और कहीं कहीं तो उसको मुँह की खाने तक की नौबत आ जाती है। ऐसे काव्य-ग्रन्थों में 'प्रिय-प्रवास' का उच्च स्थान है, यह प्रत्येक हिन्दी-प्रेमी जानता है।"

× × ×

"कविता में मनुष्य की संगीतप्रियता को भी प्रतिबिम्बित होने का अवसर मिलता है। यह संगीत कविता का बाह्य आवरण है, जिसको धारण कर कविता-कामिनी सहृदयों को प्रहर्षित करने के लिए रंगमंच में प्रवेश करती है। परम्परागत प्रथा के अनुसार हिन्दी में वृत्त ही संगीत कहलाता रहा है—छन्दोबद्ध तुकान्त रचना ही संगीतपूरित कहाती रही है; परन्तु वर्तमान काल के महाकवि श्रद्धेय पं० अयोध्यासिंह जी उपाध्याय ने 'प्रियप्रवास' महाकाव्य में अतुकान्त छन्दों का प्रयोग कर एक नई समस्या हिन्दी-भाषियों के सम्मुख रख दी है। ×

× × ×

× महाकवि के 'प्रिय-प्रवास' का पारायण करने वाले रसिक-समुदाय सर्व-सम्मति से उस ग्रन्थरत्न को संगीतमय मानेंगे, ऐसा मेरा विश्वास है।"

एक सहृदय सज्जन का कहना है :—

"'प्रिय-प्रवास' में अधिकांश ब्रजलीला ऊद्धव के आगमन-पर्यन्त नये ढंग से लिखित है। अनेक असंभव लीलाओं का इस प्रकार

वर्णन किया गया है कि उसको आधुनिक लोग भी कुछ तर्क किये बिना स्वीकार कर सकते हैं। श्रीमती राधिका इस काव्य में विश्व-प्रेमिका और आदर्श-चरित्रा मिलेंगी, उनके हृदय की पवित्रता, उच्चता और आजन्म कौमार-व्रत-पालन में उनकी निरति देख कर आप चकित होंगे। जिस समय विश्व-प्रेम में मग्न होकर वे ऊधव के सम्मुख भक्ति-रहस्य का उद्घाटन करती हैं, वृन्दावन में "सर्वभूत हिते रतः" देखी जाती हैं, उस समय उनको आप स्वर्गीय दिव्यांगना छोड़ और कुछ नहीं कह सकते; जो रासलीला आज तक सर्वसाधारण में विलासिता का प्रचार करती है वह इस ग्रन्थ में आपको पवित्रतामयी मिलेगी और आपमें अद्भुत भाव का संचार करेगी। भगवान श्रीकृष्ण के चरित्र में आप वह महत्ता, पवित्रता, उच्चता, कार्यपटुता और दृढ़ता अवलोकन करेंगे जो वास्तव में आपको उनका अनुरक्त बनायेगी। अश्लीलता का ग्रन्थ में नाम नहीं है। यों तो ग्रन्थ में यथा-स्थान आप-को नवों रसों का वर्णन मिलेगा, किन्तु वात्सल्य, भक्ति और करुणा रस इसमें छलकता मिलेगा।"

इस ग्रन्थ के सम्बन्ध में पं० लोचनप्रसाद पाण्डेय की सम्मति भी दर्शनीय है :—

"महाकाव्य के विषय में कुछ कहना छोटे-मुँह बड़ी बात है। इसकी रचना करके आप 'खड़ी बोली के जनक' के उच्चपद पर आसीन हुए हैं। जिस भाँति बाबू हरिश्चन्द्र 'आधुनिक हिन्दी साहित्य के जनक' कहलाये उसी भाँति खड़ी बोली की कविता के विषय में आपका स्थान है।

'प्रिय-प्रवास' को पढ़ते पढ़ते आँखों से आँसुओं की धारा बहने लगती है। चरित्र-चित्रण की महत्ता, पूर्ण कुशलता, प्राकृतिक दृश्यों एवं ऋतुओं के वर्णन की उत्तमता, कर्तव्य-पालन, स्वजाति और स्वदेश एवं देशोद्धार के लिए जीवन उत्सर्ग करने की दृढ़ता, निर्भीकता, मुक्ता, प्रेम, भक्ति, और योग की उपयोगिता की सुव्याख्यामयी गम्भीरता इस महाकाव्य की महोच्चता की सामग्रियाँ हैं। यह महाकाव्य

अनेक रसों का आवास, विश्व-प्रेम-शिक्षा का विकास, ज्ञान, वैराग्य, भक्ति और प्रेम का प्रकाश, एवं भारतीय वीरता, धीरता, गंभीरता-पूरित, स्वधर्मोद्धार का पथ-प्रदर्शक काव्यामृतोच्छ्वास है।

नयी शैली में जो सरस रचना-भाव लख के,
विरोधी हैं भारी प्रकट उसके वे कर कृपा।
पढ़ें आ हाथों में अनुपम महाकाव्य यह ले।
भ्रमों को स्वीकारें निज निज तजें व्यर्थ हठ को ॥१॥
न भाषाधीना है कवि-कृति-कला की सरसता।
करों में ही भाषा-रस-मधुरिमा योग्य कवि के।
इसे जो है भाई, तुम असत सा बोध करते।
पढ़ो ले हाथों में तव प्रियप्रवासामृतकथा ॥२॥"

लगभग सत्रह-अट्ठारह वर्षों के बाद पं० लोचनप्रसाद पाण्डेय की प्रायः यही सम्मति बाबू सत्यप्रकाश एम० एस-सी० के शब्दों में इस प्रकार व्यक्त हुई है :—

"रीति-मौलिकता में श्रीअयोध्यासिंह जी के समान हिन्दी-साहित्य के इन तीन सौ वर्षों में कोई भी नहीं हुआ है, और इस गुण के कारण ही आपको इतना ऊँचा स्थान प्राप्त हुआ है। इस मौलिकता की आपकी रचनाओं में इतनी छाप है कि आपके सम्बन्ध में कवि की दृष्टि से कुछ भी निश्चय करना कठिन है। 'प्रिय-प्रवास के' उपाध्याय जी में, ऋतु-मुकुर के हरिऔध में अथवा आरम्भकालीन पद्य-संग्रहों के रचयिता में और फिर चौपदों के कवि में कुछ सम्बन्ध है या नहीं, यह कहना कठिन है। हरिऔध जी स्वयं रहस्यवाद या छायावाद के विरोधी हैं। पर आपकी रचनाओं में इन दोनों वादों का भी समुचित समावेश है। आप हृदय-शून्य नहीं हैं; जीवन-रहस्य को उद्घाटित करने में भी आप कुशल हैं। वस्तुतः कवि की वास्तविक भावना के अनुसार आप खड़ी बोली के सब से पहले सच्चे कवि हैं।"

हरिऔध जी रहस्यवाद या छायावाद के विरोधी नहीं। प्रकृत रहस्यवाद का, जिसमें सच्चा कवित्व है; कोई भी विरोध नहीं कर सकता। किन्तु रहस्यवाद की कविता के लिए ईश्वर की सच्ची जिज्ञासा

होनी चाहिए; उसे कोई कल्पना के बल से नहीं, बल्कि त्यागमय जीवन ही के आधार से किसी हद तक हृदयंगम कर सकता है। हमारे आधुनिक हिन्दी-काव्य में रहस्यवाद की मुहर प्राप्त करने के लिए अधिकांश में कृत्रिम उद्योग किया जा रहा है। इसका विरोध किया जाना उचित है। किन्तु हरिऔध जी ने उसका भी विरोध नहीं किया है, जिसका कारण अधिकांश में उनकी सहृदयता तथा प्रकृति की कोमलता ही है। पं० लक्ष्मीधर वाजपेयी का कहना है कि हरिऔध जी जी का स्वभाव मक्खन की तरह मृदुल है; ठीक ही है।

'प्रिय-प्रवास' के अनन्तर हरिऔध जी ने 'वैदेही-वनवास' का उपहार हिन्दी-संसार को समर्पित करने का वादा किया था। खेद है, वह वादा आज तक पूरा नहीं हुआ। फिर भी यह सन्तोष की बात है कि कवि की प्रतिभा निष्क्रिय होकर नहीं बैठी रही। हमें उसके अतल सागर से 'चोखे चौपदे' 'चुभते चौपदे' 'बोलचाल' आदि मूल्यवान रत्नों की उपलब्धि हुई है। हिन्दी के मर्मज्ञ इन रत्नों की बहुमूल्यता का अनुमान नहीं कर सके हैं। इसका प्रधान कारण है इन काव्यों के मूल में निहित संस्कृतिमूलक विभिन्नता का वह विदेशी रंग जो उनके रस-पान के मार्ग में बहुत बड़ा व्यवधान प्रस्तुत करता है। सच बात यह है कि ये ग्रन्थ समय से बहुत पहले लिखे गये हैं। हिन्दी काव्य-रसास्वादन के समय हमारी मनोवृत्तियाँ रुचि-निर्वाचन की जिस शैली की ओर प्रवृत्त होती हैं, उस पर हिन्दू संस्कृति की पूरे तौर पर छाप है। सूर, तुलसी, केशव, विहारी आदि के संस्कृत-गर्भित काव्यों का आनन्द जो हम सरलतापूर्वक ग्रहण कर लेते हैं उसका यही रहस्य है। हरिऔध जी के चौपदों का पूरा रस हृदयंगम करने के लिए यह आवश्यक है कि हम अपनी तबीयत उस ढंग की बनावें जो फ़ारसी शैली में ढले हुए मज़ाक़ और नोक-झोंक का मज़ा हमारे लिए सुलभ कर सकती है। भारतीय राष्ट्रीयता का विकास दिनों-दिन हो रहा है, और यह आशा की जा सकती है कि हमारी ग्राहिणी संस्कृति, निकट भविष्य में, फ़ारसी शैली को आत्मसात कर लेगी। वैसी परिस्थिति

उत्पन्न होने पर हमें इन काव्यों की उपयोगिता और चोखापन अवगत हुए बिना नहीं रहेगा। उचित स्थान पर इन ग्रन्थों की विशेषताओं की ओर मैं पाठक का ध्यान आकर्षित करूँगा। यहाँ इतना ही कथन यथेष्ट है कि साहित्य के क्षेत्र में इनके निर्माण से उस साधु प्रयत्न का श्रीगणेश हुआ है जो हिन्दू और मुसल्मान संस्कृति को परस्पर सन्निकट ला कर भारतीय राष्ट्रीयता के विकास में सहायक होगा।

हरिऔध जी हिन्दी के कलाकार ही नहीं हैं, साहित्याचार्य्य भी हैं। 'प्रिय-प्रवास' और 'बोलचाल', एवं 'रसकलस' में उन्होंने अपने मत के प्रतिपादनार्थ जो लम्बी भूमिकाएँ लिखी हैं, वे उनकी योग्यता और विद्वत्ता प्रकाशित करती हैं। उनकी इसी योग्यता पर मुग्ध होकर हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन ने उनको अपने दिल्ली अधिवेशन का अध्यक्ष निर्वाचित किया था और उसी अवसर पर देश-पूज्य पं० मदनमोहन मालवीय जी ने उन्हें हिन्दू विश्वविद्यालय में हिन्दी के अवैतनिक अध्यापक का पद प्रदान कर अपनी सम्पूर्ण प्रतिभा को नई पीढ़ी के युवकों और युवतियों के चरित्र-निर्म्माण की दिशा में प्रयुक्त करने के लिए वचन-बद्ध कर लिया था। तब से हरिऔध जी अपने इस कार्य्य को विविध-साहित्यिक क्रियाशीलताओं के साथ बड़ी तत्परता और मनोयोगपूर्वक कर रहे हैं।

हिन्दी के साहित्यकारों में पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी, लाला सीताराम बी० ए०, तथा बाबू जगन्नाथप्रसाद 'भानु' को छोड़ कर संभवतः हरिऔध जी सब से अधिक वयो-वृद्ध हैं। एक तो इन सज्जनों की क्रियाशीलता, मौलिक साहित्य-सृजन के क्षेत्र में नहीं के बराबर है, दूसरे एक प्रकार से इनके साहित्यिक जीवन का अन्त हो चुका है। इसके विपरीत हरिऔध जी की लेखनी साहित्य-सिन्धु के भीतर से नये नये रत्नों की खोज में अभी तक लगी है। पत्र-पत्रिकाओं की प्रार्थनाएँ अब भी हरिऔध जी के हृदय में स्थान प्राप्त करतीं और उनसे कुछ न कुछ साहित्यिक सेवा करा ही लेती हैं। नये उत्साही लेखक और कवि अपने ग्रन्थ की भूमिका लिखाने अथवा साहित्य-क्षेत्र में अग्रसर होने के लिए पंथ-प्रदर्शन प्राप्त करने के उद्देश्य से उनके पास

आते ही रहते हैं और हरिऔध जी थके-हारे साहित्य-सेवी की भाँति उनसे छुटकारा पाने की कोशिश नहीं करते, बल्कि उस उत्साह के साथ, जो नवयुवकों में भी लज्जा का संचार कर सकता है, उनका स्वागत करते हैं। कभी कभी हरिऔध जी के पास लोग अधिक कष्टकरी सेवाओं के प्रार्थी होकर भी आते हैं। वृद्धावस्था में लम्बी लम्बी यात्राएं करके देश के विभिन्न भागों में होने वाले साहित्यिक कार्यों की प्रधानता स्वीकार तथा अपने अमूल्य परामर्श और अनुभव का उपयोग हिन्दी-सेविनी संस्थाओं को प्रदान करना इन सेवाओं का एक रूप होता है। अरसठ वर्ष की अवस्था में वृन्दावन, कलकत्ता, झाँसी आदि स्थानों में कवि-सम्मेलनों का सभापतित्व करने जाना हरिऔध जी के लिए कितनी बड़ी तपस्या स्वीकार करना है, इसका अनुमान पाठक सहज ही नहीं कर सकते। हरिऔध जी का दैनिक गृह-जीवन अत्यन्त संयत है। प्रातःकाल से लेकर रात के दस बजे तक वे केवल दो बार भोजन ग्रहण करके अपने नियमों के दास-से होकर कार्य-संलग्नतापूर्वक समय व्यतीत करते हैं। इस नियमानुरक्ति की मात्रा का अनुमान पाठक इसी से कर सकते हैं कि पूर्वाह्न के भोजन में यदि दाल में खटाई पड़ जाय तो दाल को ग्रहण करना उनके लिए असम्भव ही है। संध्या को उनका प्रिय तथा रुचिकर भोजन परावठे और शाक-भाजी है। प्रतिदिन सेर भर गाय का दूध दो बार में ग्रहण करना ही उनका जीवनाधार है। 'प्रिय' और 'रुचिकर' शब्दों के प्रयोग से पाठक स्वाद-विशेष के कारण उसकी ओर हरिऔध जी की रुचि की कल्पना शायद करें। यदि यह बात होती तो मैंने ऊपर जिस 'तपस्या' का संकेत किया है, वह सर्वथा निस्सार हो जाती। बात यह है कि अपने बाल्यकाल ही से चिन्तनीय स्वास्थ्य की रक्षा के निमित्त उन्होंने अपना भोजन थोड़ी सी वस्तुओं तक परिमित कर रखा है। किन्तु जब वे अपने स्नेहियों की प्रार्थनाओं से विवश होकर प्रवास में जाते हैं, तब प्रायः अपने नियमों के पालन में असमर्थ हो जाते हैं, उनकी इस कठिनाई का एक उदाहरण देने का लोभ मैं संवरण नहीं कर

सकता। कई वर्षों पहले उन्हें कलकत्ता में एक कवि-सम्मेलन के सभापति-रूप में जाना पड़ा था। वहाँ आगत कवियों के आदर-सत्कार तथा भोजनादि का जैसा प्रबन्ध था वैसा मैंने कहीं नहीं देखा। फिर सभापति को कोई कष्ट होने पावे भला यह कब संभव था ? किन्तु ऐसे स्थान में भी हरिऔध जी को कष्ट मिले विना नहीं रह सका। बात यह थी कि हरिऔध जी घी लपेटी हुई रोटी नहीं खाते और इसी कारण उन्होंने रसोई बनाने वाले से कहा कि मेरी रोटियों में घी मत लपेटो। परन्तु ठहरा मारवाड़ियों का रसोई-भवन और मारवाड़ी रसोई बनाने वाला ! उसकी समझ ही में नहीं आता था कि शिष्टाचार पर आघात किये विना किसी को रसोई में से वैसी रोटियाँ कैसे दी जा सकती हैं ! मैंने देखा, हरिऔध जी ने कई बार आग्रह किया, परन्तु रसोई के अध्यक्ष ब्राह्मण देवता की दृढ़ता चट्टान की तरह टस से मस न हो सकी, उन्होंने उक्त आग्रहों को अपने लिए अपमानकारक भी समझा हो तो कोई आश्चर्य नहीं !! विवश होकर हरिऔध जी को घी लपेटी हुई रोटियाँ ही खानी पड़ीं !!!

जब सुव्यवस्थापूर्ण स्थानों की यह दशा है तब वहाँ का हाल तो कुछ पूछिए ही मत जहाँ कुप्रबन्ध और अधिकारियों में पारस्परिक कलह का राज्य रहता है। परन्तु इन सब असुविधाओं को जानते हुए भी हरिऔध जी, यदि सर्वथा असमर्थ न हुए तो, अभी तक यह सेवा करते ही रहते हैं।

इस एक उदाहरण से ही संकोच-भार से दबे रहने वाले हरिऔध जी की तपस्या का स्वरूप हृदयंगम किया जा सकता है। किन्तु, यह हरिऔध जी की साधना का केवल बाह्य स्वरूप है। जैसे शरीर की स्वास्थ्य-रक्षा के लिए उन्होंने स्वयं को अनेक नियमों के बन्धन में डाल लिया है, वैसे ही हिन्दी-साहित्य की सेवा के लिए भी उन्होंने अपनी मनोवृत्तियों को दिशा-विशेष ही में प्रेरित किया है। वृद्धावस्था में 'सूर-सागर' के सम्पादन का संकल्प करने वाले स्व० 'रत्नाकर' जी के अथक परिश्रम को मैंने देखा था, किन्तु जो काम २०० या ३०० पृष्ठों में

सरलतापूर्वक निवटाया जा सकता है उसका लगभग १००० पृष्ठों में विस्तार कर डालना हरिऔध जी ही की लेखनी की उमंग का परिणाम हो सकता है—मेरा संकेत हरिऔध जी के 'हिंदी भाषा और साहित्य का विकास, नामक पटना विश्वविद्यालय के लिए लिखे गये व्याख्यान की ओर है, जिसने उनमें यह आशंका भी उत्पन्न कर दी थी कि कहीं बिश्वविद्यालय के अधिकारीगण उस विस्तृत व्याख्यान-माला को प्रकाशित करने के सम्बन्ध में अपनी असमर्थता न प्रगट कर दें! शीत से भयभीत हाथों ने काम करने से इनकार कर दिया था और उनकी सहायता पर दया-द्रवित उनका आकांक्षाशील मन कार्य्य-सिद्धि के लिए अन्य साधनों की खोज कर रहा था। उसी प्रसंग से मुझे कई मास तक उनके सत्संग का सौभाग्य प्राप्त हो गया था। वह था सन् १९३२ ई० का प्रारम्भिक काल, जिसने घोर राजनैतिक दमन-चक्र का उपहार भारतवर्ष को देकर देश भर में गिरफ़्तारियों की धूम मचा दी थी। उन दिनों काशी में हरिऔध जी का जिस बँगले में निवास था उसकी चहारदीवारियाँ प्रायः जेल की दीवालों की तरह ही मेरे और बाह्य जगत् के बीच में व्यवधान प्रस्तुत करती थीं। अन्तर इतना ही था कि जेल की दीवालें अत्यन्त कठोर और क्रूर होती हैं; इसके विपरीत बँगले की दीवालें मुझे केवल कार्य्य-मग्न देखना चाहती थीं। ऐसी परिस्थिति में मैं कभी कभी अपनी स्थिति अ श्रेणी के राज-नैतिक कैदियों की सी कल्पित करके मन ही मन विनोदित हुआ करता था। और मेरा यह जेल-जीवन, यदि पाठक इसे जेल-जीवन कहने दें, हरिऔध जी का प्रतिदिन का जीवन है। उनकी अपूर्व सृजनकारिणी शक्ति, अनूठी प्रतिभा, विचित्र अध्यवसाय और अपार परिश्रम को देख कर उन्हें वर्त्तमान हिंदी साहित्यकारों में सर्वश्रेष्ठ मानना ही पड़ता है।

अपने इस श्रेष्ठ साहित्यकार का हमने क्या आदर किया? इसके उत्तर में, सम्भव है, कहा जाय कि हिन्दीभाषी जनता के हाथों में जिस एक मात्र आदर और गौरवपूर्ण पद को प्रदान करने की शक्ति है, अर्थात् हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन का सभापतित्व, वह तो उसने उन्हें

दिया ही। किन्तु क्या काव्य-रचना और साहित्य-सृजन से दूर रहने वाले पं० विष्णुदत्त शुक्ल, महात्मा गांधी, पं० मदन मोहन मालवीय और बावू पुरुषोत्तम दास टंडन भी उसी पद पर प्रतिष्ठित नहीं हुए ? हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन का वर्त्तमान संगठन जैसा है उसे देखते हुए इसका सभापतित्व किसी भी उच्च कोटि के साहित्यकार की सम्मान-लिप्सा को सारगर्भित नहीं बना सकता। यह और ही बात है कि निम्नलिखित श्लोक के भौंरे की तरह विवश हो कर हमारे प्रतिभाशाली

अलिरयं नलिनी-रस लुब्धकः।
कमलिनी कुल केलि कला रतः॥
विधिवशात्पर देशमुपागतः।
कुटज पुष्प-रसं बहु मन्यते॥

कवि और रचनाकार भी थोड़े ही में सन्तुष्ट हो जाना सीख जायँ। परन्तु हमें यह न भूलना चाहिए कि उनकी यह विवशता हमारे लिए लज्जास्पद है। यह भी कहा जा सकता है कि बड़े बड़े कवि सम्मेलनों का सभापति बना कर क्या काव्य-रसिकों ने हरिऔध जी का यथेष्ट सम्मान नहीं किया ? किन्तु क्या यह सत्य है कि केवल कृती साहित्यकार ही कवि सम्मेलनों के सभापति-पद पर प्रतिष्ठित किये जाते हैं ? क्या हम ऐसे सज्जनों को भी यह पद नहीं प्रदान करते जिन्होंने काव्य-रचना तो दूर रही, हिन्दी में एक साधारण ग्रन्थ की रचना भी नहीं की ? वास्तविक बात यह है कि साहित्यकार का सब से बड़ा सम्मान है उसकी कृति का सम्मान। रचनाकार अपनी रचना ही में अपने व्यक्तित्व को प्रवाहित करता है। इस कारण उसकी रचना का आदर करना स्वयं उसको आनन्द-सागर में निमग्न करना है। अतएव, अपने मूल प्रश्न को अधिक स्पष्ट करके मैं पाठकों से यह पूछता हूँ कि क्या हरिऔध जी की रचनाओं का हमने यथेष्ट आदर किया ?

हिन्दी के ग्रन्थकारों का सम्मान करने के लिए अनेक हिन्दी-सेविनी संस्थाओं ने वार्षिक अथवा त्रयवार्षिक, पुरस्कारों की संयोजना की है।

ये संस्थाएँ हैं हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन, हिन्दुस्तानी एकेडेमी, और काशी नागरीप्रचारिणी सभा। इनकी ओर से हिन्दी संसार के प्रसिद्ध साहित्य-मर्मज्ञ काल-विशेष के भीतर प्रकाशित समस्त ग्रन्थों की परीक्षा करके सर्व्वोत्कृष्ट ग्रन्थ के प्रणेता को पुरस्कार प्रदान करने का आदेश देते हैं। कई वर्षों की बात है, मेरी उपस्थिति में हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के एक माननीय प्रधान मन्त्री ने हिन्दी के एक प्रतिष्ठित प्रकाशक से कहा था कि जिस संस्था में कहिए उस संस्था में प्रयत्न द्वारा व्यक्ति विशेष को पुरस्कार दिला दिया जाय। पता नहीं उनका कहना कहाँ तक सच है, और उक्त संस्थाओं के पुरस्कार-प्रदान-कार्य्य में प्रयत्न, जिसे गोरी बोली में कनवेसिंग (Canvassing) कह सकते हैं, कहाँ तक सफल होता है। जो हो, यह खेद की बात है कि हरिऔध जी के मान्य ग्रन्थ 'प्रिय-प्रवास' और 'बोल-चाल' आदि का उचित मात्रा में आदर इन संस्थाओं की ओर से नहीं हुआ। जिन निर्णायकों ने 'प्रिय-प्रवास' अथवा 'बोल-चाल' पर उचित दृष्टि नहीं दी वे न्याय-पथ पर थे, अथवा उनकी बुद्धि का दीवाला निकल गया था, इसका निर्णय करने के अधिकारी वर्तमान वातावरण से प्रभावित हम लोग नहीं हैं; इस सम्बन्ध में उचित मत का निर्धारण आगे आने वाली पीढ़ियों और कालदेव के द्वारा ही हो सकेगा। मुझे भय है, यहाँ की गयी चर्चा से स्वयं हरिऔध जी संकोच और विरक्ति का अनुभव करेंगे। किन्तु प्रसंग आ जाने पर उचित बात के निवेदन के लिए मैं विवश हुआ। आशा है इसके लिए वे और प्रेमी पाठक मुझे क्षमा करेंगे।

'अजरामरवत् प्राज्ञो विद्यामर्थञ्च चिन्तयेत्' की उक्ति के अनुसार हरिऔध जी की साहित्यसेवा-सम्बन्धी उमंगों का इस वृद्धावस्था में भी अन्त नहीं है। ईश्वर-सम्बन्धी अपनी कल्पना का प्रकाश देने के लिए वे 'स्वर्गीय संगीत' नामक काव्य की रचना कर रहे हैं। 'वैदेही-वनवास' नामक अपने पूर्व संकल्पित महाकाव्य को भी वे शीघ्र ही लिख डालना चाहते हैं। ईश्वर करे, वे हमारे बीच अभी बहुत समय तक रह कर अनेक लोकोपकारिणी कृतियाँ सम्पूर्ण करें और हिन्दी

साहित्य को सम्पन्न बनावें। तथापि यह तो निर्विवाद है कि उनके व्यक्तित्व का विकास दिशा-विशेष में सम्पन्न हो चुका, उनका अधिकांश साहित्यिक कार्य्य पूरा हो गया और अब उनके सम्बन्ध में हम लोग एक निश्चित मत की धारणा कर सकते हैं।

इस ग्रन्थ का उद्देश्य हरिऔध की जीवनी प्रस्तुत करना है। किन्तु एक कवि की जीवनी ही क्या, यदि वह उसके काव्य-विकास के स्वरूप और रहस्यों को उद्घाटित न करे। विशेप रूप से हरिऔध जी की जीवनचर्य्या तो इतनी शान्तिपूर्ण रही है, कि वाह्य जगत् में उनके जीवन-चरित की सामग्री ढूँढ़ना निरर्थक प्रयास होगा। इसलिए मैं उनकी इस जीवनी को उनकी कला के सौन्दर्य्य ही को निरूपित करने का साधन बनाऊँगा। वास्तव में मैं हरिऔध जी के उस स्वरूप की ओर आकर्षित भी नहीं हूँ जिसमें वे सांसारिक मनुष्य की तरह एक कुटुम्ब के पालन-पोषण में निरत दिखायी पड़ते हैं। मुझे और मेरे साथ अन्य लोगों को तो उनके जीवन के उस अंग से प्रयोजन है, जिसमें वे चिरन्तन मानव के सर्वभौम और सर्वकालीन भावों की कलात्मक अभिव्यक्ति करने में सफल होते हैं। जिस मात्रा में उन्होंने इस दिशा में कृतकार्य्यता प्राप्त की है उसी मात्रा में उनकी वैभव-शालिता और महत्ता आँकी जा सकेगी।

यहाँ स्वभावतः यह प्रश्न उठता है कि हरिऔध जी के काव्य-विकास की मीमांसा करने में क्या मैं समालोचक के पद पर भी आसीन हो सकूँगा। क्या जीवनी-लेखक की सहानुभूति का उचित से अधिक मात्रा में क्षेत्र-विस्तार पक्षपात के वर्जित प्रदेश में प्रवेश करने का प्रलोभन उसके सामने न लावेगा? मुझे हरिऔध जी का वास्तविक चित्र पाठकों के सम्मुख रखना है। मैंने उन्हें उनकी कृतियों में जिस रूप में देखा है उसे उनके दैनिक जीवन से मिलनेवाले प्रकाश की सहायता से हृदयंगम करके मैं पाठकों के अवलोकनार्थ प्रस्तुत करूँगा। मैं यह अच्छी तरह जानता हूँ कि जब काव्य के क्षेत्र में भी अतिश-योक्तियों का मूल्य घटता जा रहा है, तब समालोचना के मैदान में

वह केवल उपहास की सामग्री ही हो सकती है। फिर भी सम्भव है, लेखक की असावधानता के काल में वे यदाकदा आक्रमण कर बैठें।

समालोचक में तीन गुणों का होना अनिवार्य्यतः आवश्यक है। वे हैं—(१) सहानुभूति, (२) सत्यान्वेषण-तत्परता, (३) न्यायपूर्ण निर्णय-बुद्धि। सहानुभूति के विना समालोचक को लेखक की उन प्रवृत्तियों को समझना कठिन हो जाता है जो उसी रचना का पथ और स्वरूप निर्धारित करती हैं। सत्यान्वेषण-तत्परता के अभाव में तो समालोचक का सम्पूर्ण श्रम व्यर्थ और निस्सार हो जाता है। इन दोनों के साथ न्यायपूर्ण निर्णय बुद्धि भी नितान्त आवश्यक है। समालोचक अपने लेखक को प्रकाश में लाने, उसे अग्रसर करने की चेष्टा करे, किन्तु ऐसा करने में वह अन्य साहित्यकारों के उचित अधिकार-क्षेत्र के भीतर हस्तक्षेप न करे। इस सम्पूर्ण ग्रन्थ का अवलोकन करने के बाद ही पाठक यह निर्णय कर सकेंगे कि इसके लेखक में ये तीनों गुण कितनी मात्रा में विद्यमान हैं; उसकी सफलता अथवा असफलता का अनुमान भी वे तभी लगा सकेंगे। मैं यह अवश्य कहूँगा कि कवि के जीवन-काल ही में उसकी कृतियों के विषय में कोई निर्णय अन्तिम नहीं हो सकता। वास्तव में किसी निर्णय पर पहुँचना मेरा लक्ष्य उतनी मात्रा में नहीं है, जितनी मात्रा में इस कार्य्य में सहायक कुछ सामग्री प्रस्तुत कर देना है। इसीलिए हरिऔध के ग्रन्थों के गुण-दोष की विवेचना करते समय भी मेरा प्रधान उद्देश्य उन प्रवृत्तियों का अध्ययन ही रहेगा जिन्होंने हरिऔध के विचारों और भावों की अभिव्यक्ति की शैली को निर्धारित किया है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि समालोचना से मैंने उतना ही काम लिया है जितना कवि के व्यक्तित्व-विकास की विवेचना में अनिवार्य्यतः आवश्यक है।

हरिऔध के स्वभाव की विशेषताएँ

हरिऔध जी गेहुँए रंग के दुबले-पतले आदमी हैं। बहुत समय से अर्श रोग से पीड़ित होने के कारण उनके चेहरे पर अब कुछ चिन्ता का सा भाव प्रायः विद्यमान रहता है। सबेरे से शाम तक आप कभी उनसे मिलने जायँगे उन्हें प्रायः कमीज और वास्कट पहने हुए काम करते ही पावेंगे। उनकी दाढ़ी और सिर के बड़े बड़े बाल उनके उस वंश-परम्परा के अवशिष्ट चिन्ह हैं, जिसके कारण चिरकाल से उनके वंश की ज्येष्ट संतान सर्व केशी होती आयी है।

काशी-विश्वविद्यालय में, जहाँ हरिऔध जी हिन्दी-विभाग में अध्यापक के पद पर काम करते हैं, तथा अन्य सार्वजनिक स्थानों में आप उन्हें उज्ज्वल पगड़ी धारण किये, शेरवानी, पाजामा, अँगरेजी शू और मोजा पहने हुए पावेंगे। उनकी पगड़ी रंग में तो श्रद्धेय पं० मदनमोहन मालवीय जी की प्रसिद्ध पगड़ी से मिलती है, किन्तु उसे बाँधने के ढंग में भिन्नता है। कभी कभी वे गले में दुपट्टा भी डाल लेते हैं। हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन का तथा अनेक कवि-सम्मेलनों का सभापतित्व-कार्य उन्होंने इसी पोशाक में किया है। वे खद्दर तो नहीं पहनते, लेकिन विलायती कपड़े भी काम में नहीं लाते। कवि-हृदय होने के कारण उन्हें नफ़ीस स्वदेशी कपड़े अधिक पसन्द हैं। इस विषय में वे महाकवि रवीन्द्र नाथ टैगोर का अनुसरण करते हैं।

हरिऔध जी बड़े मिलनसार हैं। छोटे से छोटा व्यक्ति भी उनसे सरलता के साथ मिल सकता है, क्योंकि वे छोटे-बड़े सभी का आदर करते हैं। किसी हिन्दी-हितैषी के मिल जाने पर तो वे ऐसे प्रसन्न होते हैं जैसे कोई स्वजन या सगा मिल गया हो। अपनी शक्ति भर वे सभी की सहायता करते हैं और करना चाहते हैं। युवकों को हिन्दी-सेवा के लिए उत्साहित करना तो उनकी बातचीत का एक विशेष अंग रहा है। कभी कभी नीरस तुकबन्दियाँ लेकर लोग उनकी सेवा में उपस्थित होते

और घंटों उनसे माथा-पच्ची कराते हैं। आठ दस वर्षों की बात है, प्रयाग के जैन होस्टल की ओर से एक कवि-सम्मेलन हुआ था, जिसके सभापति हरिऔध जी थे। इसमें एक ऐसे सज्जन ने भी कविता पढ़ी थी जो अपने काव्य-संग्रह को उन दिनों महाकवि रवीन्द्र की 'गीताञ्जलि' से टक्कर लेने वाला कहते फिरते थे। अपने ग्रन्थ के सम्बन्ध में उन्हें बहुत ही अधिक भ्रम था और यही भ्रम कवि-सम्मेलन के कई दिनों पहले से ही विद्यार्थियों के विनोद का कारण बन रहा था। उन्होंने हिन्दी में अनेक नवीन मुहावरों की सृष्टि की थी और उनका प्रयोग भी अपने काव्य में किया था। इस समय मुझे उनका एक ही मुहावरा याद आ रहा है—"लालटेन हो जाना"। इसका अर्थ वे 'क्रुद्ध होना' बतलाते थे। उदाहरण के लिए, आप इतनी जल्दी लालटेन क्यों हो गये ? अस्तु! जब कवि-सम्मेलन में उन्होंने अपनी विचित्र कविता पढ़ी, जिसमें कहीं स्वादिष्ट पेड़ों की चर्चा थी तो कहीं मक्कार मच्छड़ों की, और कहीं लालटेन हो जाने की, तो उपस्थित जनता ने क़हक़ह लगाने शुरू कर दिये। इस क़हक़ह के समुद्र में उनका उत्साह डूब गया। दूसरे दिन वे हरिऔध जी से मिलने आये। उस समय हरिऔध जी ने उन्हें जिस प्रकार प्रोत्साहन दिया और उनकी जैसी प्रशंसा की उससे सब लोगों पर बड़ा प्रभाव पड़ा। उस समय तत्कालीन सरस्वती-सम्पादक बाबू पदुमलाल बख्शी बी० ए० भी वहाँ मौजूद थे; वे भी हरिऔध जी की इस उदार सहृदयतामयी प्रकृति से बहुत प्रभावित हुए।

हरिऔध जी से मिलने का सब से अच्छा समय संध्या का है। यों तो मिलने वाले सवेरे और दोपहर को भी उनसे मिलने के लिए आया ही करते हैं, किन्तु उससे उनके कार्य्य में व्याघात अवश्य होता है; यद्यपि संकोचवश वे कहते कुछ नहीं। संकोची तो वे इतने बड़े हैं कि किसी की प्रार्थना को स्पष्टरूप से अस्वीकार नहीं कर सकते। एक बार जाड़े के दिनों में एक सज्जन ने एक सुदूर नगर में कवि-सम्मेलन का सभापतित्व स्वीकार करने की प्रार्थना की। हरिऔध जी शारीरिक स्वास्थ्य की दृष्टि से यह प्रार्थना स्वीकार करने में सर्वथा असमर्थ थे,

किन्तु यह सोच कर कि ये बेचारे निराश हो जायँगे, साफ़ साफ़ इनकार करना भी उनके लिए असम्भव हो रहा था। अन्त में उस समय तो आये हुए सज्जन यही समझ कर गये कि हरिऔध जी चल सकेंगे। किन्तु बाद को तार-द्वारा हरिऔध जी को यह सूचना भेजनी पड़ी कि आने में अनेक कठिनाइयाँ हैं! अस्तु। मैं यह कह रहा था कि संध्या-समय उन्हें पूर्ण अवकाश रहता है। सच बात तो यह है कि उस समय उन्हें भी मिलने वालों की आवश्यकता का अनुभव होता है और बातचीत के लिए कोई नहीं मिलता तो उनको बेचैनी होती है। अधिकतर हिन्दी-साहित्य से सम्बन्ध रखने वाले विषयों और व्यक्तियों तक ही वे अपनी बातचीत को परिमित रखते हैं। यदि बातचीत की परिधि कुछ बढ़ी और मिलने वाले सज्जन अधिकांश में उनके मत के अनुकूल हुए तो सम्भव है बौद्ध धर्म की भी कुछ चर्चा छिड़ जाय। वे आर्य संस्कृति के समर्थक हैं और बौद्धधर्म की अनेक बातों से असहमत हैं। उनका अहिंसा में विश्वास नहीं है; कम से कम उसकी व्यवहारिकता तो उन्हें अंगीकार नहीं। उनका मत है कि अहिंसा ने भूतकाल में भारत का अहित किया है और वे डरते हैं कि कहीं भविष्य में भी वह घातक न सिद्ध हो। ऐसी दशा में उन्हें तब संतोष होता है जब कोई उनसे कह दे कि भारतवर्ष में बौद्ध धर्म के उदय की अब कोई संभावना नहीं है। शायद यही आश्वासन पाने की आशा में वे यह चर्चा छेड़ते भी हैं। मुझसे हरिऔध जी ने एक बार नहीं, अनेक बार यह चर्चा चलायी है। संयोग से मेरा यह मत है कि देश की वर्तमान परिस्थिति में, जब कि जाति-गत-वैमनस्य इतनी वृद्धि पर है, बौद्ध धर्म के पनपने के लिए उपयुक्त अवसर नहीं। हरिऔध जी मेरा उत्तर सुनकर चुप रह जाते हैं।

बातचीत का एक और विषय हरिऔध जी को बहुत प्रिय है। उसकी तह में रसिकता, वेदना, रोष, निराशा, व्यंग आदि सब कुछ है। वह है अंगरेजी पढ़ी-लिखी लड़कियों का प्रायः विवाह करने से इनकार कर देना। गुरुजन की हैसियत से उन्हें लड़कियों के ऐसे निश्चय से—जो उनके जीवन को कठोर परीक्षा-स्थल और इसी कारण संकटमय तो

अवश्य ही बना देता है—पीड़ा होती है और उनके हृदय में करुणा का संचार होता है। वर्त्तमान प्रवाह की प्रबलता देखकर वे इस स्थिति में संशोधन की सम्भावना भी नहीं समझते और तब कविता के राज्य में उतर कर वेदना प्रगट करने की प्रवृत्ति दिखलाते हैं। इस सामाजिक प्रश्न पर हरिऔध जी को मैंने अनेक बार बातें करते देखा है। उनकी निम्नलिखित पंक्तियों में भी उनके ये ही भाव व्यक्त हुए हैं :—

प्रेम का वह अनुपम उद्यान।
जहाँ थे भाव कुसुम कमनीय।
सुरभि थी जिसकी भुवन विभूत।
मंजुता भव जन अनुभवनीय ॥१॥

हो रहा है वह क्यों छवि हीन।
छिना क्यों उसका सरस विकास।
बना क्यों अमनोरंजन हेतु।
विमोहक उसका विविध विलास ॥२॥

रहा जो मानस शुचिता धाम।
रहे बहते जिसमें रस सोत।
मिले जिसमें मोती अनमोल।
भर रहे हैं क्यों उसमें पोत ॥३॥

वचन जो करते बहुत विमुग्ध।
सुधा रस का था जिसमें वास।
मिल रहा है क्यों उसमें नित्य।
अवांछित असरसता आभास ॥४॥

सरलता मृदुता मंजुल वेलि।
हृदय रंजन था जिसका रंग।
बन रही हैं किस लिए अकान्त।
मंजु मन मधु ऋतु का तज संग ॥५॥

हो गई गरल वलित क्यों आज।
सुधा सिंचित सुन्दर अनुरक्ति।
बनी क्यों कुसुम समान कठोर।
कुसुम जैसी कोमलतम शक्ति ॥६॥

हरिऔध जी ने अपनी आत्म-जीवनी में लिखा है—"घनपटल का वर्ण-वैचित्र्य, शस्य-श्यामला धरित्री, पावस की प्रमोदमयी सुषमा, विविध विटपावली, कोकिल का कलरव, पक्षि-कुल का कल निनाद, शरदृतु की शोभा, दिशाओं की समुज्ज्वलता, ऋतु-परिवर्त्तन-जनित प्रवाह, अनन्त प्राकृतिक सौन्दर्य्य, नाना प्रकार के चित्र, विविध वाद्य, मधुर गान, ज्योत्स्ना-रंजित यामिनी, तारक-मंडित नील नभोमण्डल, सुचित्रित विहंगावली, पूर्णिमा का अखिल कलापूर्ण कलाधर, मनोमुग्धकर दृश्यावली, सुसज्जित रम्य उद्यान, ललित लतिका, मनोरम पुष्प-चय मेरे आनन्द की अत्यन्त प्रिय सामग्री हैं। किन्तु पावस की सरस छवि, वसन्त की विचित्र शोभा, कोकिल का कुहूरव और किसी कल कंठ का मधुरगान, वह भी भावमयी कविता-वलित, मुझको उन्मत्त-प्राय कर देते हैं।"

उक्त अवतरण से पाठक सहज ही समझ सकते हैं कि प्राकृतिक परिस्थिति-सम्बन्धी चर्चा का भी उनके दैनिक जीवन में एक विशेष स्थान हुए विना नहीं रह सकता। साधारण मिलने वाले को यह भ्रम भले ही हो कि उनके हृदय में बाह्य जगत् के प्रति उदासीनता है और उनका जीवन एक यन्त्र का जीवन है—क्योंकि, कार्य्य करने में निस्सन्देह वे यन्त्रवत् ही हैं, इतनी अधिक अवस्था में, इतनी तत्परता से काम करना सब के लिए सम्भव नहीं—किन्तु उनके साथ अधिक सम्पर्क का सौभाग्य प्राप्त होने पर यह भ्रम मिटे विना नहीं रहता। सावन या भादों की वृष्टि का जब तार नहीं टूटता, तब आकाश में घिरती आने वाली बादलों की काली काली लड़ी देखकर उन्हें कितनी घबराहट होती है, इसका परिचय तो तभी हो सकता है जब हम उसी स्थिति में उनसे मिलें। एक बार ऐसी ही अवस्था में उन्होंने मुझसे कहा कि ऋतु के ऐसे प्रकोप के कारण मेरी तबीयत ख़राब हो जाती है। इस प्रकोप-काल में दिन की तो बात ही जाने दीजिए, रात को भी यदि वे सोये न होंगे तो, अवश्य ही यह जानने की कोशिश करेंगे कि आकाश में दो एक तारे निकले या नहीं। इन दिनों वे कमरे के भीतर

सोते हैं, इसलिए वहाँ से उन्हें इस बात का पता लगाने में असुविधा होती है। इस कारण यदि वे जगते रहे तो जो लोग बरामदे में सोते हैं, वे उनके स्वभाव की इस विशेषता से परिचित होने के कारण आकाश में एक तारे के निकलने पर भी उनको इसकी सूचना दिये बिना नहीं रहते, क्योंकि वे जानते हैं कि यह साधारण समाचार देकर वे उन्हें कितना प्रसन्न बना सकेंगे। इसी प्रकार यदि उचित काल में वृष्टि नहीं होती तो बादलों को देखने के लिए भी वे उतने ही आतुर हो जाते हैं। उस समय यदि बादलों का एक छोटा दल आया और उसे हवा ने उड़ा दिया तो उनकी निराशा का पार नहीं रहता, मानों किसी किसान की खेती टीड़ियों ने चुन ली हो। फिर तो उनके उद्गार भाषा में व्यक्त होकर ऋतु की इस विषमता पर, जिस पर मनुष्य का कोई वश नहीं, आगन्तुक का ध्यान आकर्षित किये बिना नहीं रहेंगे; उनके प्रभाव-ग्रहणशील हृदय का परिचय इस प्रकार अनायास ही मिलता रहता है।

हरिऔधजी जैसे ही मिलनसार हैं वैसे ही आतिथ्य-सत्कार के संबंध में बहुत सतर्क रहने वाले हैं। इस भय से कि अतिथि को किसी प्रकार का कष्ट न हो जाय वे उसकी सुविधा की समस्त वस्तुओं से जानकारी प्राप्त कर लेते हैं। फिर तो अतिथि के चारों ओर उनके इतने गुप्तचर तैनात रहते हैं कि वह किसी संकोचवश झूठ बोल कर भूखा नहीं रह सकता। कभी कभी तो अतिथि को उनकी इतनी निगरानी से वास्तव में क्लेश होने लगता है, क्योंकि उसकी छोटी से छोटी बात का पता भी हरिऔधजी को बराबर मिलता रहता है; इस व्यवस्था से बेचारे अतिथि को जान पड़ने लगता है, जैसे किसी राज्य के राजबन्दी हो गये हों।

इस जीवनी के सम्बन्ध में एक बार मैंने हरिऔध जी के छोटे भाई पं० गुरुसेवक उपाध्याय से चर्चा की और कहा कि मुझे कुछ सहायक सामग्री दें या उपयोगी बातें बतलावें। उन्होंने उस समय मुझ से कहा कि हरिऔध जी के स्वभाव में दो बातें विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। उनमें से एक तो यह कि वे संदेह बहुत शीघ्र ही करने लगते हैं और

ारी यह कि उनमें कविजनोचित रसिकता का कुछ अंश देखा जाता
। संदेह की उपयोगिता बताते हुए उन्होंने कहा कि सरकारी नौकरी
' इसने उनकी बड़ी सेवा की है, क्योंकि इसके कारण वे अपना काम
ावश्यकता और उचित समय के पहले ही बिलकुल ठीक रखते थे।
ासन्देह करेले की बेल का नीम पर चढ़ना ठीक नहीं; कवि का
रकारी नौकरी में निश्चिन्त होकर मौज करना अहितकर हो सकता
। प्रकृति ने ही हरिऔध जी को रुचिकर और सुन्दर वस्तुओं का
मेक बना दिया है: ऐसी अवस्था में क़ानूनगोई के झंझटों में यदि
ह रस न मिल सके जो गुलाब के फूल पर भौंरों को गूँजते हुए देखने
उन्हें प्राप्त होता है, तो यह स्वाभाविक ही है; सच बात तो यह है
ि यदि उनके स्वभाव में सन्देह की प्रधानता न होती तो वे अपने
ाव्य-लोलुप मन को अंकुश देकर नियंत्रित कर सकते और न अपने
व पदाधिकारियों को संतुष्ट रखते हुए निर्विघ्न रूप से पैंतीस वर्ष तक
करी निभा पाते। संदेह ने अवसर उपस्थित होते ही उनकी सम्पूर्ण
क्तियों को संगठित तथा अन्य विषयों से उनका पूरा ध्यान निवृत्त कर
ावश्यकता की पूर्ति में उन्हें सदा संलग्न-चित्त बनाये रक्खा है।

परन्तु जहाँ हरिऔध जी के सन्देहशील स्वभाव ने उनकी रक्षा
ी है, वहाँ यह भी स्वीकार करना पड़ेगा कि इसने उनकी मानसिक
क्तियों का बहुत अपव्यय भी किया है। अपने अभीष्ट के पथ में थोड़ा
ा व्यवधान पड़ते ही किसी के सदुद्देश्यों के प्रति शंकालु हो जाने में
पनी ही हानि अधिक होती है। इसका कारण है। उचित सन्देह
ीमाबद्ध रह कर हमारी विचार-शक्ति को उत्तेजित करता और
मारे शरीर और मन की शान्ति-रक्षा में सयत्न होता है। वह उस
्ूर्ति का प्रतिनिधि है जो जगत् के प्रति हमारे सम्बन्ध को अधिक
संगठित, स्वाभाविक, सत्य, और कल्याणकारी बनाने में सचेष्ट होती
। और अपनी इस इष्ट-सिद्धि ही में अपने जीवन की तृप्ति का अनुभव
रती है। सत्य, सौन्दर्य्य और धर्म्म के क्षेत्र में प्रवेश करके यह स्फूर्ति
नव व्यक्तित्व का विस्तार करती और उसे शान्ति, तथा जीवन के

गोरखधंधों से मुक्ति दिलाती है। किन्तु जब इसका उपयोग वहाँ किया जाता है, जहाँ व्यक्तियों की अपनी अपनी डफली बजती और अपना अपना राग अलापा जाता है तब त्याग, संतोष आदि भावों से विच्छिन्न-सम्बन्ध हो कर यह रचनात्मक होने के स्थान में संहारात्मक हो जाती है। हरिऔध जी की सन्देह-शक्ति का एक अंश कुछ इसी पथ का पथिक जान पड़ता है। मैंने प्रायः उन्हें मिथ्या सन्देहों के चक्कर में पड़ कर व्यथित होते पाया है। फिर भी सांसारिक जीवन का संघर्षमय वातावरण कवि के लिए उतना ही कष्टकर और जीवन-शक्ति-शोषक है जितना मछली के लिए तप्त बालुका—यह सोचकर हमें आनन्द-पीयूष का पान कराने वाले कवि की, जो हमारे दुर्भाग्य से आत्म-रक्षा-निरत होकर ऐसी परिस्थितियों में पड़ता है, इस न्यूनता की ओर हमें ध्यान न देना चाहिए। इसके अतिरिक्त यह उनकी संयमशीलता भी हो सकती है।

बाबू जगन्नाथ दास रत्नाकर बी० ए० के स्वर्गवास के लगभग दो मास पहले मुझे उनसे मिलने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था। उनकी सरलता और स्पष्टोक्ति उनके नवयुवक प्रेमियों के सम्मुख भी उनकी रसिकता-पूर्ण प्रकृति का सच्चा रूप प्रस्तुत कर देती थी। नारी-लावण्य के प्रति अत्यन्त अनुराग उनके व्यक्तित्व की एक बहुत बड़ी विशेषता थी; आध घंटे भी यदि आपने उनके पास बैठ लिया है तो इस विशेषता की अमिट छाप को अपने हृदय पर अंकित होने देकर ही आप उठ सके होंगे। हरिऔध जी की रसिकता रत्नाकर जी की रसिकता से किसी अंश में कम नहीं है। किन्तु हरिऔध जी में जहाँ रसिकता है वहाँ जाति और देश-हितैषणा आदि भावों की प्रचुरता भी है। इसलिए जितनी जल्दी आप रत्नाकर जी के भावों को ताड़ सके होंगे उतनी जल्दी हरिऔध जी की मनोवृत्ति को हृदयंगम नहीं कर सकते। स्वयं मुझे हरिऔध जी की इस प्रवृत्ति का अध्ययन करने में काफ़ी समय लगा है। और, अब मुझे ऐसा जान पड़ता है कि उनके हृदय पर कोई सौन्दर्य्य उतना ही प्रभाव डाल सकता है जितना अन्य किसी कवि के हृदय पर।

गत वर्ष की गर्मियों में कुछ कार्य-वश मुझे आजमगढ़ में दो मास ठहरने का अवसर मिला। शहर की जिस गली में वे अपने बहनोई स्वर्गीय पं० जगन्नाथ तिवारी के मकान पर रहा करते हैं, उसमें उन दिनों आम और जामुन बेचनेवालों का आना जाना लगा ही रहता था—बेचनेवालों के स्थान में पाठक बेचनेवालियाँ समझें तो और अच्छा हो, क्योंकि अधिकांश में स्त्रियाँ ही आया करती थीं। एक दिन एक आवाज—शायद 'बहारदार जामुन, या कुछ ऐसी ही—कानों में पड़ी, जिसमें से मधुर कण्ठ का माधुर्य्य भरे हुए प्याले में से शराब की तरह छलका पड़ता था। इस आवाज ने हरिऔध जी का ध्यान आकर्षित कर लिया और वे उसको सुनकर मुग्ध हो गये। परन्तु इस मुग्धता में न तो चित्त का चांचल्य था, न कोई दुर्वासना, केवल कण्ठ-जनित विमुग्धता थी, जिससे उनकी सहज सौन्दर्य्य-प्रियता का परिचय मिल जाता है। यह नवीन परिचय पं० गुरु सेवक के कथन के साथ सुसंगत हो गया और मेरे एक कौतूहल की तृप्ति हो गयी।

माधुर्य्य कहीं भी हो, हरिऔध जी को वह बहुत प्रिय है। शरीर का माधुर्य्य, विचित्र मानसिक परिस्थितियों का माधुर्य्य, काव्य का माधुर्य्य उनके हृदय को विमुग्ध और सरस कर देते हैं। उनके वयोवृद्ध होने पर भी इस विशेषता में तनिक भी अन्तर नहीं पड़ा है। वास्तव में इतने वय के साथ हृदय की इतनी तरुणता, जीवन के प्रति अत्यन्त आशापूर्ण भाव ही नहीं, उसके कटोरे में भरा हुआ सम्पूर्ण पीयूष पान करने की उत्कण्ठा के साथ साथ उसके लिए, यदि आवश्यक हो तो, कष्ट-सहन करने की इतनी इच्छुकता, मैंने हिन्दी के किसी वर्त्तमान साहित्यकार में नहीं पायी। मेरे मित्र ठाकुर श्रीनाथसिंह ने स्व० कविवर रत्नाकर की तुलना प्रसिद्ध कवि उमर ख़ैयाम से की है। लेकिन हरिऔध जी की सफ़ेद दाढ़ी और पगड़ी के साथ साथ उनके अनुराग-रंजित हृदय का स्मरण करके मैं उन्हें न जाने कितने समय से उमर ख़ैयाम ही का आधुनिक हिन्दी अवतार मानता आ रहा हूँ।

हरिऔध जी को संगीत का बहुत अधिक अनुराग है। संगीत के

रसास्वादन के लिए यदि वेश्या का नृत्य भी देखने के लिए जाना पड़े तो उन्हें कोई आपत्ति नहीं। वृद्धावस्था में भी उनकी यह कला-रसिकता अवसर उपस्थित होने पर अपना सरस रूप प्रकट करती है। काशी में जब एक बार मैं उनके यहाँ ठहरा था तब घड़ी भर रात बीतने पर एक देहाती मधुर स्वर में बिरहा गाता हुआ चला जाया करता था। उसके गाने की आवाज़ बँगले की चहारदीवारियों का अतिक्रमण करके हरिऔध जी के हृदय पर आक्रमण कर देती थी। प्रतिदिन प्रायः उसी समय वह देहाती गाता हुआ निकल जाता और हरिऔध जी उस गान का रसपान करके विमुग्ध हो जाते थे। उस समय की उनकी विचित्र दशा का वर्णन करना असम्भव है; उसका स्मरण आज भी मेरे शरीर को आनन्द से पुलकित कर देता है।

हरिऔध जी को समाचार-पत्रों और समाचारों का भी बड़ा शौक़ है। काशी के 'आज' के वे बँधे हुए पाठक हैं। पाठक भी ऐसे वैसे नहीं, विज्ञापनों से लेकर अन्तिम पृष्ठ पर मुद्रित प्रेस की प्रिंट लाइन तक को पढ़ डालने वाले। इस संबंध में उनकी उत्सुकता और रुचि देखकर अनुमान होता है कि 'आज' के पृष्ठ उनकी तृप्ति करने में असमर्थ रहते हैं। इसकी यथार्थता का एक सबल प्रमाण यह है कि वे 'लीडर' आदि पत्रों के समाचारों के लिए भी उत्कंठित रहते हैं। 'आज' का पूर्ण पारायण करने के अनन्तर साधारणतया यही सोचा जायगा कि वे अन्य पत्रों को यत्र-तत्र पढ़कर तथा उनके समाचारों को जहाँ-तहाँ देखकर ही छोड़ देंगे। किन्तु बात ऐसी नहीं है। उन्हें 'लीडर' के वे पृष्ठ स्मरण रहते हैं, जिनमें महत्त्वपूर्ण समाचार प्रकाशित रहा करते हैं, और उन पृष्ठों के संबंध में पूर्ण समाधान होने के अनन्तर ही वे यह स्वीकार करेंगे कि ज्ञातव्य समाचार कितने हैं। इस विषय में उनकी सतर्कता इतनी बढ़ी हुई है कि एक व्यक्ति से सम्पूर्ण समाचारों का पता पा जाने पर भी वे दूसरे से प्रायः अजान बनकर उन्हें पूछते हैं। यदि उसने अपने उत्तर देने में सावधानी से काम नहीं लिया तो सहज ही यह सिद्ध हो जाता है कि उसने ध्यान देकर समाचार-पत्र को नहीं

पढ़ा। एक वार 'लीडर' के समाचारों को पढ़कर मैंने उसे अलग रख दिया। मेरी अनुपस्थिति में हरिऔध जी ने उसे किसी से पढ़वाकर सुन लिया। इस प्रकार 'लीडर' के सम्पूर्ण समाचारों से अभिज्ञ होकर भी उन्होंने मुझसे भी पूछा—लीडर में कोई विशेष समाचार है? संयोग से उस दिन के 'लीडर' में प्रकाशित समाचार मेरी दृष्टि में महत्व-शून्य थे। मैंने उत्तर दिया—आज तो कोई ख़ास बात नहीं है। तुरन्त ही हरिऔध जी ने एक समाचार की चर्चा करके कहा—जान पड़ता है, आपने पत्र को अच्छी तरह नहीं पढ़ा! उनके इस कथन का मेरे पास कोई उत्तर नहीं था।

चिट्ठियों का उत्तर देने में भी हरिऔध जी वड़ी सावधानी से काम लेते हैं। विशेषरूप से उन चिट्ठियों के विषय में जो अँगरेज़ी में लिखी होती हैं, वे कभी कभी आवश्यकता से अधिक सतर्क दिखायी पड़ते हैं। ऐसी चिट्ठियों को वे प्रायः अँगरेजी के जानकार व्यक्तियों से पढ़वाते हैं और जब तक कई सज्जनों से पढ़वाकर उनके कथन की अभिन्नता से सन्तुष्ट नहीं हो जाते तव तक उन्हें विश्राम नहीं मिलता। इस प्रकार चिट्ठियों का उत्तर जाने में कभी कभी विलम्ब भी हो जाता है।

हरिऔध जी वड़े ही परिश्रमशील हैं। उनका परिश्रम देखनेवालों में से अनेक व्यक्तियों को मैंने वड़ी ही नीरसता का अनुभव करते देखा है। वे यह नहीं समझ सकते कि यन्त्र की भाँति कार्य्य में रत रहने वाले व्यक्ति में सहृदयता की दुर्लभ विभूति का निवास भी हो सकता है। हरिऔध जी के एक सम्बन्धी मुझसे कहने लगे कि जो कवि-सम्राट् कहा जाता है, उसे प्रकृति-सौन्दर्य्य के प्रति इतना उदासीन देखकर आश्चर्य्य होता है। निस्सन्देह हरिऔध जी की कार्य्य मग्नता देख कर इस प्रकार का भ्रम किसी के भी हृदय में उत्पन्न हो सकता है। किन्तु वास्तविक वात यह है कि हरिऔध जी के काव्य में प्रकृति-सौन्दर्य्य-मूलक रचनाओं का अंश मानव-सौन्दर्य्य-मूलक रचनाओं के अंश से न कम है और न हीनतर श्रेणी का है। जो हो, हरिऔध जी की श्रमशीलता हम युवकों के सम्मुख भी आदर्श है।

रसास्वादन के लिए यदि वेश्या का नृत्य भी देखने के लिए जाना पड़े तो उन्हें कोई आपत्ति नहीं। वृद्धावस्था में भी उनकी यह कला-रसिकता अवसर उपस्थित होने पर अपना सरस रूप प्रकट करती है। काशी में जब एक बार मैं उनके यहाँ ठहरा था तब घड़ी भर रात बीतने पर एक देहाती मधुर स्वर में विरहा गाता हुआ चला जाया करता था। उसके गाने की आवाज़ बँगले की चहारदीवारियों का अतिक्रमण करके हरिऔध जी के हृदय पर आक्रमण कर देती थी। प्रतिदिन प्रायः उसी समय वह देहाती गाता हुआ निकल जाता और हरिऔध जी उस गान का रसपान करके विमुग्ध हो जाते थे। उस समय की उनकी विचित्र दशा का वर्णन करना असम्भव है; उसका स्मरण आज भी मेरे शरीर को आनन्द से पुलकित कर देता है।

हरिऔध जी को समाचार-पत्रों और समाचारों का भी बड़ा शौक़ है। काशी के 'आज' के वे बँधे हुए पाठक हैं। पाठक भी ऐसे वैसे नहीं, विज्ञापनों से लेकर अन्तिम पृष्ठ पर मुद्रित प्रेस की प्रिंट लाइन तक को पढ़ डालने वाले। इस संबंध में उनकी उत्सुकता और रुचि देखकर अनुमान होता है कि 'आज' के पृष्ठ उनकी तृप्ति करने में असमर्थ रहते हैं। इसकी यथार्थता का एक सबल प्रमाण यह है कि वे 'लीडर' आदि पत्रों के समाचारों के लिए भी उत्कंठित रहते हैं। 'आज' का पूर्ण पारायण करने के अनन्तर साधारणतया यही सोचा जायगा कि वे अन्य पत्रों को यत्र-तत्र पढ़कर तथा उनके समाचारों को जहाँ-तहाँ देखकर ही छोड़ देंगे। किन्तु बात ऐसी नहीं है। उन्हें 'लीडर' के वे पृष्ठ स्मरण रहते हैं, जिनमें महत्त्वपूर्ण समाचार प्रकाशित रहा करते हैं, और उन पृष्ठों के संबंध में पूर्ण समाधान होने के अनन्तर ही वे यह स्वीकार करेंगे कि ज्ञातव्य समाचार कितने हैं। इस विषय में उनकी सतर्कता इतनी बढ़ी हुई है कि एक व्यक्ति से सम्पूर्ण समाचारों का पता पा जाने पर भी वे दूसरे से प्रायः अजान बनकर उन्हें पूछते हैं। यदि उसने अपने उत्तर देने में सावधानी से काम नहीं लिया तो सहज ही यह सिद्ध हो जाता है कि उसने ध्यान देकर समाचार-पत्र को नहीं

पढ़ा। एक बार 'लीडर' के समाचारों को पढ़कर मैंने उसे अलग रख दिया। मेरी अनुपस्थिति में हरिऔध जी ने उसे किसी से पढ़वाकर सुन लिया। इस प्रकार 'लीडर' के सम्पूर्ण समाचारों से अभिज्ञ होकर भी उन्होंने मुझसे भी पूछा—लीडर में कोई विशेष समाचार है? संयोग से उस दिन के 'लीडर' में प्रकाशित समाचार मेरी दृष्टि में महत्व-शून्य थे। मैंने उत्तर दिया—आज तो कोई ख़ास बात नहीं है। तुरन्त ही हरिऔध जी ने एक समाचार की चर्चा करके कहा—जान पड़ता है, आपने पत्र को अच्छी तरह नहीं पढ़ा! उनके इस कथन का मेरे पास कोई उत्तर नहीं था।

चिट्ठियों का उत्तर देने में भी हरिऔध जी बड़ी सावधानी से काम लेते हैं। विशेषरूप से उन चिट्ठियों के विषय में जो अँगरेज़ी में लिखी होती हैं, वे कभी कभी आवश्यकता से अधिक सतर्क दिखायी पड़ते हैं। ऐसी चिट्ठियों को वे प्रायः अँगरेजी के जानकार व्यक्तियों से पढ़वाते हैं और जब तक कई सज्जनों से पढ़वाकर उनके कथन की अभिन्नता से सन्तुष्ट नहीं हो जाते तब तक उन्हें विश्राम नहीं मिलता। इस प्रकार चिट्ठियों का उत्तर जाने में कभी कभी विलम्ब भी हो जाता है।

हरिऔध जी बड़े ही परिश्रमशील हैं। उनका परिश्रम देखनेवालों में से अनेक व्यक्तियों को मैंने बड़ी ही नीरसता का अनुभव करते देखा है। वे यह नहीं समझ सकते कि यन्त्र की भाँति कार्य्य में रत रहने वाले व्यक्ति में सहृदयता की दुर्लभ विभूति का निवास भी हो सकता है। हरिऔध जी के एक सम्बन्धी मुझसे कहने लगे कि जो कवि-सम्राट् कहा जाता है, उसे प्रकृति-सौन्दर्य्य के प्रति इतना उदासीन देखकर आश्चर्य्य होता है। निस्सन्देह हरिऔध जी की कार्य्य मग्नता देख कर इस प्रकार का भ्रम किसी के भी हृदय में उत्पन्न हो सकता है। किन्तु वास्तविक बात यह है कि हरिऔध जी के काव्य में प्रकृति-सौन्दर्य्य-मूलक रचनाओं का अंश मानव-सौन्दर्य्य-मूलक रचनाओं के अंश से न कम है और न हीनतर श्रेणी का है। जो हो, हरिऔध जी की श्रमशीलता हम युवकों के सम्मुख भी आदर्श है।

हरिऔध जी का हृदय ब्राह्मणों की दुर्दशा देखकर अत्यन्त व्यथित होता है। यदि वे ब्राह्मणों के प्रति अपनी ममता थोड़ी बहुत कम कर सकते तो सहज ही वे इस सम्बन्ध की अपनी अधिकांश पीड़ा से छुटकारा पा जाते। परन्तु कठिनाई यह है कि ब्राह्मणों की स्थिति को आलोचक की दृष्टि से वे नहीं देख सकते। जैसे माँ बच्चे में कोई अवगुण नहीं देख सकती वैसे ही हरिऔध जी का कवि-हृदय ब्राह्मणों के अवगुणों की ओर दृष्टिपात नहीं करना चाहता। जैसे ब्राह्मणों के प्रति, वैसे ही हिन्दू जाति के प्रति भी हरिऔध जी की ममता का पार नहीं है। इस ममता ने उनकी सेवा करने के स्थान में अनेक बार उन्हें संकटों ही में डाला है; प्रायः उनके स्वभाव की इस विशेषता से लोगों ने अनुचित लाभ भी उठाने की चेष्टा की है।

हरिऔध जी सनातनधर्मावलम्बी होने पर भी बड़े उदार ब्राह्मण हैं। वे स्वयं लिखते हैं, "यतोभ्युदय निःश्रेयस् सिद्धिःस धर्म्मः—इस कथन के अनुसार मैं धर्म्म की व्यवस्था करना चाहता हूँ। इसीलिए विलायत यात्रा, पतित को पुनर्ग्रहण, और हिन्दू धर्म्म के विस्तार का पक्षपाती हूँ, बालिका विधवा के विवाह को भी बुरा नहीं समझता। किसी मत से द्वेष करना चाहे वह क्रिश्चियानिटी और इस्लाम ही क्यों न हो मुझे प्रिय नहीं, वरन् समस्त मतों में साम्यस्थापन मेरा निश्चित सिद्धान्त है। यदि इञ्जील, कुरआन, किम्बा किसी साधारण पुस्तक में कोई सत् शिक्षा है तो मैं सादर उसको ग्रहण करने के लिए अग्रसर होना चाहता हूँ। परन्तु उनकी त्रुटियों को लेकर कलह किम्बा कोलाहल मचाना अच्छा नहीं समझता। वर्णाश्रम धर्म्म का समर्थक होने पर भी नीचवर्ण के हिन्दुओं के साथ सद्व्यवहार करना और उनके उन्नत होने के लिए प्रयत्न करना अपना ही नहीं, समस्त हिन्दू जाति का कर्तव्य समझता हूँ।"

हरिऔध जी साधारणतया अपने सुधारों के औचित्य पर विश्वास करते हुए भी उन्हें व्यवहारिक रूप में परिणत करने से घबराते हैं। अगले अध्याय में मैं इसके सम्बन्ध में विशेष विस्तार से लिखूँगा।

किन्तु यहाँ पाठकों के सामने एक ऐसा उदाहरण प्रस्तुत करना चाहता हूँ जो वास्तव में उनकी व्यावहारिक उदारता और सहृदयता का ज्वलंत परिचायक है। एक बार वे घोड़े पर चढ़े हुए सरकारी कार्य्य से कहीं जा रहे थे। रास्ते में एक बहुत ही प्यासा अछूत मिला जो एक ब्राह्मण से पानी पिला देने की प्रार्थना कर रहा था। ब्राह्मण देवता अपनी पवित्रता के अभिमान में डूबे हुए थे और बड़े ज़ोरों से उसे इस धृष्टता के लिए झिड़क रहे थे। हरिऔध जी ने उनसे कहा कि पंडित जी, जीवमात्र के प्रति दया करनी चाहिए, फिर यह तो मनुष्य है। पंडित जी ने कहा, मैं क्यों पिलाऊँ ? मेरा लोटा सत्यानाश हो जायगा और मुझे उसको फेंक देना पड़ेगा। अगर आप उसका दाम देने को तैयार हों तो मैं पिला दूँ। हरिऔध जी ने पूछा कि इस लोटे का दाम क्या है ? पंडित जी ने उत्तर दिया, एक रुपया। हरिऔध जी ने तुरंत ही जेब से एक रुपया निकाल कर उनकी ओर फेंक दिया। इसके बाद पंडित जी ने पानी पिलाया। लेकिन उन्होंने लोटा फेंका नहीं, कहा, मैं इसे माँज कर शुद्ध कर लूँगा ! इस व्यवहार पर मन ही मन दुःख का अनुभव कर हरिऔध जी ने घोड़ा आगे बढ़ा दिया।

हरिऔध जी सन्ध्या, गायत्री-जप, अथवा अन्य किसी प्रकार की पूजा में समय नहीं लगाते। परन्तु उन्हें अपने धर्म्म और धार्मिक ग्रंथों के प्रति बहुत अधिक श्रद्धा है। वे वेदों के सम्बन्ध में लिखते हैं :—

विचारों भरे वेद ये हैं हमारे।
सराहे सभी भाव के हैं सहारे।
बड़े दिव्य हैं, हैं बड़े पूत न्यारे।
मनों स्वर्ग से वे गये हैं उतारे।
उन्हीं से बही सब जगह ज्ञान-धारा।
उन्हीं ने धरा धर्म को है पसारा।
उन्हीं ने भली नीति की नींव डाली।
खुली राह भलमंसियों की निकाली।

उन्हीं ने नई पौध नर की सँभाली।
उन्हीं ने बनाया उसे बूझ वाली।

उन्हीं ने उसे पाठ ऐसा पढ़ाया।
कि है आज जिससे जगत जगमगाया।

उन्हीं ने जगत-सभ्यता-जड़ जमायी।
उन्हीं ने भली चाल सबको सिखायी।

उन्हीं ने जुगुत यह अछूती बतायी।
कि आई समझ में भलाई बुरायी।

बड़े काम की औ बड़ी ही अनूठी।
उन्हीं से मिली सिद्धियों की अँगूठी।

विमल जोत वह वेद से फूट पायी।
कि जो सब जगत के बहुत काम आयी।

उसी से गयीं बत्तियाँ वे जलायी।
जिन्होंने उँजेली उरों में उगायी।

समय ओट में जब सभी मत रुके थे।
तभी मान का पान वे पा चुके थे।

अछूतों के सम्बन्ध में उनके विचार निम्नलिखित पंक्तियों में प्रकट हुए हैं :—

सामाजिक कतिपय कुत्सित नियम।
अति संकुचित छूत छात के विचार।

हर ले रहे हैं आज हमारा सर्वस्व।
गले का भी आज छीन ले रहे हैं हार।

जिन्हें हम छूते नहीं समझ अछूत।
जो हैं माने गये सदा परम पतित।

पास उनके है होता क्या नहीं हृदय।
वेदनाओं से वे होते क्या नहीं व्यथित।

उनका कलेजा क्या है पाहन गठित।
मांस ही के द्वारा क्या है वह नहीं बना।

लांछित ताड़ित तथा हो हो निपीड़ित।
उनके नयन से है क्या न आँसू छना।

कब तक रहें दुःख सिंधु में पतित।
कब तक करें पग धूलि वे वहन।
कब तक सहें वह साँसतें सकल।
कर न सकेगा जिसे पाहन सहन।
हमारे ही अविवेक का है यह फल।
हमारी कुमति का है यह परिणाम।
हमें छोड नित होती जाती है अलग।
परम सहनशील संतति ललाम।
किन्तु आज भी न हुआ हृदय द्रवित।
आज भी न हुआ हमें हिताहित ज्ञान।
छोड कर भयावह संकुचित भाव।
हम नहीं बना सके हृदय महान।

× × ×

छूत क्या है अछूत लोगों में,
क्यो न उनका अछूतपन लखिए।
हाथ रखिए अनाथ के सिर पर,
कान पर हाथ आप मत रखिए।
बाहरी जाति पाँत के पचड़े,
भीतरी छूतछात की साधें।
हैं हमें बाँध बेतरह देतीं,
क्यो उन्हें जाति के गले बाँधे।
तब सके छूट क्यों छिछोरापन,
सूझ जब छाँह छू नहीं पाती।
क्यों मिटें छूतछात के झगड़े,
जब छिले दिल छिली नहीं छाती।
आदमी हैं, आदमीयत है भली,
बात यह कोई कहे इतरा नहीं।
छेद छाती में अछूतों के हुए,
जो अछूता जी गया छितरा नहीं।

कहीं पर मचल वह कभी है न अड़ती।
भली आँख उनकी, सभी ठौर पड़ती।

सचाई फरेरा उन्हीं का उड़ाया।
नहीं किस जगह पर फहरता दिखाया।

बिगुल नेकियों का उन्हीं का बजाया।
नहीं गूँजता किस दिशा में सुनाया।

कली लोकहित की उन्हीं की खिलायी।
सुवासित न कर कौन सा देश पायी।

धर्म्म का सच्चा स्वरूप क्या है और वेदों ने उसे व्यक्त करने में कितनी सफलता पायी है यह निम्नलिखित पंक्तियों में देखिए :—

जथे धर्म के धर्म के ही जथों पर।
करें वार जो करनियों को बिसर कर।

कसर से भरे हों रखें हित न जौ भर।
कलह आग में डालते ही रहें खर।

जगत के हितों का लहू यों बहावें।
बिगड़ धूल में सब भलाई मिलावें।

उन्हें फिर जथे धर्म के कह जताना।
उमड़ते धुएँ को घटा है बताना।

यही सोच है वेद ने यह बखाना।
बुरा सोचना धर्म का है न बाना।

नहीं धर्म पर धर्म चोटें चलाते।
मिले कींच में भी कमल हैं खिलाते।

बने पंथ मत धर्म ही के सहारे।
कहीं हों कभी हो सके वे न न्यारे।

चमकते मिले जो कि गंगा किनारे।
खिले नील पर भी वही ज्ञान-तारे।

दमकते वही टाइबर पर दखाये।
मिसिसिपी किनारे वही जगमगाये।

धरा पर बहुत पंथ मत हैं दिखाते।
विचारादि भी अनगिनत हैं दिखाते।

विविध रीति में लोग रत हैं दिखाते।
बहुत भाँति के नेम व्रत हैं दिखाते।
नदी सब भले ही रखें ढंग न्यारा।
मगर है सबो में रमी नीर-धारा।

सचाई भरी बात यह बूझ वालो।
ढली प्रेम में रंगतों मे निराली।

गई वेद की गोद में है सँभाली।
उसीने उसे दी भली नीति-ताली।

बहुत देश जिससे कि फल फूल पाये।
नियम धर्म के वेद ने वे बताये।

हरिऔध हिन्दू जाति के बड़े भक्त हैं। उस पर उनकी ममता का पार नहीं है। उसके अन्धकारमय भविष्य की कल्पना करके कभी कभी वे बड़े सशंक हो जाते हैं। कभी कभी उनमें आशा की ज्योति का संचार भी होता है। अपनी कविता द्वारा उन्होंने हिन्दुओं में उत्साह की वृद्धि करने का बड़ा प्रयत्न किया है। वर्त्तमान हिन्दी कवियों में हिन्दू जाति को जगाने के लिए किसीने भी इतनी मार्मिक और चोट करने वाली रचनायें नहीं की हैं। वे वेदना भरे शब्दों में कहते हैं :—

राह पर उसको लगाना चाहिए।
जाति सोती है जगाना चाहिए।

हम रहेंगे यों बिगड़ते कब तलक।
बात बिगड़ी अब बनाना चाहिए।

खा चुके हैं आज तक मुँह की न कम।
सब दिनों मुँह की न खाना चाहिए।

हो गयी मुद्दत झगड़ते ही हुए।
यों न झगड़ों को बढ़ाना चाहिए।

अनबनों के चंगुलों से छूट कर।
फूट को ठोकर जमाना चाहिए।

पत उतरते ही बहुत दिन हो गये।
अब गयी पत को बचाना चाहिए।

चाल बेढंगी न चलते ही रहें।
ढंग से चलना चलाना चाहिए॥

हरिऔध जी ने हिन्दू जाति को सीधे-टेढ़े सभी तरह जगाना चाहा है। उन्होंने उसमें कार्य्यकारिणी शक्ति उत्पन्न करने के लिए अत्यन्त कठोर होकर भी उस पर व्यंगों की वृष्टि की है। उनकी कुछ ऐसी पंक्तियाँ देखिए :—

पोर पोर में है भरी तोर मोर की ही बान,
मुँह चोर बने आन बान छोड़ बैठी है।
कैसे भला बार बार मुँह की न खाते रहें,
सारी मरदानगी ही मुह मोड़ बैठी है।
हरिऔध कोई कस कमर सताता क्यों न,
कायरता होड़ कर नाता जोड़ बैठी है।
छूट चलती है आँख दोनों ही गयी है फूट,
हिन्दुओं में फूट आज पाँव तोड़ बैठी है।

काठ हो गये हैं काठ होने के कुपाठ पढ़,
दिलवाले होते कढ़ा दिल का दिवाला है।
बस होते रहे बेबिसात बेबसो से बने,
कस होते अकसों का बढ़ता कसाला है।
हरिऔध चल होते अचल बने ही रहे,
बार बार वैरियों का होता बोल बाला है।
पाला कैसे मारें पाले पड़े हैं कचाइयों के,
हिन्दुओं के लोहू पर पड़ गया पाला है।

दाब मानते हैं यह भाव बार बार दब,
दाँत तले दूब दाब दाब के दिखावेंगे।
आँख देखने की है न उनमें तनिक ताब,
बात यह आँख मूँद मूँद के बतावेंगे।
हरिऔध हिन्दुओं में हिम्मत रही ही नहीं,
हार को सदा ही हार गले का बनावेंगे।
चोटी काट काट वे सचाई का सबूत देंगे,
यूनिटी को पाँव चाट चाट के बचावेंगे।

अंतिम कवित्त में अंतिम चरण अत्यन्त मार्म्मिक है। हरिऔध जी को भारतवर्ष के अन्य प्रवल समुदायों के सामने हिन्दुओं का वरावर दवते जाना पसंद नहीं। निस्सन्देह हिन्दुओं पर यह आक्रमण प्रशंसनीय सहृदयता और जाति ममता ही की उपज है। परन्तु जव तक पराजित और पददलित जाति अन्य साधनों के अभाव में अथवा उनके उपयोग-सम्बन्धी अज्ञान के कारण आध्यात्मिक आदर्शों पर अवलम्बित अस्त्र हाथ में लेने को विवश होती है तव तक औरों के लिए उसके द्वारा की हुई रियायतों के प्रति अधिक सहानुभूतिपूर्ण मनोवृत्ति रखनी चाहिए। हरिऔध जी इस सम्पूर्ण परिस्थिति को अन्य दृष्टिकोण से देखते हैं, जिसकी विस्तृत चर्चा अगले अध्याय में की जायगी। संक्षेप में यहाँ इतना ही कहना यथेष्ट है कि उनकी जाति-हितैपणा उक्त पदों में छलकती मिलती है।

मैं ऊपर कह आया हूँ कि हरिऔध जी पूजा-पाठ आदि की ओर रुचि नहीं रखते। वहुत दिनों की वात है, एक वार मैंने हरिऔध जी से पत्र-द्वारा पूछा था कि क्या आप पेंशन लेने के वाद अपने समय का अधिकांश भाग भगवद्भजन में व्यतीत करेंगे ? उस समय मुझे हरिऔध जी के विचारों से अधिक अभिज्ञता नहीं थी; इस धृष्टता का यही कारण था। हरिऔध जी के उत्तर का सारांश यह था कि वे जाति और समाज की सेवा को ही भगवद्भजन मानते हैं और मातृ-भापा की सेवा को भी उसी विस्तृत सेवा-क्षेत्र के अन्तर्गत समझते हैं। निस्सन्देह उन्होंने अपना अधिकांश साहित्य-निर्माण-कार्य इसी लक्ष्य को सामने रख कर किया है।

हरिऔध जी वास्तव में उन लोगों से मत-भेद नहीं रखते जो ईश्वर के दयालु रूप की कल्पना करते हैं, वरन् उन लोगों से अवश्य उनमें विरोध-वृत्ति पायी जाती है जो पुरुपार्थ का त्याग कर अपना आलस्यमय जीवन व्यतीत करते हैं और निष्क्रिय होकर यह कहते रहते हैं कि जो भाग्य में लिखा है वह होगा, तथा इस प्रकार ईश्वरावलम्बन का ढोंग करते रहते हैं। ऐसे ही लोगों की दृष्टि उचित कर्त्तव्य की

ओर आकर्षित करने के लिए हरिऔध जी कहते रहते हैं कि यह सब भ्रम है; कुछ ऐसे नियम हैं जिनका पालन करने से मनुष्य को जीवन में सफलता मिलती है; यदि उनका पालन होगा तो कठिनाइयाँ न आवेंगी; यदि न होगा तो कष्टों का ताँता बँध जायगा; कितनी भी प्रार्थना करो ईश्वर टस से मस नहीं होगा। यद्यपि हिन्दुओं के बहु देव-वाद के अनुसरण में उन्होंने निम्नलिखित पद्य लिखे हैं :—

सारी बाधाएँ हरें राधा नयनानन्द।
वृन्दारक वन्दित चरण श्री वृन्दावन चन्द।
सकल मंजु मंगल सदन कदन अमंगल मूल।
एक रदन करिवर वदन सदा रहें अनुकूल।
आराधन करते करें बाधाएँ सब दूर।
दयासिंधु सिंधुर वदन आरंजित सिंदूर।
कुशकुन दुरें उलूक सम तज मंगलमय देश।
सकल अमंगल तम दलें द्विज कुल कमल दिनेश।

तथापि अधिकांश में उनकी प्रवृत्ति एकेश्वरवाद की ओर ही है और उनकी ईश्वर-कल्पना में भावुकता का नहीं; वैज्ञानिकता का समावेश है। इसके सम्बन्ध में आगे कुछ विवेचना की जायगी। सम्भवतः इसी वैज्ञानिक कल्पना के कारण हरिऔध जी का जीवन संतोषमय है, परन्तु चित्त की कोमलता तथा अधिक स्नेहशीलता के कारण वे किसी प्रिय जन के कष्ट में पड़ने, बीमार आदि होने पर बहुत घबराते हैं। मानव देहावसान के प्रति भी हरिऔध जी की भावना अत्यन्त व्याकुलतामयी है। हाल ही में अनेक साहित्य-सेवियों के क्रमशः दिवंगत हो जाने से उन्हें बहुत दुःख हुआ है। विशेषकर रत्नाकर जी के स्वर्गवास से तो वे बहुत व्यथित हुए। जिस दिन उनके निधन का समाचार मिला उस दिन तथा उसके दूसरे दिन के अधिक भाग में वे संलग्नतापूर्वक अपना कार्य्य नहीं कर सके। बोले—"देखिए कल तक उनके लिए संसार सब कुछ था और आज कुछ नहीं रहा।" निस्सन्देह रत्नाकर जी की प्रतिभा और प्रकृति-सारल्य का हरिऔध जी पर प्रभाव

था, जैसा कि अन्य साहित्य-सेवियों पर भी है। ऐसी दशा में अचानक उनका शरीरपात किसे व्यथित नहीं करेगा? किन्तु भावुकतापूर्वक ईश्वर-समर्पित चित्त को उतनी अस्थिरता का अनुभव प्रायः नहीं होता जितनी मैंने उनमें उस समय देखी थी।

हरिऔध जी जाति, समाज, लोक की सेवा पर बहुत अधिक ज़ोर देते हैं। वे कहते हैं :—

जो मिठाई में सुधा से है अधिक।
खा सके वह रस भरा मेवा नहीं।
तो भला जग में जिये तो क्या जिए।
की गयी जो जाति की सेवा नहीं।
हो न जिसमें जाति-हित का रंग कुछ।
बात वह जी में ठनी तो क्या ठनी।
हो सकी जब देश की सेवा नहीं।
तब भला हमसे बनी तो क्या बनी।
बेकसों की बेकसी को देख कर।
जब नहीं अपने सुखों को खो सके।
तब चले क्या लोग सेवा के लिए।
जब न सेवा पर निछावर हो सके।
तो न पाया दूसरों का दुख समझ।
दीन दुखियों का सके जो दुख न हर।
भाव सेवा का बसा जी में कहाँ।
बेबसों का जो बसा पाया न घर।
उस कलेजे को कलेजा क्यों कहें।
हो नहीं जिसमें कि हित धारें नहीं।
भाव सेवा का सके तब जान क्या।
कर सके जब लोक की सेवा नहीं।

जिस हृदय में मानव-सेवा के प्रति इतनी अधिक प्रवृत्ति है वह देश के प्रति उदासीन किस भाँति रह सकेगा? अनेक कारणों से हरिऔधजी

महात्मा गांधी के कुछ सिद्धान्तों से सहमत नहीं हैं। उनका सत्याग्रह और असहयोग उनकी समझ में नहीं आता, वे उन्हें शासन-सम्बन्धी अधिकारों को हस्तान्तरित कराने का साधन नहीं स्वीकार कर सकते। उनका विश्वास है कि संसार में भौतिक शक्ति से सम्पन्न व्यक्ति या राष्ट्र ही कुछ कर सकता है। यद्यपि उनका यह मत हिन्दू-समाज के भविष्य के सम्बन्ध में अत्यन्त निराशाजनक है, क्योंकि इस समय हिन्दुओं को यदि किसी वस्तु का नितान्त अभाव है तो वह भौतिक शक्ति ही है। जो हो, महात्मा गांधी से मत-भेद रखते हुए भी देश-प्रेमी होना तो सम्भव है ही, और निस्सन्देह हरिऔध जी के हृदय में देश की वेदना के कारण गहरी व्याकुलता की छाप है। वे भगवान् से कहते हैं :—

क्यों दिखाने में अँगूठा दीन को
आपकी रुचि आज दिन यों है तुली।
हैं तरसते एक मूठी अन्न को
आपकी मूठी नहीं अब भी खुली।
दें न हलवे छीन तो करवे न लें
नाथ कब तक देखते जलवे रहें।
कब तलक बलवे रहेंगे देश में
कब तलक हम चाटते तलवे रहें।
खोलिए पलकें दया कर देखिए
मूँछ के भी बाल अब हैं बिन रहे।
दिन फिरेंगे या फिरेंगे ही नहीं
ऊब दिन हैं उँगलियों पर गिन रहे।
अब नहीं है निबाह हो पाता
नेह करिए निहारिए हमको।
क्या उबर अब नहीं सकेंगे हम
हाथ देकर उबारिए हमको।

पास मेरे इधर उधर आगे
है दुखों का पड़ा हुआ डेरा।
है गयी अब बुरी पकड़ पकड़ी
आप आ हाथ लें पकड़ मेरा।
फिर रही है बुरी बला पीछे
खोलता दुख-विहंग है फिर पर।
बेतरह फेर में पड़े हम हैं
फेरते हाथ क्यों नहीं सिर पर।
बह रहे हैं विपत लहर में हम
अब दया का दिखा किनारा दें।
क्या कहूँ और हूँ बहुत हारा
प्रभु हमें हाथ का सहारा दें।

राष्ट्रीयता-प्रधान इस युग में यदि राष्ट्रीयता के प्रति हरिऔध जी के भावों का परिचय मैं पाठकों को न कराऊँ तो इस ग्रन्थ में यह एक बहुत बड़ा अभाव हो जायगा। जिस कवि ने 'प्रिय-प्रवास' की रचना की है उसकी सहानुभूति पीड़ित भारत के प्रति न हो, इस पर विश्वास ही नहीं किया जा सकता। इसमें कोई सन्देह नहीं कि परिवार, जाति, देश और मानव मात्र की वेदनाओं के लिए उनके हृदय में सहानुभूति है। सहानुभूति ही नहीं, इनके हित की वेदी पर प्रायः उनका जीवन ही समर्पित है। किन्तु वे अपनी शक्तियों की सीमा को समझते हैं, और उससे अधिक नहीं कर सकते जितना कर रहे हैं। ऐसी दशा में क्या व्यर्थ ही चट्टान से टक्कर लेकर वे अपना सिर फोड़ लें और उस अमूल्य निधि को भी गँवा दें जिसे ईश्वर ने उन्हें प्रदान किया है और जिसका सम्पूर्ण उपयोग अपने देशबन्धुओं को प्रदान करने के लिए वे अधीर हैं ? हरिऔध की कवि-प्रतिभा ईश्वर-प्रदत्त ऐसी ही निधि है।

हमें प्रत्येक व्यक्ति की शक्तियों का उत्कृष्टतम उपयोग करना चाहिए। राष्ट्रीय आन्दोलन से तटस्थ होकर यदि हरिऔध जी विलासिता और आलस्य में डूबे रहते तो निस्सन्देह यह कलंक की बात

होती, किन्तु सच बात तो यह है कि इस साहित्य-योगी की व्यक्तिगत आवश्यकताएँ प्रायः नहीं के बराबर हैं और उनका जीवन अधिकांश में ऋषियों का सा है।

इस सम्बन्ध में एक निवेदन और है। वर्त्तमान राष्ट्रीय आन्दोलन की कार्य्य-प्रणाली के नैतिक, तथा व्यावहारिक औचित्य के प्रति पूर्ण श्रद्धा और विश्वास रखनेवाले अनेक सज्जन उसे सहयोग प्रदान करने की क्षमता रखते हुए भी ऐसा नहीं कर सके हैं। कवि की हैसियत से, और हिन्दू-समाज के लाभों की समष्टि को दृष्टिगत रखते हुए, यदि हरिऔध जी अवकाश और शान्तिपूर्ण वातावरण पाने के अधिकारी हैं तो स्वभाव से ही जीवन के प्रति विभिन्न दृष्टि-कोण रखने के कारण वर्त्तमान राजनीति से उनका सहमत न होना भी क्षन्तव्य समझा जाना चाहिए—वह दृष्टिकोण जिसने हिन्दी-साहित्य-सेवियों के समाज में उन्हें एक विशिष्ट व्यक्तित्व और स्थान प्रदान किया है, और जिसकी विस्तृत व्याख्या आगे के पृष्ठों में की जायगी।

हरिऔध के व्यक्तित्व पर वाह्य प्रभाव

जैसे किसी कवि की जीवनी लिखने में उसकी रचनाओं से सहायता लेना अनिवार्य्य है वैसे ही किसी कवि के अध्ययन के लिए उसके व्यक्तित्व की विशेपताओं को हृदयंगम करना भी आवश्यक है। हिन्दी के कुछ उत्साही लेखकों ने इस उपयोगी तत्त्व की ओर उचित से अधिक प्रवृत्ति दिखा कर, व्यक्तित्व-सम्बन्धी अत्यन्त स्थूल वातों पर अनावश्यक जोर देकर, इस अध्ययन-प्रणाली के विरुद्ध प्रतिक्रिया उत्पन्न होने का अवसर दे दिया है, और कुछ समालोचकों की दृष्टि में वह सिर से पैर तक दोपमयी ही दिखायी पड़ने लगी है। किन्तु वास्तव में वात ऐसी नहीं है। कवि मौलिक प्रतिभा और सौन्दर्य्य-सृष्टि करने की शक्ति लेकर संसार में अवतीर्ण होता है, और प्रवल व्यक्तित्व की सहायता से साहित्य में नवीन-युग-निर्माण करने में सफल होता है। किन्तु जिस काल-विशेप में वह जन्म लेता है वह उसके काव्य की रूप-रेखा और वाह्य ढाँचे को प्रभावित किये विना नहीं रहता। जिस व्यापक, अपरिमित विभूति से कवि का व्यक्तित्व सार-गर्भित होता है, उसको अव्यापक, परिमित का संस्पर्श प्रदान कर सौन्दर्य्य-भावना के आश्रय से काव्य-जगत् में उसके प्रस्फुटित होने का अवसर उपस्थित करना काल ही का काम है। अतएव कवि-कला के सम्यक् अध्ययन के लिए कवि की परिस्थिति की जानकारी उपेक्षणीय नहीं है। हरिऔध जी की कला का विकास भी इस व्यापक सिद्धान्त से प्रभावित है। इसलिए उनकी रचनाओं का उल्लेख करने के पहले मैं उन विशेष प्रभावों की चर्चा करूँगा जिन्होंने उन रचनाओं की उत्पत्ति की दिशा का निर्देश किया है।

उनके काव्य में विकास का एक वहुत सुन्दर क्रम मिलता है। उनकी भक्तिमूलक प्रारम्भिक रचनाओं में श्रीकृष्ण निराकार भगवान के रूप में अंकित हुए थे, किन्तु कालान्तर में 'प्रिय-प्रवास' के भीतर हमें उनके प्रति कवि का परिवर्त्तित दृष्टिकोण देखने को मिलता है। उनकी आरम्भ

कालीन रचनाओं में राधा का जो स्वरूप अंकित हुआ है वह भी 'प्रिय-प्रवास' में भिन्न रूप में विकसित देख पड़ता है, और जिन भावनाओं ने पहले संगठित होकर सजल जलद का स्वरूप-निर्माण किया था वे मानो अपने ही बरसाये हुए जल में विहार करने के उद्देश्य से सरोवर के कुमुद-पुष्पों के रूप में अवतीर्ण हो गयीं। उनकी रचनाओं को देखने से ऐसा जान पड़ता है जैसे ईश्वर धीरे-धीरे मनुष्य की पीड़ा, हासविलास, श्रान्ति-विश्रान्ति तथा आमोद-प्रमोद का रसास्वादन करने के लिए स्वयं भूमि पर उतर आया हो। परिस्थिति की प्रेरणा ने हरिऔध के जीवन में भीतर ही भीतर ऐसी गहरी क्रान्ति कर दी कि श्रीकृष्ण की निराकार-स्वरूप-पूजा से लेकर आधुनिक काल तक के हिन्दू समाज के हृदय को आन्दोलित करने वाले समस्त भाव शायद पारस्परिक बंधुत्त्व के प्रदर्शनार्थ ही हरिऔध के हृदय में शरणागत हुए। कबीरदास ने निराकारवाद को अधिक व्यावहारिक और हृदय-ग्राह्य बनाने का उद्योग किया था। सूरदास ने श्रीकृष्ण को परब्रह्म का अवतार मानते हुए भी मानवता से रहित नहीं बनाया था। परन्तु उन्होंने एक त्रुटि शेष रहने दी थी; उन्होंने परब्रह्मता और मानवता का उस सौन्दर्य-भावना के क्षेत्र में सामञ्जस्य नहीं किया था जो व्यक्ति की स्वतन्त्रता को समाज के सम्मुख सीमित कर देती है। सूरदास के इसी असंशोधित मानवता-भाव-समावेश ने उनके परवर्ती कवियों को राधा-कृष्ण के सम्बन्ध में वह स्वतन्त्रता ग्रहण करने का अवसर प्रदान किया जिसने हिन्दी-साहित्य में बहुत बड़ी कुरुचि को जन्म दिया है। राधा-कृष्ण-सम्बन्ध-विषयक इस कुरुचि के निवारण का श्रेय हिन्दी-

अत्यन्त अविस्तृत क्षेत्र पसन्द किया तब वह उस प्रयत्न को बलवान बनाने वाली ही सिद्ध हुई जो मुस्लिम संस्कृति को हृदयंगम करने के निमित्त हिन्दू-समाज द्वारा अनेक शताब्दियों से हो रहा है और जो अभी तक हिन्दी-साहित्य के भीतर क्रमशः असंख्य अरबी और फ़ारसी शब्दों तथा अनेक छन्दों और शैलियों को ग्रहण कर लेने के रूप में प्रकट हुआ है। 'प्रिय-प्रवास' के भीतर ईश्वर के जिस स्वरूप का अंकन करने की चेष्टा हरिऔध जी ने की है उसकी तुलना यदि ईश्वर-विषयक उनकी प्रारम्भिक धारणाओं के साथ की जायगी तो पाठक चकित हुए बिना नहीं रहेंगे। यह विकास-क्रम, यह महान् अन्तर क्या कोई असम्बद्ध घटना है ? क्या वह निरंकुश कवि-प्रतिभा का विशृंखलित व्यापार है ? नहीं, ऐसा नहीं हो सकता। इस सृष्टि के भीतर कार्य्य और कारण का इतना घनिष्ट सम्बन्ध है कि हम कार्य्य के पहले कारण का स्वयं-सिद्ध अस्तित्त्व स्वीकार करने के लिए बाध्य हो जाते हैं।

जैसे माँ के पेट में बच्चा अप्रकट रूप से पोषण पाता है वैसे ही मानव व्यक्तित्व देश और काल के वातावरण में परिपक्व होता है। यह वातावरण उन संस्कारों द्वारा निर्मित होता है जो (१) पूर्व्वजों से उत्तराधिकार के रूप में प्राप्त होते हैं अथवा (२) कुटुम्बियों, सम्बन्धियों और मित्रों के सम्पर्क से, यद्वा (३) शिक्षा, किम्वा (४) जीविका से जन्म पाते हैं। इस व्यापक नियम को ध्यान में रख कर हमें देखना चाहिए कि जिन संस्कारों के वातावरण में हरिऔध जी की जीवन-यात्रा हुई, वे उन्हें किस किस दिशा से मिले।

(१) हरिऔध जी त्रिप्रवर अगस्त गोत्र शुक्ल यजुर्वेदीय सनाढ्य ब्राह्मण हैं। ब्राह्मणों का त्याग, ब्राह्मणों का विद्या-व्यसन और ब्राह्मणों की सरलता हरिऔध की पैतृक विभूति है। उनके वंश में किस ढंग के समाजसेवी व्यक्ति होते आये हैं, कितनी उदारता और परोपकारशीलता उनकी धमनियों में रक्त के समान प्रवाहित होती रही है, इसका एक उदाहरण यहाँ दिया जायगा; उनके एक पूर्वपुरुष पं० काशीनाथ उपाध्याय की आत्म-त्यागमयी प्रकृति से उस सहृदयता-स्रोत के उद्गम-

कालीन रचनाओं में राधा का जो स्वरूप अंकित हुआ है वह भी 'प्रिय-प्रवास' में भिन्न रूप में विकसित देख पड़ता है, और जिन भावनाओं ने पहले संगठित होकर सजल जलद का स्वरूप-निर्माण किया था वे मानो अपने ही बरसाये हुए जल में विहार करने के उद्देश्य से सरोवर के कुमुद-पुष्पों के रूप में अवतीर्ण हो गयीं। उनकी रचनाओं को देखने से ऐसा जान पड़ता है जैसे ईश्वर धीरे-धीरे मनुष्य की पीड़ा, हासविलास, श्रान्ति-विश्रान्ति तथा आमोद-प्रमोद का रसास्वादन करने के लिए स्वयं भूमि पर उतर आया हो। परिस्थिति की प्रेरणा ने हरिऔध के जीवन में भीतर ही भीतर ऐसी गहरी क्रान्ति कर दी कि श्रीकृष्ण की निराकार-स्वरूप-पूजा से लेकर आधुनिक काल तक के हिन्दू समाज के हृदय को आन्दोलित करने वाले समस्त भाव शायद पारस्परिक बंधुत्त्व के प्रदर्शनार्थ ही हरिऔध के हृदय में शरणागत हुए। कबीरदास ने निराकारवाद को अधिक व्यावहारिक और हृदय-ग्राह्य बनाने का उद्योग किया था। सूरदास ने श्रीकृष्ण को परब्रह्म का अवतार मानते हुए भी मानवता से रहित नहीं बनाया था। परन्तु उन्होंने एक त्रुटि शेष रहने दी थी; उन्होंने परब्रह्मता और मानवता का उस सौन्दर्य-भावना के क्षेत्र में सामञ्जस्य नहीं किया था जो व्यक्ति की स्वतन्त्रता को समाज के सम्मुख सीमित कर देती है। सूरदास के इसी असंशोधित मानवता-भाव-समावेश ने उनके परवर्ती कवियों को राधा-कृष्ण के सम्बन्ध में वह स्वतन्त्रता ग्रहण करने का अवसर प्रदान किया जिसने हिन्दी-साहित्य में बहुत बड़ी कुरुचि को जन्म दिया है। राधा-कृष्ण-सम्बन्ध-विषयक इस कुरुचि के निवारण का श्रेय हिन्दी-साहित्य के इतिहास में हरिऔध ही को मिलेगा, क्योंकि उन्होंने पर-ब्रह्मता, मानवता, और सामाजिक मर्य्यादा के भीतर प्रगट होने वाली सौन्दर्य्यभावना का पूर्ण सामञ्जस्य उपस्थित करके इस बुद्धिवाद-प्रधान शताब्दी की आत्मा को संतुष्ट करने का सफल प्रयत्न किया है। बाद को जब चिरन्तन मानव के व्यापक भावों को 'प्रिय-प्रवास' में छोड़कर हरिऔध की प्रतिभा ने अपनी क्रीड़ा के लिए मानव-समाज का एक

अत्यन्त आवस्तृत स्त्र-पसन्द किया तब वह उस प्रयत्न को बलवान बनाने वाली ही सिद्ध हुई जो मुस्लिम संस्कृति को हृदयंगम करने के निमित्त हिन्दू-समाज द्वारा अनेक शताब्दियों से हो रहा है और जो अभी तक हिन्दी-साहित्य के भीतर क्रमशः असंख्य अरबी और फ़ारसी शब्दों तथा अनेक छन्दों और शैलियों को ग्रहण कर लेने के रूप में प्रकट हुआ है। 'प्रिय-प्रवास' के भीतर ईश्वर के जिस स्वरूप का अंकन करने की चेष्टा हरिऔध जी ने की है उसकी तुलना यदि ईश्वर-विषयक उनकी प्रारम्भिक धारणाओं के साथ की जायगी तो पाठक चकित हुए बिना नहीं रहेंगे। यह विकास-क्रम, यह महान् अन्तर क्या कोई असम्बद्ध घटना है ? क्या वह निरंकुश कवि-प्रतिभा का विशृंखलित व्यापार है ? नहीं, ऐसा नहीं हो सकता। इस सृष्टि के भीतर कार्य्य और कारण का इतना घनिष्ट सम्बन्ध है कि हम कार्य्य के पहले कारण का स्वयं-सिद्ध अस्तित्त्व स्वीकार करने के लिए बाध्य हो जाते हैं।

जैसे माँ के पेट में बच्चा अप्रकट रूप से पोषण पाता है वैसे ही मानव व्यक्तित्व देश और काल के वातावरण में परिपक्व होता है। यह वातावरण उन संस्कारों द्वारा निर्मित होता है जो (१) पूर्व्वजों से उत्तराधिकार के रूप में प्राप्त होते हैं अथवा (२) कुटुम्बियों, सम्बन्धियों और मित्रों के सम्पर्क से, यद्वा (३) शिक्षा, किम्वा (४) जीविका से जन्म पाते हैं। इस व्यापक नियम को ध्यान में रख कर हमें देखना चाहिए कि जिन संस्कारों के वातावरण में हरिऔध जी की जीवन-यात्रा हुई, वे उन्हें किस किस दिशा से मिले।

(१) हरिऔध जी त्रिप्रवर अगस्त गोत्र शुक्ल यजुर्वेदीय सनाढ्य ब्राह्मण हैं। ब्राह्मणों का त्याग, ब्राह्मणों का विद्या-व्यसन और ब्राह्मणों की सरलता हरिऔध की पैतृक विभूति है। उनके वंश में किस ढंग के समाजसेवी व्यक्ति होते आये हैं, कितनी उदारता और परोपकारशीलता उनकी धमनियों में रक्त के समान प्रवाहित होती रही है, इसका एक उदाहरण यहाँ दिया जायगा; उनके एक पूर्वपुरुष पं० काशीनाथ उपाध्याय की आत्म-त्यागमयी प्रकृति से उस सहृदयता-स्रोत के उद्गम-

कालीन रचनाओं में राधा का जो स्वरूप अंकित हुआ है वह भी 'प्रिय-प्रवास' में भिन्न रूप में विकसित देख पड़ता है, और जिन भावनाओं ने पहले संगठित होकर सजल जलद का स्वरूप-निर्माण किया था वे मानो अपने ही बरसाये हुए जल में विहार करने के उद्देश्य से सरोवर के कुमुद-पुष्पों के रूप में अवतीर्ण हो गयीं। उनकी रचनाओं को देखने से ऐसा जान पड़ता है जैसे ईश्वर धीरे-धीरे मनुष्य की पीड़ा, हासविलास, श्रान्ति-विश्रान्ति तथा आमोद-प्रमोद का रसास्वादन करने के लिए स्वयं भूमि पर उतर आया हो। परिस्थिति की प्रेरणा ने हरिऔध के जीवन में भीतर ही भीतर ऐसी गहरी क्रान्ति कर दी कि श्रीकृष्ण की निराकार-स्वरूप-पूजा से लेकर आधुनिक काल तक के हिन्दू समाज के हृदय को आन्दोलित करने वाले समस्त भाव शायद पारस्परिक बंधुत्त्व के प्रदर्शनार्थ ही हरिऔध के हृदय में शरणागत हुए। कबीरदास ने निराकारवाद को अधिक व्यावहारिक और हृदय-ग्राह्य बनाने का उद्योग किया था। सूरदास ने श्रीकृष्ण को परब्रह्म का अवतार मानते हुए भी मानवता से रहित नहीं बनाया था। परन्तु उन्होंने एक त्रुटि शेष रहने दी थी; उन्होंने परब्रह्मता और मानवता का उस सौन्दर्य-भावना के क्षेत्र में सामञ्जस्य नहीं किया था जो व्यक्ति की स्वतन्त्रता को समाज के सम्मुख सीमित कर देती है। सूरदास के इसी असंशोधित मानवता-भाव-समावेश ने उनके परवर्ती कवियों को राधा-कृष्ण के सम्बन्ध में वह स्वतन्त्रता ग्रहण करने का अवसर प्रदान किया जिसने हिन्दी-साहित्य में बहुत बड़ी कुरुचि को जन्म दिया है। राधा-कृष्ण-सम्बन्ध-विषयक इस कुरुचि के निवारण का श्रेय हिन्दी-साहित्य के इतिहास में हरिऔध ही को मिलेगा, क्योंकि उन्होंने पर-ब्रह्मता, मानवता, और सामाजिक मर्य्यादा के भीतर प्रगट होने वाली सौन्दर्य्यभावना का पूर्ण सामञ्जस्य उपस्थित करके इस बुद्धिवाद-प्रधान शताब्दी की आत्मा को संतुष्ट करने का सफल प्रयत्न किया है। बाद को जब चिरन्तन मानव के व्यापक भावों को 'प्रिय-प्रवास' में छोड़कर हरिऔध की प्रतिभा ने अपनी क्रीड़ा के लिए मानव-समाज का एक

हरिऔध जी और उनके छोटे भाई पं० गुरुसेवक उपाध्याय पं० भोला सिंह उपाध्याय के लड़के हैं। हरिऔध जी का जन्म सम्वत् १९२२ में वैशाख कृष्ण तृतीया को निजामाबाद में हुआ था।

२ (क) हरिऔध जी पर उनके चाचा पं० ब्रह्मा सिंह का यथेष्ट प्रभाव पड़ा। पं० ब्रह्मासिंह पुत्रहीन थे, अतएव उन्होंने अपना पितृ-हृदय-सुलभ वत्सल अनुराग हरिऔध और गुरुसेवक जी ही को प्रदान किया। वे कोई साधारण व्यक्ति नहीं थे; ज्योतिर्विद्या के अतिरिक्त अन्य अनेक शास्त्रों में भी उनकी गति थी। जैसे वे विद्वान् थे वैसे ही धर्म्म-निष्ठ भी। पाँच वर्ष की अवस्था के हो जाने पर उन्हीं के द्वारा शास्त्र-मर्य्यादानुसार हरिऔध का विद्यारम्भ कराया गया। दो वर्ष तक तो पं० ब्रह्मा सिंह उनको घर पर ही छोटी पुस्तकें पढ़ाते रहे। इसके बाद उन्होंने निजामाबाद के तहसीली मिडिल स्कूल में उन्हें भरती करा दिया। पं० ब्रह्मा सिंह उपाध्याय ही के आदर्श चरित्र का यह परिणाम है कि हरिऔध जी भी आदर्श चरित्रवान् हुए और उनकी कवित्व-शक्ति का उपयोग अधिकतर लोक-कल्याणकारी चरित्रों के अंकन अथवा गुण-

स्थल का पता आप ही आप लग जायगा, जिसने कवि हरिऔध के विस्तृत हृदय-क्षेत्र में आकर विशाल नद के स्वरूप-ग्रहण द्वारा पिपासा-पीड़ित जन-समाज को शीतलता और आनन्द का वितरण करना प्रारम्भ कर दिया है। पण्डित काशीनाथ उपाध्याय का जीवन-काल सम्राट् जहाँगीर का शासन-काल था। किसी कारण-वश एक कायस्थ परिवार सम्राट् का कोपभाजन हो गया। क्रमशः इस परिवार के समस्त पुरुष तलवार की घाट उतार दिये गये। वस्तुतः सम्राट् के कर्म्मचारियों ने तभी सन्तोष किया जब उन्हें विश्वास हो गया कि उक्त कुटुम्ब में कोई भी जीवित नहीं रह गया। किन्तु वास्तव में पं० काशीनाथ ने दो स्त्रियों और उनके बच्चों को अपने गृह में आश्रय दे दिया था। क्रमशः सम्राट् के अनुचरों को इस बात का सन्देह हुआ कि पं० काशीनाथ उपाध्याय के आश्रय में दण्डित परिवार की स्त्रियाँ और बच्चे जीवित हैं। इस सन्देह के परिणाम-स्वरूप सम्राट् की ओर से यह आज्ञा हुई कि यदि पं० काशीनाथ स्त्रियों का बनाया भोजन बच्चों के साथ खा लें तो सन्देह का निवारण हो जाय। पं० काशीनाथ ने स्त्रियों से भोजन तो नहीं बनवाया किन्तु उन्हें भोजन की तैयारी में सहायता देने दिया। इस सूक्ष्म अन्तर को सदेन्ह करने वाले न समझ सके। भोजन तैयार हो चुकने पर उन्होंने बच्चों को बाल भगवान समझ कर उनके साथ भोजन कर लिया। इस प्रकार उस समय तो सन्देह का शमन हो गया। किन्तु शीघ्र ही उन्हें यह स्पष्ट हो गया कि वातावरण अधिक समय तक शान्त नहीं रह सकेगा। इस कारण उन्होंने 'स्थान त्यागेन दुर्जनं' की नीति के अनुसार दिल्ली छोड़ देने का निश्चय किया। वे पहले संयुक्त प्रान्त के बदायूँ जिले में और बाद को आज़मगढ़ से आठ मील पर दक्षिण-पश्चिम ओर तमसा के तट पर स्थित निज़ामाबाद नामक ग्राम में आकर बसे। इस ग्राम में पं० काशीनाथ उपाध्याय द्वारा आश्रय-प्राप्त स्त्रियों के वंशज अनेक परिवारों में विभक्त होकर निवास करते हैं और उपाध्याय-परिवार को बड़ी श्रद्धा-भक्ति की दृष्टि से देखते हैं। नीचे जो वंश-वृक्ष दिया जाता है उससे पाठकों को हरिऔध जी के कुछ पूर्व्वजों का परिचय मिल जायगा :—

हरिऔध जी और उनके छोटे भाई पं० गुरुसेवक उपाध्याय पं० भोला सिंह उपाध्याय के लड़के हैं। हरिऔध जी का जन्म सम्वत् १९२२ में वैशाख कृष्ण तृतीया को निज़ामाबाद में हुआ था।

२ (क) हरिऔध जी पर उनके चाचा पं० ब्रह्मा सिंह का यथेष्ट प्रभाव पड़ा। पं० ब्रह्मासिंह पुत्रहीन थे, अतएव उन्होंने अपना पितृ-हृदय-सुलभ वत्सल अनुराग हरिऔध और गुरुसेवक जी ही को प्रदान किया। वे कोई साधारण व्यक्ति नहीं थे; ज्योतिर्विद्या के अतिरिक्त अन्य अनेक शास्त्रों में भी उनकी गति थी। जैसे वे विद्वान थे वैसे ही धर्म्म-निष्ठ भी। पाँच वर्ष की अवस्था के हो जाने पर उन्हीं के द्वारा शास्त्र-मर्य्यादानुसार हरिऔध का विद्यारम्भ कराया गया। दो वर्ष तक तो पं० ब्रह्मा सिंह उनको घर पर ही छोटी पुस्तकें पढ़ाते रहे। इसके बाद उन्होंने निज़ामाबाद के तहसीली मिडिल स्कूल में उन्हें भरती करा दिया। पं० ब्रह्मा सिंह उपाध्याय ही के आदर्श चरित्र का यह परिणाम है कि हरिऔध जी भी आदर्श चरित्रवान् हुए और उनकी कवित्व-शक्ति का उपयोग अधिकतर लोक-कल्याणकारी चरित्रों के अंकन अथवा गुण-

स्थल का पता आप ही आप लग जायगा, जिसने कवि हरिऔध के विस्तृत हृदय-क्षेत्र में आकर विशाल नद के स्वरूप-ग्रहण द्वारा पिपासा-पीड़ित जन-समाज को शीतलता और आनन्द का वितरण करना प्रारम्भ कर दिया है। पण्डित काशीनाथ उपाध्याय का जीवन-काल सम्राट् जहाँगीर का शासन-काल था। किसी कारण-वश एक कायस्थ परिवार सम्राट् का कोपभाजन हो गया। क्रमशः इस परिवार के समस्त पुरुष तलवार की घाट उतार दिये गये। वस्तुतः सम्राट् के कर्म्मचारियों ने तभी सन्तोष किया जब उन्हें विश्वास हो गया कि उक्त कुटुम्ब में कोई भी जीवित नहीं रह गया। किन्तु वास्तव में पं० काशीनाथ ने दो स्त्रियों और उनके बच्चों को अपने गृह में आश्रय दे दिया था। क्रमशः सम्राट् के अनुचरों को इस बात का सन्देह हुआ कि पं० काशीनाथ उपाध्याय के आश्रय में दण्डित परिवार की स्त्रियाँ और बच्चे जीवित हैं। इस सन्देह के परिणाम-स्वरूप सम्राट् की ओर से यह आज्ञा हुई कि यदि पं० काशीनाथ स्त्रियों का बनाया भोजन बच्चों के साथ खा लें तो सन्देह का निवारण हो जाय। पं० काशीनाथ ने स्त्रियों से भोजन तो नहीं बनवाया किन्तु उन्हें भोजन की तैयारी में सहायता देने दिया। इस सूक्ष्म अन्तर को सदेन्ह करने वाले न समझ सके। भोजन तैयार हो चुकने पर उन्होंने बच्चों को बाल भगवान समझ कर उनके साथ भोजन कर लिया। इस प्रकार उस समय तो सन्देह का शमन हो गया। किन्तु शीघ्र ही उन्हें यह स्पष्ट हो गया कि वातावरण अधिक समय तक शान्त नहीं रह सकेगा। इस कारण उन्होंने 'स्थान त्यागेन दुर्जनं' की नीति के अनुसार दिल्ली छोड़ देने का निश्चय किया। वे पहले संयुक्त प्रान्त के बदायूँ जिले में और बाद को आजमगढ़ से आठ मील पर दक्षिण-पश्चिम ओर तमसा के तट पर स्थित निजामाबाद नामक ग्राम में आकर बसे। इस ग्राम में पं० काशीनाथ उपाध्याय द्वारा आश्रय-प्राप्त स्त्रियों के वंशज अनेक परिवारों में विभक्त होकर निवास करते हैं और उपाध्याय-परिवार को बड़ी श्रद्धा-भक्ति की दृष्टि से देखते हैं। नीचे जो वंश-वृक्ष दिया जाता है उससे पाठकों को हरिऔध जी के कुछ पूर्व्वजों का परिचय मिल जायगा

हरिऔध जी और उनके छोटे भाई पं० गुरुसेवक उपाध्याय पं० भोला सिंह उपाध्याय के लड़के हैं। हरिऔध जी का जन्म सम्वत् १९२२ में वैशाख कृष्ण तृतीया को निजामाबाद में हुआ था।

२ (क) हरिऔध जी पर उनके चाचा पं० ब्रह्मा सिंह का यथेष्ट प्रभाव पड़ा। पं० ब्रह्मासिंह पुत्रहीन थे, अतएव उन्होंने अपना पितृ-हृदय-सुलभ वत्सल अनुराग हरिऔध और गुरुसेवक जी ही को प्रदान किया। वे कोई साधारण व्यक्ति नहीं थे; ज्योतिर्विद्या के अतिरिक्त अन्य अनेक शास्त्रों में भी उनकी गति थी। जैसे वे विद्वान् थे वैसे ही धर्म्म-निष्ठ भी। पाँच वर्ष की अवस्था के हो जाने पर उन्हीं के द्वारा शास्त्र-मर्य्यादानुसार हरिऔध का विद्यारम्भ कराया गया। दो वर्ष तक तो पं० ब्रह्मा सिंह उनको घर पर ही छोटी पुस्तकें पढ़ाते रहे। इसके बाद उन्होंने निजामाबाद के तहसीली मिडिल स्कूल में उन्हें भरती करा दिया। पं० ब्रह्मा सिंह उपाध्याय ही के आदर्श चरित्र का यह परिणाम है कि हरिऔध जी भी आदर्श चरित्रवान् हुए और उनकी कवित्व-शक्ति का उपयोग अधिकतर लोक-कल्याणकारी चरित्रों के अंकन अथवा गुण-

गान में हो रहा है। पं० ब्रह्मासिंह को श्रीमद्भागवत से बड़ा प्रेम था। वे प्रायः श्रीमद्भागवत के श्लोकों को पढ़ते पढ़ते प्रेम-विह्वल हो जाते और गद्गद चित्त से उन श्लोकों का अर्थ हरिऔध जी को सुनाया करते थे।

(ख) हरिऔध जी की माता का नाम श्रीमती रुक्मिणी देवी था। वे पढ़ी-लिखी थीं। उनका प्रिय ग्रंथ था 'सुख-सागर'। जब हरिऔध जी की अवस्था सात आठ वर्ष की थी, तब वे प्रायः उनसे सुख-सागर पढ़वाया करती थीं। श्रीकृष्ण का ब्रज से प्रयाण करने का प्रसंग उन्हें विशेष रुचिकर था। उसे पढ़ कर वे अविरल अश्रुधारा बहाया करती थीं। इस प्रकार पं० ब्रह्मासिंह जी भागवत चर्चा के प्रभाव के साथ श्रीमती रुक्मिणी देवी के कोमल चित्त की करुण छवि का आकर्षण संयुक्त होकर हरिऔध के हृदय को श्रीकृष्ण की ओर उन्मुख करने वाला सिद्ध हुआ। उस समय श्रीमती रुक्मिणी देवी को यह क्या मालूम रहा होगा कि उन दिव्य करुणा-प्रसूत आँसुओं को मोतियों के समान बहुमूल्य समझ कर उनका प्रिय बालक उन्हें अपने हृदय के किसी निगूढ़ स्थल में एकत्र करेगा और किसी दिन उन्हीं के द्वारा सजल-नयन यशोदा और राधा का चित्र अंकित करके सहृदय-संसार को चकित, मुग्ध और विह्वल कर देगा।

(ग) हरिऔध जी की धर्म्मपत्नी श्रीमती अनन्तकुमारी देवी का उनके व्यक्तित्व के विकास पर क्या प्रभाव पड़ा, इसका पता इसी से लग सकता है कि उनके देहान्त के बाद, अनेक लोगों के बहुत प्रयत्न करने पर भी, उन्होंने फिर विवाह करना अस्वीकार कर दिया। यह ध्यान देने योग्य बात है कि हरिऔध की अवस्था उस समय चालीस वर्ष की थी और लगभग पैंतालीस वर्ष की अवस्था में उन्होंने 'प्रिय-प्रवास' की रचना का श्रीगणेश किया। वियोगी कवि के लिए 'प्रिय-प्रवास' का विषय तो अनुकूल था ही। ऐसी अवस्था में क्या यह असम्भव है कि जिस समय हरिऔध ने 'प्रिय-प्रवास' की निम्नलिखित पंक्तियाँ लिखी थीं उस समय वे स्वर्गीया धर्म्मपत्नी की माधुर्य्यमयी स्मृतियों पर सांसारिक जीवन-संघर्ष का काला परदा पड़ने देख कर व्याकुल भी न होते रहे होंगे :—

प्राणाधारे परम सरले प्रेम की मूर्ति राधे।
निर्माता ने पृथक तुम से यों किया क्यों मुझे है।

प्यारी आशा मिलन जिससे नित्य है दूर होती।
कैसे ऐसे कठिन पथ का पान्थ मैं हो रहा हूँ।

जो दो प्यारे हृदय मिल के एक ही हो गये हैं।
क्यों धाता ने विलग उनके गात को यों किया है।

कैसे आके गुरु गिरि पड़े बीच में हैं उन्हीं के।
जो दो प्रेमी मिलित पय औ नीर से नित्यशः थे।

उत्कण्ठा के विवश नभ को भूमि को पादपों को।
ताराओं को मनुज मुख को प्रायशः देखता हूँ।

प्यारी ऐसी न ध्वनि मुझको है कहीं भी सुनाती।
जो चिन्ता से चलित चित की शान्ति का हेतु होवे।

इन पंक्तियों के अतिरिक्त विरह मग्न कवि के हृदय-सन्ताप ने प्रिय-प्रवास की न जाने कितनी अन्य पंक्तियों को जो उन्हें अमर बनाएँगी, सजीवता और सरसता प्रदान की होगी। जिस समय श्रीमती अनन्तकुमारी देवी का देहावसान हुआ उस समय, और उसके पहले हरिऔध जी को दफ़्तर जाने के लिए तैयार देख कर, उन्होंने जो कातर, व्याकुलतापूर्ण शब्द कहे थे, उनका वर्णन करते हुए एक दिन हरिऔध जी को मैंने सजल-विलोचन देखा और उनके आन्तरिक दाह का अनुमान किया था। हरिऔध जी की ब्रजभाषा की प्रायः सम्पूर्ण शृंगारिक रचनाएँ, जिन्होंने 'रस-कलस' के कलेवर को पुष्ट किया है, श्रीमती जी के देहान्त के पहले ही लिखी जा चुकी थीं। इन रचनाओं से पाठक को हरिऔध जी की रसिकता का परिचय मिलेगा और यह पता लगेगा कि वे शारीरिक लावण्य और कामना से आन्दोलित मानसिक वासना-लहरी के उत्थान-पतन में निहित सौन्दर्य्य के प्रति उदासीन नहीं हैं; सम्भवतः कोई भी कवि उदासीन नहीं हो सकता। ये सरस रचनाएँ जिस हृदय से प्रसूत हुई हैं उसके प्रणय का आधार-स्तम्भ ही टूट जाने पर निस्सन्देह उसे मार्मिक पीड़ा हुई होगी। पाठक देखें, नीचे दी गयी पंक्तियों में इस अनुभूत पीड़ा ने तड़पा देने की कितनी शक्ति भर दी है:—

जूही तू है विकचवदना शान्ति तू ही मुझे दे।
तेरी भीनी महँक मुझको मोह लेती सदा थी।
क्यों है प्यारी न वह लगती आज सच्ची बता दे।
क्या तेरी है महँक बदली या हुई और ही तू?।
जो होता है सुखित उसको वेदना दूसरों की।
क्या होती है विदित जब लौं भुक्त-भोगी न होवे।
तू फूली है हरित दल में बैठ के सोहती है।
क्या जानेगी कुसुम बनते म्लान की वेदनाएँ।

× × ×

जूही बोली न कुछ जतला प्यार बोली चमेली।
मैंने देखा युगल दृग से रंग भी पाटलों का।
तू बोलेगा सदय बन के ईदृशी है न आशा।
पूरा कोरा निठुरपन की मूर्ति ऐ पुष्प बेला।
जो प्रेमांगी परम बनके औ तदाकार होके।
पीड़ा मेरे हृदय-तल की पाटलों ने न जानी।
तो तू हो के धवल तन औ कुन्त आकार अंगी।
क्यों बोलेगा व्यथित चित की क्यों व्यथा जान लेगा।

× × ×

चम्पा तू है विकसित मुखी रूप औ रंगवाली।
पायी जाती सुरभि तुझ में एक सत्पुष्प सी है।
तो भी तेरे निकट न कभी भूल है भृङ्ग आता।
क्या है ऐसी कसर तुझ में न्यूनता कौन सी है?।
क्या पीड़ा है न कुछ इसकी चित्त के मध्य तेरे।
क्या तूने है मरम इसका अल्प भी जान पाया।
तू ने भी है सुमुखि अलि का कौन सा दोष ऐसा।
जो न मेरे सदृश प्रिय के प्रेम से वंचिता है।

× × ×

(ग) पं० गुरुसेवक उपाध्याय बी० ए० हरिऔध जी के छोटे भाई हैं, यह पाठकों को ज्ञान हो चुका है। वे हरिऔध जी से लगभग

: वर्ष छोटे हैं। अपनी आत्म-जीवनी में हरिऔध जी ने उनके
न्ध में इस प्रकार लिखा है :—

"श्री गुरुसेवक सिंह उपाध्याय ऐसे भक्तिमान कनिष्ठ सहोदर मेरी
ा और मनस्तुष्टि-साधन में संलग्न हैं। वरन् वास्तव बात यह है
मेरे वर्त्तमान सुख-स्वाच्छन्द्य का अधिकांश अब उक्त योग्य सहोदर
ी निर्भर है। और उन्हीं की सौजन्यशीलता, और गुरुजन-
ायणता का यह परिणाम है कि इन दिनों मैं अपना जीवन बहुत ही
ाेष और आनन्द के साथ व्यतीत करता हूँ। यदि मेरा यह सुख-
च्छन्द्य और संतोष न होता, तो इसमें कोई सन्देह नहीं कि इस
द्धमावस्था में न तो मुझसे कुछ नागरी देवी की सेवा हो सकती
न मैं कोई अन्य काम निश्चित भाव से कर सकता।"

पं० गुरुसेवक ने हाल ही में संयुक्त प्रान्त के बैंकों और सहयोग-
तियों के रजिस्ट्रार पद से अवसर ग्रहण किया है। इसके पहले
दिनों तक वे डिप्टी कलेक्टरी के पद पर रहे। पढ़ने के समय वे
सुयोग्य छात्र थे और प्रथम श्रेणी में उन्होंने बी० ए० परीक्षा पास
थी। इसी कारण डिप्टी कलेक्टरी के लिए उन्हें अधिक उद्योग नहीं
ा पड़ा था। जीवन के प्रथम चरण में जब उन्हें शासक का पद
ा, तब उनके कुटुम्बियों और सम्बन्धियों ने तो अपने आप को धन्य
झा ही होगा, स्वयं पं० गुरुसेवक को भी असीम आनन्द हुआ
ा। किन्तु उनमें देश की सच्ची सेवा करने की थोड़ी सी लगन शायद
म्भ से ही है। इसी भाव ने कालान्तर में उनके हृदय में असंतोष
सञ्चार किया और एक बार तो उन्होंने हिन्दू हाई स्कूल, काशी की
मास्टरी स्वीकार करके व्यावहारिक रूप से त्याग की ओर पैर
या। खेद है, जिस उच्चाकांक्षा से प्रेरित होकर उन्होंने यह पद ग्रहण
ा था उसकी पूर्ति वहाँ नहीं देखी। इससे विवश होकर उन्हें
टी कलेक्टरी ही पर फिर लौट जाना पड़ा। किन्तु उनके हृदय का
ोक्त असन्तोष ज्यों का त्यों बना ही रहा। उसके कारण सुयोग
स्थित होते ही उन्होंने सहयोग-विभाग में स्वयं को स्थानान्तरित

करा लिया; उन्हें आशा थी कि इस विभाग में रह कर वे देश के ग्रामीण समाज की अधिक सेवा कर सकेंगे।

पं० गुरुसेवक उपाध्याय को विचार-संग्रह करने की बड़ी रुचि है। बड़े तड़के नित्य-कार्य्य से निवृत्त होकर वे थोड़ा स्वाध्याय करते और उपयोगी तत्व पर मनन करते हैं। उन्हें सत्य के प्रति बड़ी ही निष्ठा है। देश-भक्ति और देश-सेवा का वे आदर करते हैं; किन्तु जब ये असत्य की प्रतिनिधि बन जाती हैं तब उन्हें इनके प्रति सहानुभूति नहीं रह जाती। फिर तो अपनी विरक्ति का भाव ये छिपा कर रखना जानते ही नहीं; कठोर से कठोर शब्दों में उसकी निन्दा करते हैं। जिन दिनों वे हिन्दू हाई स्कूल के हेडमास्टर थे, असहयोग की धूम थी; छात्रों को स्कूल में न जाने देने के लिए कुछ उत्साही लड़के धरना दे रहे थे। इस धरने में कुछ बल-प्रयोग का समावेश हो गया था। पं० गुरुसेवक उपाध्याय ने निर्भीकतापूर्वक कड़ाई से काम लिया। काशी के नेताओं ने छात्रों का पक्ष लिया; यद्यपि पं० गुरुसेवक को आशा थी कि वे अपने अनुयायियों को सन्तुष्ट करने की कोशिश न करके सत्य का पक्ष लेंगे। संयोग से महात्मा गांधी भी इस घटना के थोड़े ही समय बाद वहाँ पधारे। पं० गुरुसेवक उपाध्याय ने उनकी सेवा में जाकर इस प्रश्न पर उनसे बातचीत की। महात्मा जी ने सब बातें सुन कर उनसे कहा कि तुम्हारा कहना ठीक है, ग़लती उन लोगों की है। पं० गुरुसेवक का कहना है कि महात्मा जी के इस कथन का उन पर इतना अधिक प्रभाव पड़ा कि उस दिन से सदा के लिये उस महान् व्यक्तित्व के प्रति श्रद्धा और भक्ति की स्वर्ण-शृंखलाओं से वे बँध गये। सत्य के प्रति अनुराग ने एक राजविद्रोही नेता और एक सरकारी पदाधिकारी को एक दूसरे के इतना निकट ला दिया। श्री मद्भगवद्गीता पं० गुरुसेवक का प्रिय ग्रन्थ है, महाकवि रवीन्द्रनाथ टैगोर उनके प्रिय लेखक और महात्मा गांधी उनके प्रिय समाज-सुधारक हैं।

सरकारी नौकरी से पेंशन लेने के बाद पं० गुरुसेवक उपाध्याय उस व्यक्ति की तरह आनन्द का अनुभव नहीं कर रहे हैं, जिसने

जीवन भर अपना प्रिय कार्य्य किया हो और जो अब विश्राम का अधिकारी हो गया हो। जिस सेवा-भाव से प्रेरित होकर वे सहयोग-विभाग में कार्य्य करने के लिए गये थे उसकी, सरकारी वातावरण में परितृप्ति नहीं हो सकी, और उनकी दशा उस मधुप की सी बनी रही जो पंकज-कोष में बन्द हो जाने पर ममता के कारण न बाहर निकल सकता है और न भीतर पड़ा रहना पसंद करता है। काव्य के क्षेत्र में हरिऔध जी की शक्तियों के विकास को वे आदर की दृष्टि से देखते हैं और समाज-सुधार के क्षेत्र में वैसा ही विकास अपनी शक्तियों का चाहते हैं। यदि देश की राजनीतिक अशान्ति ने महात्मा गांधी और सरकार को दो विरोधी पक्षों में न परिणत कर दिया होता और महात्मा जी जेल के बाहर होते तो अनेक वर्षों पहले हम पं० गुरुसेवक उपाध्याय को महात्मा जी के आश्रम में समाज-सुधार के कार्य्य का श्रीगणेश करने के लिए किसी योजना के सम्बन्ध में उनके साथ परामर्श करते पाते। आजकल वे महात्मा जी के प्राण-प्रिय अस्पृश्यता-निवारण कार्य्य में संलग्न हैं।

पं० गुरुसेवक को आर्य्य सभ्यता और संस्कृति के प्रति बड़ी श्रद्धा है। उनकी यह श्रद्धा उस दुर्बलता की सीमा को लाँघ चुकी है जो पग-पग पर हमें अपने सद्विचारों को कार्य्य-रूप में नहीं परिणत करने देती। पूर्ण सत्य को धारण करना हम अपूर्ण मनुष्यों का काम नहीं है; हम अधिक से अधिक लड़खड़ाते पैरों को लेकर उसके पास पहुँचने का प्रयत्न कर सकते हैं। पं० गुरुसेवक की भी यही स्थिति है। उनके सम्बन्ध में यह तो नहीं कहा जा सकता कि वे जिसे सत्य समझते हैं उसी को करते हैं, किन्तु निस्सन्देह अपनी शक्ति भर वे ऐसा ही करने का उद्योग करते हैं। सरकारी पदाधिकारी होने के कारण राजनीतिक क्षेत्र में उनका काम असम्भव था और है, परन्तु इस सम्बन्ध में उनकी विवशता भी सामाजिक क्षेत्र में उन्हें अधिक क्रियाशील बनाने में सफल हुई। वे सनाढ्य ब्राह्मण हैं। अन्य ब्राह्मणों की तरह सनाढ्यों में भी विलायत-यात्रा वर्जित है। परन्तु जब आवश्यकता पड़ी

करा लिया; उन्हें आशा थी कि इस विभाग में रह कर वे देश के ग्रामीण समाज की अधिक सेवा कर सकेंगे।

पं० गुरुसेवक उपाध्याय को विचार-संग्रह करने की बड़ी रुचि है। बड़े तड़के नित्य-कार्य्य से निवृत्त होकर वे थोड़ा स्वाध्याय करते और उपयोगी तत्व पर मनन करते हैं। उन्हें सत्य के प्रति बड़ी ही निष्ठा है। देश-भक्ति और देश-सेवा का वे आदर करते हैं; किन्तु जब ये असत्य की प्रतिनिधि बन जाती हैं तब उन्हें इनके प्रति सहानुभूति नहीं रह जाती। फिर तो अपनी विरक्ति का भाव ये छिपा कर रखना जानते ही नहीं; कठोर से कठोर शब्दों में उसकी निन्दा करते हैं। जिन दिनों वे हिन्दू हाई स्कूल के हेडमास्टर थे, असहयोग की धूम थी; छात्रों को स्कूल में न जाने देने के लिए कुछ उत्साही लड़के धरना दे रहे थे। इस धरने में कुछ बल-प्रयोग का समावेश हो गया था। पं० गुरुसेवक उपाध्याय ने निर्भीकतापूर्वक कड़ाई से काम लिया। काशी के नेताओं ने छात्रों का पक्ष लिया; यद्यपि पं० गुरुसेवक को आशा थी कि वे अपने अनुयायियों को सन्तुष्ट करने की कोशिश न करके सत्य का पक्ष लेंगे। संयोग से महात्मा गांधी भी इस घटना के थोड़े ही समय बाद वहाँ पधारे। पं० गुरुसेवक उपाध्याय ने उनकी सेवा में जाकर इस प्रश्न पर उनसे बातचीत की। महात्मा जी ने सब बातें सुन कर उनसे कहा कि तुम्हारा कहना ठीक है, गलती उन लोगों की है। पं० गुरुसेवक का कहना है कि महात्मा जी के इस कथन का उन पर इतना अधिक प्रभाव पड़ा कि उस दिन से सदा के लिये उस महान् व्यक्तित्व के प्रति श्रद्धा और भक्ति की स्वर्ण-शृंखलाओं से वे बँध गये। सत्य के प्रति अनुराग ने एक राजविद्रोही नेता और एक सरकारी पदाधिकारी को एक दूसरे के इतना निकट ला दिया। श्री मद्भगवद्गीता पं० गुरुसेवक का प्रिय ग्रन्थ है, महाकवि रवीन्द्रनाथ टेगोर उनके प्रिय लेखक और महात्मा गांधी उनके प्रिय समाज-सुधारक हैं।

सरकारी नौकरी से पेंशन लेने के बाद पं० गुरुसेवक उपाध्याय उस व्यक्ति की तरह आनन्द का अनुभव नहीं कर रहे हैं, जिसने

जीवन भर अपना प्रिय कार्य्य किया हो और जो अब विश्राम का अधिकारी हो गया हो। जिस सेवा-भाव से प्रेरित होकर वे सहयोग-विभाग में कार्य्य करने के लिए गये थे उसकी, सरकारी वातावरण में परितृप्ति नहीं हो सकी, और उनकी दशा उस मधुप की सी बनी रही जो पंकज-कोष में बन्द हो जाने पर ममता के कारण न बाहर निकल सकता है और न भीतर पड़ा रहना पसंद करता है। काव्य के क्षेत्र में हरिऔध जी की शक्तियों के विकास को वे आदर की दृष्टि से देखते हैं और समाज-सुधार के क्षेत्र में वैसा ही विकास अपनी शक्तियों का चाहते हैं। यदि देश की राजनीतिक अशान्ति ने महात्मा गांधी और सरकार को दो विरोधी पक्षों में न परिणत कर दिया होता और महात्मा जी जेल के बाहर होते तो अनेक वर्षो पहले हम पं० गुरुसेवक उपाध्याय को महात्मा जी के आश्रम में समाज-सुधार के कार्य्य का श्रीगणेश करने के लिए किसी योजना के सम्बन्ध में उनके साथ परामर्श करते पाते। आजकल वे महात्मा जी के प्राण-प्रिय अस्पृश्यता-निवारण कार्य्य में संलग्न हैं।

पं० गुरुसेवक को आर्य्य सभ्यता और संस्कृति के प्रति बड़ी श्रद्धा है। उनकी यह श्रद्धा उस दुर्बलता की सीमा को लाँघ चुकी है जो पग-पग पर हमें अपने सद्विचारों को कार्य्य-रूप में नहीं परिणत करने देती। पूर्ण सत्य को धारण करना हम अपूर्ण मनुष्यों का काम नहीं है; हम अधिक से अधिक लड़खड़ाते पैरों को लेकर उसके पास पहुँचने का प्रयत्न कर सकते हैं। पं० गुरुसेवक की भी यही स्थिति है। उनके सम्बन्ध में यह तो नहीं कहा जा सकता कि वे जिसे सत्य समझते हैं उसी को करते हैं, किन्तु निस्सन्देह अपनी शक्ति भर वे ऐसा ही करने का उद्योग करते हैं। सरकारी पदाधिकारी होने के कारण राजनीतिक क्षेत्र में उनका काम असम्भव था और है, परन्तु इस सम्बन्ध में उनकी विवशता भी सामाजिक क्षेत्र में उन्हें अधिक क्रियाशील बनाने में सफल हुई। वे सनाढ्य ब्राह्मण हैं। अन्य ब्राह्मणों की तरह सनाढ्यों में भी विलायत-यात्रा वर्जित है। परन्तु जब आवश्यकता पड़ी

तब उन्होंने निस्संकोच भाव से विलायत-यात्रा की। उपयोगी सुधारों के ग्रहण करने के लिए वे कितने तैयार रहा करते हैं, इसका ज्ञान कराने के लिए यहाँ मैं एक उदाहरण देता हूँ। स्वर्गीय पं० रामावतार शर्मा एम० ए० सरयूपारीण ब्राह्मण थे। एक दिन वे पं० गुरुसेवक से मिलने के लिए आये। बातों ही बातों में उन्होंने अपनी कन्या का विवाह पं० गुरुसेवक के ज्येष्ठ पुत्र पं० चन्द्रदेव उपाध्याय बी० ए० से करके आपस की मित्रता को रक्त-सम्बन्ध में परिणत करने की इच्छा प्रकट की। पं० गुरुसेवक तुरन्त ही तैयार हो गये। खेद है, पं० रामावतार शर्मा के कुछ अन्य सम्बन्धियों ने इस 'क्रान्ति' को नापसंद किया और ब्राह्मण-समाज में युग-प्रवर्त्तक यह विवाह होते होते रुक गया।

यों तो पं० गुरुसेवक के प्रथम दर्शन मैंने तभी किये थे जब वे हिन्दू हाई स्कूल के हेड मास्टर थे, लेकिन उस समय उनका कुछ विशेष परिचय नहीं मिल सका था। किन्तु जब हरिऔध जी के कार्य्य के प्रसंग से मुझे काशी में लम्बा प्रवास करना पड़ा तब उनके व्यक्तित्व की अनेक विभूतियों का परिचय पाकर मैं बहुत आनन्दित हुआ। मैं कह आया हूँ कि सद्विचार-संग्रह के लिए वे सदैव उत्सुक रहते हैं। जिसकी प्रवृत्तियाँ लोक-कल्याण की ओर हों, किन्तु उचित अवसर और उपयुक्त क्षेत्र के अभाव में जो उनकी परितृप्ति करने में असमर्थ हो, उसकी प्रकृति की यह विशेषता सर्व्वथा स्वाभाविक है। सौभाग्य से विचार-विनिमय के लिए हरिऔध जी उनके निकट ही वर्त्तमान रहते हैं। कभी कभी दोनों भाइयों में विचार-विनिमय के सिलसिले में महत्त्वपूर्ण विषयों पर जो वार्त्तालाप होता है वह सारपूर्ण और आकर्षक दोनों होता है। इस प्रकार का पहला वार्त्तालाप, जो मैंने सुना था, राधा के संबंध में था। हिन्दी कवियों ने राधा का जो परकीया नायिका-रूप अंकित किया है, उसी के सूत्र से परकीयत्व की सीमा के सम्बन्ध में चर्चा चल पड़ी। नायिका परकीया तभी हो सकती है जब वह पर-पुरुष से अनुराग करे और वह अनुराग मानसिक वासनाओं से निर्लिप्त न हो। यदि राधा का श्रीकृष्ण के प्रति ऐसा ही अनुराग था, साथ ही राधा के अभिभावकों

के संकल्प के कारण यदि—जहाँ तक राधा का सम्बन्ध है—श्रीकृष्ण में परपुरुषत्व का आरोप किया जा सकता है, तब तो उनका परकीया कहा जाना उचित है, किन्तु यदि राधा के माता पिता को विरोध नहीं है, और राधा ने श्रीकृष्ण को अपने पति के रूप में कल्पित कर लिया है, अथवा उनका प्रणय मानसिक वासनाओं से परे है, तब वे परकीया कैसे कही जा सकती हैं ? पं० गुरुसेवक जहाँ तक मुझे स्मरण है इसी तरह की बातें कह रहे थे और हरिऔध जी किसी अन्य दृष्टिकोण से इस विषय पर अपनी सम्मति प्रगट कर रहे थे। दोनों स्नेही भ्राताओं की इस बातचीत को मैं ध्यान से सुनता रहा। मुझे उक्त वार्त्तालाप में व्यक्त होने वाली युगल बंधुओं की विचारशीलता से भी अधिक इस वार्त्तालाप की उस शैली से आनन्द मिल रहा था जो छोटे भाई के व्यक्तित्व को बड़े भाई के व्यक्तित्व से स्पष्ट रूप से पृथक् करके दिखा रही थी। उसी दिन मुझे दोनों भाइयों की मत-भिन्नता का रहस्य दृष्टि-कोण की विभिन्नता के रूप में हृदयंगम हो गया।

जिन दिनों हरिऔध जी के 'हिन्दी साहित्य का विकास' नामक व्याख्यान की तैयारी हो रही थी उन दिनों संयोग से पं० गुरुसेवक भी काशी में कुछ अधिक ठहर गये। इससे उक्त प्रकार के वार्त्तालापों को सुनने का अवसर मुझे प्रायः मिलता रहा। व्याख्यान के लिए पटना विश्वविद्यालय से कई बार तक़ाज़ा आ चुका था और विषय-विस्तार के कारण व्याख्यान समाप्त नहीं हो रहा था। सवेरे सात बजे से लेकर लगभग साढ़े नौ तथा कभी कभी दस और ग्यारह बजे तक, फिर संध्या को साढ़े छः बजे से लेकर नौ साढ़े नौ बजे तक नियमित रूप से काम किया जा रहा था। सवेरे तो पं० गुरुसेवक का समय अधिकतर टहलने और शरीर में तेल की मालिश करके स्नानादि करने में निकल जाता था, किन्तु सन्ध्या को जब वे घूम कर आते तो हरिऔध जी से प्रायः कुछ बातें अवश्य करते। उन्हें यह तो मालूम था ही कि व्याख्यान का समय कई बार टाला जा चुका है, और उसे पूरा करने के लिए हरिऔध जी अत्यन्त व्यग्र हैं। यही नहीं, हरिऔध जी के अथक परिश्रम

को देख कर एकाध बार उन्होंने यह सम्मति भी प्रकट की थी कि इस वृद्धावस्था में उन्हें इतने श्रम-साध्य कार्य्य को न स्वीकार करना चाहिए। ऐसी स्थिति में पं० गुरुसेवक हरिऔध जी का अधिक समय लेने के लिए आते रहे हों, यह संभव नहीं। मेरी समझ में दस पन्द्रह मिनटों से अधिक ठहरने के लिए वे हरिऔध जी के पास शायद ही आते रहे होंगे। किन्तु दोनों भाइयों की साधारण बातचीत भी घण्टे-पौन घण्टे से कम नहीं ले लेती थी, कभी कभी तो बात का सिलसिला साढ़े नौ बजे ही टूटता था, जब काम समाप्त करके भोजन ग्रहण करने का समय हो जाता था! हरिऔध जी का पं० गुरुसेवक के प्रति अपार स्नेह है, जैसा पं० गुरुसेवक उपाध्याय का भी उनके प्रति है। हरिऔध जी उनकी योग्यता का आदर करते हैं और योग्य लघु भ्राता को पाकर अपने को गौरवान्वित समझते हैं। इसी तरह पं० गुरुसेवक भी अपने यशस्वी भाई का सम्मान करते हैं और उन्हें श्रद्धा की दृष्टि से देखते हैं। ऐसी अवस्था में यह कब संभव था कि हरिऔध जी पं० गुरुसेवक की बात-चीत के प्रति उदासीन रहें अथवा पं० गुरुसेवक हरिऔध जी की कार्य-व्यस्तता के कारण, जो उनके दैनिक जीवन का अंग है, अपने आपको उससे सर्वथा अलग रख सकें।

पं० गुरुसेवक के सम्बन्ध में अपने कथन का जो मैंने इतना विस्तार किया है, उसका एक कारण है। उनके व्यक्तित्व के सम्पर्क में हरिऔध जी के जीवन का अधिकांश काल बीता है, और जिस तरह के वार्त्तालापों की चर्चा मैंने की है वे अब तक न जाने कितनी अधिक संख्या में हुए हैं तथा उनका भी कुछ न कुछ प्रभाव हरिऔध जी के व्यक्तित्व-विकास पर पड़ा है। इन वार्तालापों की जिस विशेषता ने मेरा ध्यान आकर्षित किया है वह है शीघ्र ही किसी ऐसे स्थल का आ जाना, जहां एक दूसरे के विचार आपस में टकराने लगते हैं। इस मत-भेद का उद्गम कहां है? इस प्रश्न का उत्तर ढूंढने का एक क्षीण प्रयत्न यहां इस उद्देश्य से किया जायगा कि हरिऔध जी की विचार-धारा का वर्त्तमान स्वरूप हृदयंगम करने में पाठकों को विशेष कठिनाई का सामना न करना पड़े।

सृष्टि के भीतर प्राणी मात्र की जो अनन्त चेष्टाएँ प्रति पल क्रियाशील हो रही हैं उनपर विचार करने के दो दृष्टिकोण हैं। एक आध्यात्मिक और दूसरा भौतिक। आध्यात्मिक दृष्टिकोण स्थूलजगत् के समस्त व्यापारों को नश्वरता से पीड़ित, तथा इसी कारण मिथ्या मानता है। उदाहरण के लिए यदि राम का पुत्र स्वर्गगामी हो गया, तो राम अपने व्यापक आध्यात्मिक अनुभव के कारण विषाद का अनुभव नहीं करेगा, क्योंकि उसकी दूरगामिनी दृष्टि उसके उत्पन्न होने पर ही उसके मरण का चित्र अपने सामने प्रस्तुत पा चुकी थी। इसी प्रकार यदि किसी शत्रु ने राम पर आक्रमण किया तो राम को जितना आनन्द अपने शत्रु को क्षमा करने में मिलेगा उतना उसे दण्डित करने अथवा औरों द्वारा दण्डित कराने में नहीं मिलेगा। हाँ, यदि शत्रु के दण्डित होने में वह उसी का अथवा संसार का कोई कल्याण समझेगा तब वह भले ही अपने हृदय को इस परिस्थिति के अनुकूल बना ले। आध्यात्मिक दृष्टिकोण सदा ही सत्य का सहचर है; उसमें छल-प्रपंच द्वारा विजय प्राप्त करने की, लाभ उठा लेने की लालसा नहीं है। जिस आधार पर सम्पूर्ण विश्व के जीवन का नियमन हो रहा है उसे प्रदान कर वह व्यक्ति को भी महा-शक्तिशाली बना देता है, जिसके सम्मुख बड़े बड़े सम्राटों की बोलती बंद हो जाती है। आध्यात्मिक दृष्टिकोण आशा निराशा का, पक्षपात और घृणा का द्वार बंद कर देता है; क्योंकि वह तो अपने आप तृप्त है; सम्पूर्ण विश्व ही उसका सगा है। इसके विपरीति भौतिक दृष्टिकोण मनोविकारों को उचित से अधिक महत्त्व देकर उनकी क्षणिक तृप्ति के लिए उद्योगशील होता है। उदाहरण के लिए श्याम पर किसी शत्रु ने आक्रमण किया और उससे श्याम की किसी प्रकार की हानि हुई। हानि की भावना से तत्काल उत्पन्न होने वाले मनोविकार क्रोध का शमन करने के लिए वह अपने शत्रु का विध्वंस करने का प्रबल प्रयत्न करेगा। इस प्रयत्न की सफलता के लिए वह अपने समस्त मित्रों का संगठन करेगा और उचित-अनुचित सभी अवसरों पर अपने मित्रों को भी सहायता देने की प्रतिज्ञा करेगा।

अधिक भरोसा रहता है। जब तक वह अपनी शक्तियों को उक्त सत्ता के विरोध में नहीं खड़ा करता तब तक तो वह उसे ईश्वर नाम से सम्बोधित करता है, किन्तु जब मुठभेड़ हो जाती है और आशा-निराशा का द्वन्द्व उपस्थित हो जाता है तब हार कर, हैरान होकर, सम्पूर्ण विश्व में अपने आपको अकेला पाकर भौतिक दृष्टिकोण का समर्थक कभी कभी आत्म-हत्या करने पर विवश हो जाता है। जब मनुष्य घटनाओं पर विचार करने-योग्य हो जाता है तब उसके हृदय में आध्यात्मिक और भौतिक दृष्टिकोण-विषयक संघर्ष उत्पन्न हो जाता है और जब तक भौतिक पक्ष की अपूर्णता अपने आप को आध्यात्मिक दृष्टिकोण की पूर्णता के भीतर निमज्जित नहीं कर देती तब तक इस संघर्ष का अन्त नहीं हो सकता। वास्तव में इसी संघर्ष के वातावरण में व्यक्ति का जीवन विकसित होता है और ज्यों ज्यों उसके व्यक्तित्व को चारों ओर से घेर रखने वाले बंधनों का अन्त होता है, त्यों त्यों वह अलौकिक आनन्द का अनुभव करता जाता है। साधारणतया मानव-व्यक्तित्व में इन दोनों पक्षों का ऐसा सम्मिश्रण रहता है कि उसमें किसका कितना अंश विद्यमान है, यह कहना प्रायः असम्भव हो जाता है। फिर भी प्रवृत्तियों का निर्देश करना कठिन नहीं है।

पं० गुरुसेवक के जीवन में थोड़ी-बहुत आध्यात्मिक प्रेरणा का प्रभाव दिखायी पड़ता है। निस्सन्देह उसकी शक्ति अधिक नहीं है, किन्तु आगे मैं जो कुछ लिखूँगा उससे पाठकों को यह निश्चय हुए बिना नहीं रहेगा कि हरिऔध जी के व्यक्तित्व में आध्यात्मिक पक्ष की जितनी प्रबलता है उससे वह अधिक है। यह कहने की आवश्यकता नहीं कि दोनों बन्धु हिन्दू समाज की हीन अवस्था पर प्रायः दृष्टिपात करते हैं; पं० गुरुसेवक समाज-सुधारक की हैसियत से और हरिऔध जी कवि की हैसियत से। महाकवि रवीन्द्रनाथ टैगोर और महात्मा गान्धी ने भी इस विषय में बहुत कुछ प्रकाश डाला है; पं० गुरुसेवक का दृष्टिकोण उससे बहुत प्रभावित है। समाज-सुधार के सम्बन्ध में टैगोर और गांधी के विचार आध्यात्मिक दृष्टिकोण से ही प्रसूत हुए हैं। अतएव,

(१) क्या तुमने अपने आश्रितों की रक्षा का उचित प्रवन्ध किया और आवश्यकता पड़ने पर क्या तुमने अपने जीवन का भी उत्सर्ग किया (२) क्या तुमने विपक्षियों के असहाय आश्रितों के साथ सद्व्यवहार किया ? यदि इन दोनों प्रश्नों के स्वीकारात्मक उत्तर दिये जा सकेंगे तो ईश्वर के सामने हिन्दू निर्दोष होकर अमरता के अधिकारी होंगे, किन्तु यदि उक्त समाज-सुधारक हिन्दुओं में ऐब पावेगा तो क्या वह सत्य कहने में, हिन्दुओं की आलोचना करने में संकोच करेगा ? नहीं, यह नहीं हो सकता। टैगोर और गांधी के सामाजिक विचार कुछ इसी ढंग के हैं।

जिस समाज-सुधारक के विचार ऐसे नहीं हैं, वह मनुष्यता की परवा नहीं करेगा; वह प्रतिहिंसा को ही महत्त्व देगा, क्योंकि उसके व्यक्तित्व को तो शत्रु की प्रत्यक्ष हानि के घेरे के वाहर का संसार दिखायी नहीं पड़ सकता। प्रतिहिंसा की मरुभूमि में करुणा और सहृदयता का पौधा भला कैसे पनपेगा ? इसके परिणाम-स्वरूप देश में तब तक अशान्ति और उपद्रव का राज्य रहेगा जब तक युद्ध-रत जातियों में से एक का अन्त नहीं हो जायगा। इस तरह के समाज-सुधारकों को मैंने हिन्दुओं की मनुष्यता ही को दुर्वलता बता कर त्याज्य कहते हुए सुना है, क्योंकि वे चाहते हैं कि मुसलमानों की तरह हिन्दू अबलाओं और बच्चों का वध करने में निठुरता से काम लें। वे यह भूल जाते हैं कि बच्चों और स्त्रियों का वध कराने वाली क्रूरता के अधिकारी होने के कारण मुसलमान नहीं प्रबल हैं, वल्कि उस मनुष्यता के कारण ऐसे हैं जिसने, एक सीमित क्षेत्र ही में सही, उनमें से प्रत्येक को दूसरे के प्रति भ्रातृ-भाव का अनुभव करना सिखलाया है।

पं० गुरुसेवक का सृष्टि के नैतिक विधान में पूर्ण विश्वास है, उनका मत है कि नैतिक नियमों की अवहेलना करनेवाले को कभी न कभी उचित दण्ड अवश्य मिलता है। पं० गुरुसेवक हिन्दुओं के दोषों की स्पष्ट रूप से चर्चा करते हैं; थोथी निस्सार रीतियों और रस्मों के प्रति विद्रोह करते हैं। हरिऔध जी में भी यह बात पायी

आध्यात्मिक पक्ष भारतीय समाज की उलझनों को किस प्रकार हल करेगा, इस पर भी थोड़ा विचार कर लेना आवश्यक है।

अध्यात्मवाद मनुष्य को हिन्दू और मुसलमान कह कर नहीं, मनुष्य कह कर पुकारेगा। मानव व्यक्तित्व के क्षेत्र में मनुष्यत्व की संज्ञा से अवतीर्ण होकर वह भारतवर्ष की विभिन्न ईर्ष्या-द्वेष-रत जातियों के सम्मुख प्रेम की वह सुरीली बाँसुरी बजावेगा जो उन्हें गोपियों सी उन्मत्त बनाकर अहंकार और ममता से भरे हुए घरों में से उस निकुञ्ज की ओर ठेल देगा जहाँ भेद-भाव का नाम नहीं। संसार के इतिहास में मनुष्यता के कारण न किसी व्यक्ति का लोप हुआ और न किसी जाति का, और यदि हिन्दुओं में मनुष्यता रहेगी तो उनका नाश भी असम्भव है। लड़ने के लिए आये हुए शत्रु को युद्ध-दान न देना तो कायरता और जीवन का मोह है, किन्तु उसको पराजित करने के बाद उसकी स्त्री अथवा कन्या पर अत्याचार करना निन्द्य श्रेणी की पाशविकता। दुर्योधन ने पांडवों पर ऐसी ही पाशविकता की थी जब द्रौपदी को नंगी करके उसे अपने जंघे पर बैठाना चाहा था। ऐसा मनुष्यता-हीन अनाचारी अपने आप मरता है; उसे मारने की आवश्यकता नहीं पड़ती, जैसा कि श्रीकृष्ण ने अर्जुन से कहा था:—

† तस्मात् त्वमुत्तिष्ठ यशो लभस्व जित्वा शत्रून् भुङ्क्ष्व राज्यं समृद्धम्।
मयैवैते निहता पूर्वमेव निमित्त मात्रं भव सव्यसाचिन्।

‡ द्रोणं च भीष्मं जयद्रथं च कर्णं तथान्यानपियोधवीरान्।
मया हतास्त्वं जहि मा व्यथिष्ठा युद्धस्व जेतासि रणे सपत्नान्।

ऐसी अवस्था में जब कभी हिन्दुओं और मुसलमानों में लड़ाई होगी तब अध्यात्मवादी समाज-सुधारक हिन्दुओं से यही प्रश्न पूछेगा—

---

† इसलिए तू उठ खड़ा हो, कीर्ति प्राप्त कर, शत्रु को जीतकर धन धान्य से भरा हुआ राज्य भोग। इन्हें मैंने पहले ही से मार रखा है। हे सव्यसाची! तू तो निमित्त रूप हो जा।

‡ द्रोण, भीष्म, जयद्रथ, कर्ण और अन्यान्य योद्धाओं को मैं मार ही चुका हूँ। उन्हें तू मार, डर मत, लड़, शत्रु को तू रण में जीतने को है।

(१) क्या तुमने अपने आश्रितों की रक्षा का उचित प्रबन्ध किया और आवश्यकता पड़ने पर क्या तुमने अपने जीवन का भी उत्सर्ग किया (२) क्या तुमने विपत्तियों के असहाय आश्रितों के साथ सद्व्यवहार किया ? यदि इन दोनों प्रश्नों के स्वीकारात्मक उत्तर दिये जा सकेंगे तो ईश्वर के सामने हिन्दू निर्दोष होकर अमरता के अधिकारी होंगे, किन्तु यदि उक्त समाज-सुधारक हिन्दुओं में ऐब पावेगा तो क्या वह सत्य कहने में, हिन्दुओं की आलोचना करने में संकोच करेगा ? नहीं, यह नहीं हो सकता। टैगोर और गांधी के सामाजिक विचार कुछ इसी ढंग के हैं।

जिस समाज-सुधारक के विचार ऐसे नहीं हैं, वह मनुष्यता की परवा नहीं करेगा; वह प्रतिहिंसा को ही महत्त्व देगा, क्योंकि उसके व्यक्तित्व को तो शत्रु की प्रत्यक्ष हानि के घेरे के बाहर का संसार दिखायी नहीं पड़ सकता। प्रतिहिंसा की मरुभूमि में करुणा और सहृदयता का पौधा भला कैसे पनपेगा ? इसके परिणाम-स्वरूप देश में तब तक अशान्ति और उपद्रव का राज्य रहेगा जब तक युद्ध-रत जातियों में से एक का अन्त नहीं हो जायगा। इस तरह के समाज-सुधारकों को मैंने हिन्दुओं की मनुष्यता ही को दुर्बलता बता कर त्याज्य कहते हुए सुना है, क्योंकि वे चाहते हैं कि मुसलमानों की तरह हिन्दू अबलाओं और बच्चों का वध करने में निठुरता से काम लें। वे यह भूल जाते हैं कि बच्चों और स्त्रियों का वध कराने वाली क्रूरता के अधिकारी होने के कारण मुसलमान नहीं प्रबल हैं, बल्कि उस मनुष्यता के कारण ऐसे हैं जिसने, एक सीमित क्षेत्र ही में सही, उनमें से प्रत्येक को दूसरे के प्रति भ्रातृ-भाव का अनुभव करना सिखलाया है।

पं० गुरुसेवक का सृष्टि के नैतिक विधान में पूर्ण विश्वास है, उनका मत है कि नैतिक नियमों की अवहेलना करनेवाले को कभी न कभी उचित दण्ड अवश्य मिलता है। पं० गुरुसेवक हिन्दुओं के दोषों की स्पष्ट रूप से चर्चा करते हैं; थोथी निस्सार रीतियों और रस्मों के प्रति विद्रोह करते हैं। हरिऔध जी में भी यह बात पायी

जाती है। परन्तु मात्रा में अवश्य अन्तर है। परिवार के दैनिक जीवन में किसी संकट के आने पर पं० गुरुसेवक में हरिऔध जी की अपेक्षा अधिक धीरता और गम्भीरता देखी जाती है। पं० गुरुसेवक की प्रवृत्ति आध्यात्मिक दृष्टिकोण को ग्रहण करने की ओर है, भले ही उन्होंने सम्यक् रूप से उसके प्रति आत्म-समर्पण न कर पाया हो। इस दिशा में हरिऔध जी का दृष्टिकोण जो उत्तरोत्तर विकसित होता गया है उसका एक कारण मैं उन पर अनिवार्य्य रूप से पड़ने वाले पं० गुरुसेवक के घनिष्ट सम्पर्क-जनित प्रभाव को मानता हूँ।

एक बार वार्त्तालाप में पं० गुरुसेवक ने अपनी प्रकृति के अनुसार हिन्दुओं की कुछ आलोचना कर दी। उस समय तो हरिऔध जी ने साधारण उत्तर देने के अतिरिक्त कुछ नहीं किया। किन्तु भोजन करने समय उन्होंने कहा—"हम बच्चू† से बहस नहीं करना चाहते, लेकिन जब कोई हिन्दुओं ही पर दोष लगाता है तब हमको बड़ी पीड़ा होती है।" जिस समय उन्होंने ये बातें कहीं, उनकी आँखें भर आयी थीं, जिन्हें देख कर हरिऔध जी की जातीय ममता के प्रति मेरे हृदय में श्रद्धा का भाव उमड़ आया था। जो हो सुधारक की दृष्टि से हरिऔध जी की अपेक्षा पं० गुरुसेवक हिन्दुओं को कसौटी पर अधिक दृढ़ता से कसते हैं।

सन् १९३२ में काशी में हरिकीर्त्तन का बड़ा समारोह हुआ था। उसके अध्यक्ष कोई साधु-महात्मा थे। हरिकीर्त्तन के जुलूस में सम्मिलित होने का हरिऔध जी को बहुत उत्साह था। कई दिनों पहले से ही जो कोई मिलने आता था उससे हरिकीर्त्तन की चर्चा किये बिना न रहते। नियत दिन आने पर मोटर तैयार करायी गयी और वे अपने पौत्रों को लेकर टाउन हाल की ओर रवाना हुए। साथ साथ मैं भी था। टाउन हाल में जाने पर मालूम हुआ कि अभी कुछ देर है। हरिऔध जी ने मोटर राजघाट स्टेशन की ओर चलवा दी। रास्ते में लगभग ५०० आदमियों का एक छोटा सा जुलूस दिखायी दिया। उस समय न जाने

† पं० गुरुसेवक का प्यार का नाम।

किन स्मृतियों अथवा प्रभावों से उनकी आँखों में पानी भर आया। जुलूस भर में इस प्रकार के भाव से अभिभूत कोई व्यक्ति न रहा होगा।

दूसरे दिन जब हम लोगों का सवेरे का काम लगभग समाप्त था तब पं० गुरुसेवक भी वहीं आ गये। हरिऔध जी के पौत्र मुकुन्द देव शर्मा ने पिछले दिन के जुलूस की चर्चा की। ज्यों ही पं० गुरु-सेवक को मालूम हुआ कि साधु सभापति बड़े ठाटबाट के साथ गाड़ी में विराजमान थे त्योंही उन्होंने कहा कि यह तो ठीक नहीं। पं० गुरुसेवक गृहस्थ जीवन में सांसारिक सुखों की सामग्री जुटाना बुरा नहीं मानते, परन्तु उनका मत है कि जिन्होंने संसार को त्याग दिया है, उन्हें तो सांसारिक विभव का तिरस्कार ही करना चाहिए। उनका अभिप्राय यह था कि हरिकीर्त्तन के अध्यक्ष को अपनी भगवद्भक्ति का, विराग का, त्याग का परिचय देते हुए कीर्त्तनस्थल में आना चाहिए था। हरिऔध जी यदि विशुद्ध आध्यात्मिक दृष्टिकोण से इस प्रश्न को देखते तो उन्हें विभिन्न मत ग्रहण न करना पड़ता। परन्तु वे तो हिन्दू समाज के ऐश्वर्य्य और विभव-प्रदर्शन के पक्षपाती हैं। उनका कहना है कि जैसे रोम के पोप का और मुसलमानों के ख़लीफ़ा का 'पद' प्रदर्शन का साधन बनाया जाता है, वैसे ही जब कोई साधु हिन्दू समाज का प्रतिनिधि होकर सबके सामने आवे तब उसके ठाटबाट में हिन्दू समाज की समस्त वैभव-शालिता का समावेश क्यों न हो?

उक्त दृष्टिकोण की भिन्नता से भी दोनों भाइयों के व्यक्तित्व और विचार-परम्परा का बहुत कुछ पता चलता है। किन्तु ऊपर मैं लिख आया हूँ कि पं० गुरुसेवक का हरिऔध जी पर कुछ प्रभाव पड़ता रहा है। हरिऔध जी के अध्ययन और चिन्तन के साथ सहयोग करके इस प्रभाव ने उनके विचारों में जो क्रान्ति की है उसका दर्शन पाठक निम्नलिखित पद्यों में करें।

१–साधु-संत

और की पीर जो न जान सके।
वे जती हैं न हैं बड़े ढोंगी।
कान जिनके फटे न पर दुख सुन।
वे कभी हैं न कनफटे जोगी।
और दुनिया चिमट गयी इनको।
संत का मन का रोकना देखो।
इन लँगोटी भभूत वालों का।
आँख में धूल झोंकना देखो।
तंगियों के बुरे गढ़े में गिर।
साधुओं का गरेरना देखो।
जोकि भरते हैं तारने का दम।
उनका आँखें तरेरना देखो।
छोड़ घर बार किस लिए बैठे।
दूर जी से न जो हुई ममता।
तो रमाये भभूत क्या होगा।
जो रहा मन न राम में रमता।

२–बेवाएँ

जाति का नास बेतरह न करें।
दें बना बेअसर न सेवाएँ।
जो न बेहद उन्हें दबाएँ हम।
तो बलाएँ बनें न बेवाएँ।
मर्द चाहे माल ही चाबा करें।
औरतें पीती रहेंगी माँड़ ही।
क्यों न रँडुए ब्याह करलें बीसियों।
पर रहेंगी राँड़ सब दिन राँड़ ही।

× × ×

देख कुल की देवियाँ कँपने लगीं।
रो उठी मरजाद बेवों के छले।
जो चली गंगा नहाने क्यों उसे।
पाप-धारा में बहाने हम चले।

रँग बेवों का बिगड़ते देख कर।
किस लिए हैं ढंग से मुँह मोड़ते।
जो सुधर तीरथ बनाती गेह को।
क्यों उसे हैं तीरथों में छोड़ते।

जोग तो वह कर सकेगी ही नहीं।
जिस किसी को भोग ही क ताक हो।
जो हमीं रक्खें न उसका पाकपन।
पाक तीरथ क्यों न तो नापाक हो।

जब कि बेवा हैं गिरी ही तो उन्हें।
दे न देवें पाप का थैला कभी।
मस्तियों से चूर दिल के मैल से।
तीरथों को कर न दें मैला कभी।

३–वृद्ध-विवाह

हो बड़े बूढ़े न गुड़ियों को ठगें।
पाउडर मुँह पर न अपने वे मलें।
ब्याह के रंगीन जामा को पहन।
बेइमानी का पहन जामा न लें।

जो कलेवा काल का है बन रहा।
वह बने खिलती कली का भौंर क्यों?
मौर सिर पर रख बनी का बन बना।
बेहयाओं का बने सिरमौर क्यों?

छाँह भी तो वह नहीं है काँड़ती।
क्योंकि बन सकता नहीं अब छैल तू।
ढीठ बूढ़े लाद बोझा लाड का।
क्यों बना अलबेलियों का बैल तू।

तब भला क्या फेर में छवि के पड़ा।
आँख से जब देख तू पाता नहीं।
तब छछूँदर क्या बना फिरता रहा।
जब छबीली छाँह छू पाता नहीं।

× × ×

राज की साज बाज सज धज की।
है न वह दान मान की भूखी।
मूढ़ बूढ़े करें न मनमानी।
है जवानी जवान की भूखी।

(३) यह कहा जा चुका है कि हरिऔध जी के चाचा पं० ब्रह्मासिंह ने निज़ामाबाद के तहसीली स्कूल में उनका नाम लिखा दिया था। जिन दिनों वे वहाँ पढ़ रहे थे उन दिनों भी पं० ब्रह्मासिंह ने उनको घर पर संस्कृत पढ़ाना जारी रक्खा। हरिऔध जी स्कूल ही में मौलवी इमाम अली से फ़ारसी भी पढ़ते थे। यह क्रम तब तक चलता रहा जब तक वे हिन्दी मिडिल पास नहीं हो गये। पास होने पर उन्हें छात्र-वृत्ति मिली और वे बनारस के क्वींस कालेज में अँगरेजी पढ़ने के लिए गये। लेकिन वहाँ उनका स्वास्थ्य बहुत बिगड़ गया और लाचार होकर उन्हें घर लौट आना पड़ा। वहाँ घर पर ही उनकी संस्कृत और फ़ारसी की शिक्षा फिर आरम्भ हुई। पं० ब्रह्मासिंह पूर्ववत् संस्कृत पढ़ाने लगे। रही फ़ारसी, सो उसके लिए स्व० मुंशीराम प्रह्लाद से सहायता ली गयी। संस्कृत में हरिऔध जी की प्रधान शिक्षा ज्योतिष की हुई, किन्तु उसके अतिरिक्त व्याकरण में सारस्वत और चन्द्रिका, स्मृति-ग्रन्थों में मनु और याज्ञवल्क्य, पुराण-ग्रन्थों में भागवत और विष्णु-पुराण, तथा अन्य काव्य-ग्रन्थों के साथ महाभारत और वाल्मीकि-रामायण भी उन्होंने पढ़ा। इन्हीं दिनों हिन्दी के कई काव्य, पिंगल-ग्रन्थ तथा पंजाबी भाषा की गुरुमुखी को भी उन्होंने अपने चाचा ही से पढ़ा। इसी प्रकार फ़ारसी में भी उन्होंने अनेक उत्तम ग्रन्थों का अध्ययन कर डाला, जिनमें से क़वायद की किताबें, सिकन्दरनामा, बहारदानिश, दीवानग़नी और दीवान हाफ़िज़ आदि उल्लेखनीय हैं।

किन्तु जिस शिक्षा ने हरिऔध को हिन्दी-साहित्य की ओर उन्मुख किया उसकी उपलब्धि का द्वार एक दूसरी ही दिशा से खुला। जिस वर्ष वे हिन्दी मिडिल की परीक्षा में पास हुए, उसी वर्ष की बात है कि निजामाबाद के प्रतिष्ठित कवि स्व० बाबा सुमेरसिंह के यहाँ एक सभा में पं० ब्रह्मासिंह के साथ हरिऔध जी भी गये। बाबा सुमेरसिंह की सभाओं में प्रायः कविता अथवा शास्त्र-चर्चा हुआ करती थी। उस दिन की सभा में कविता की चर्चा शुरू हुई। रामायण की चौपाइयाँ तथा बिहारीलाल के दोहे पढ़े गये और उन पर उपस्थित लोगों ने तरह तरह के मत प्रगट किये। इसी बीच भाई भगवानसिंह नाम के एक सिक्ख ने सिक्खों के आदि ग्रन्थ साहब के ये दो पद पढ़े :—

"कह कबीर खोजों असमान।
राम समान न देखों आन।"

प्रथम पद के रेखांकित 'असमान' शब्द का अर्थ और भाव सभा में उपस्थित सज्जनों से पूछा गया। अनेक व्यक्तियों ने अनेक प्रकार से भगवानसिंह का समाधान करना चाहा। एक महाशय ने कहा कि 'असमान' शब्द का अर्थ आकाश है और भाव यह है कि मैंने खोजने में बहुत परिश्रम किया, परन्तु राम के समान मुझे कोई दूसरा दिखलायी नहीं पड़ा। जिस वस्तु के खोजने में बहुत परिश्रम किया जाता है उसके लिए यह कहा भी जाता है कि आकाश-पाताल छान डाले गये। यह अर्थ सुनने के बाद हरिऔध जी ने चाचा की आज्ञा लेकर कहा—'असमान' का अर्थ आकाश तो ठीक है, परन्तु जो भाव बतलाया गया है उसके अतिरिक्त मेरे विचार में एक भाव और आता है।" हरिऔध जी ने आगे कहा—"समस्त स्वर्ग आकाश ही में है, वैकुण्ठ भी आकाश ही में है, इसलिए कबीर साहब के कहने का भाव यह है कि (भूतल की कौन कहे) मैंने बड़े बड़े देवताओं के निवास-स्थान आकाश को भी खोज डाला। परन्तु वहाँ भी राम के समान कोई दूसरा नहीं दिखलायी पड़ा।" हरिऔध जी की इस सुन्दर और सरल सूझ ने तत्काल ही बाबा सुमेरसिंह का ध्यान उनकी ओर आकर्षित

किया। उन्हें विश्वास हो गया कि यह प्रतिभाशाली बालक भविष्य में किसी दिन अपनी प्रतिभा का आलोक चारों ओर फैलावेगा। प्रसन्न होकर उन्होंने अपने पुस्तकालय के ग्रन्थों का अवलोकन करने की उन्हें आज्ञा दे दी। यहीं हरिऔध जी ने बाबू हरिश्चन्द्र के साप्ताहिक पत्र "कवि-वचन-सुधा", उनकी "हरिश्चन्द्र चन्द्रिका", और उनके अन्य मनोहर ग्रन्थों को बड़े चाव से पढ़ा और इन्हीं के प्रभाव से सब से पहले हरिऔध की रुचि हिन्दी-काव्यरचना और लेखन-कार्य्य की ओर आकर्पित हुई।

हरिऔध जी की शिक्षा का तीसरा साधन बंगभापा का अध्ययन है। एक बंगाली सज्जन से, जिनका नाम तारिणीचरण मित्र था, परिचय हो जाने पर, उन्होंने इस समुन्नत भापा का ज्ञान अर्जित कर बड़ी ही दूरदर्शिता का काम किया, विशेषकर उस अवस्था में जब अँग्रेजी के अध्ययन से वे वंचित हो गये थे। बँगला के काव्यों और उपन्यासों ने हरिऔध जी के लिए एक नवीन आलोकमय जगत् का आविष्कार किया और उनके मस्तिष्क और हृदय को पोपक आहार प्रदान करके उनके विकास का पथ परिष्कृत बनाया। 'ठेठ हिन्दी का ठाट', 'अधखिला फूल' और 'प्रिय-प्रवास' की विचार-धारा पर बंकिमचन्द्र के उपन्यासों तथा 'कृष्ण-चरित्र' नामक ग्रन्थ का प्रभाव कुछ न कुछ अवश्य पड़ा है। बँगला के ग्रन्थों ही ने उनकी विचार-शक्ति को उत्तेजित और उनकी मौलिक प्रतिभा को उपयोगी दिशाओं में सञ्चालित किया।

(४) अँग्रेजी पढ़ना छोड़ कर बनारस से लौट आने के बाद सत्रह वर्ष की अवस्था में हरिऔध जी का विवाह क़स्बा सिकन्दरपुर, ज़िला बलिया के पं० विष्णुदत्त मिश्र की कन्या श्रीमती अनन्तकुमारी से हुआ। विवाह के दो वर्ष उपरान्त द्विरागमन भी हो गया। जब वधू घर में आ गयी तब स्वभावतः उनके पिता को पुत्र की जीविका की चिन्ता हुई। उस समय हरिऔध जी के अध्यापक पं० रामवर्ण उपाध्याय ने बहुत प्रयत्न करके उन्हें निज़ामाबाद के तहसीली स्कूल में अधिक-

अध्यापक के पद पर नियुक्त कराया। इस अध्यापकता की अवस्था ही में उन्होंने सन् १८८७ ई० में नार्मल स्कूल की परीक्षा प्रथम कक्षा में पास की। संयोग से आज़मगढ़ के डिप्टी इन्सपेक्टर स्व० बाबू श्याममनोहरदास हिन्दी के बड़े प्रेमी थे और हिन्दी-लेखन-शैली के क्षेत्र में शुद्धि के पक्षपाती थे। वे हरिऔध जी से बहुत प्रसन्न रहते थे। स्व० पं० लक्ष्मीशंकर मिश्र-सम्पादित 'काशीपत्रिका' नामक साप्ताहिक पत्रिका में उर्दू भाषा में प्रकाशित 'वेनिस का बाँका' और 'रिपवान विंकल' नाम के दो सुन्दर उपन्यासों का रूपान्तर वे विशुद्ध हिन्दी शब्दों से युक्त भाषा में कराना चाहते थे। इस कार्य्य के लिए उन्होंने हरिऔध जी को चुना। हरिऔध जी ने तो पहले उनसे निवेदन किया कि उर्दू से हिन्दी भाषा में अनुवाद का क्या अर्थ? परन्तु डिप्टी साहब ने इस विषय में आग्रह किया और इस प्रकार ग्रन्थ-रचना का अवसर हरिऔध जी को मिला।

'वेनिस का बाँका' के अनुवाद की 'ब्राह्मण' में बहुत अच्छी समालोचना हुई। उसके कतिपय वाक्य निम्नलिखित हैं :—

"यह ऐसा अच्छा उपन्यास है कि हाथ से छोड़ने को जी नहीं चाहता; जिस बात का जिस अध्याय में वर्णन है उसका पूरा स्वाद उसमें होता है। हिन्दी के भांडार का गौरव ऐसे ही ग्रन्थों से है। केवल दो दोष हैं—एक छोटा सा यह कि कई ठौर अशुद्धियाँ रह गई हैं; दूसरा बड़ा दोष यह है कि यह मराठी बंगाली आदि में नहीं है कि अब तक हाथों हाथ बिक जाता।"

इस समालोचना को देख कर बाबू धनपतिलाल, जो उस समय आज़मगढ़ में सदर क़ानूनगो के पद पर थे और हिन्दी से विशेष प्रेम रखते थे, हरिऔध जी की ओर आकर्षित हुए। उन्हींके उद्योग से वे सन् १८८९ ई० में क़ानूनगोई की परीक्षा में सम्मिलित होकर सफल हुए। बाबू श्याममनोहर दास ने भी इस कार्य्य में बहुत सहायता प्रदान की। शीघ्र ही हरिऔध जी गिरदावर क़ानूनगो के पद पर नियुक्त हो गये। पेंशन लेने के छः वर्ष पहले वे सदर क़ानूनगो हो गये थे।

सरकारी नौकरी ने भी हरिऔध जी के अनेक व्यक्तित्व-निर्मायक संस्कारों की सृष्टि की है। निस्सन्देह, सरकारी रोष और सन्देह का आवाहन न करने वाली सतर्कता की भी उनके विचारों पर छाप है, परन्तु उनकी सुधार-दृष्टि ने जहाँ सत्य की रक्षा के लिए हिन्दुओं और हिन्दू समाज के ढोंगी साधुओं पर कठोर आक्रमण कराया है, वहीं चरित्रहीन और पाखण्डी स्वराज्य-वादियों को भी अछूता नहीं रहने दिया है। इससे उनके सत्य-प्रिय मनोभाव का पता चलता है। नीचे के पद्य उदाहरण-स्वरूप हैं :—

१—है भरी कूट कूट कोर कसर।
मॉं बहन से करें न क्यों कुट्टी।
लोग सहयोग कर सकें कैसे।
है असहयोग से नहीं छुट्टी।
मेल बेमेल जाति से करके।
हम मिटाते कलंक टीके हैं।
जाति है जा रही मिटी तो क्या।
रंग में मस्त यूनिटी के हैं।
अनसुनी बात जाति हित की कर।
मुँह बना किस लिए न दें टरखा।
कात चरखा सके नहीं अब भी।
हैं मगर लोग हो गये चरखा।
माँ बहन बेटियाँ लुटें तो क्या।
देख मुँह मेल का उसे लें सह।
हो रही धूम औ धड़ल्ले से।
मन्दिरों में तमाम सत्याग्रह।
बेसमझ और आँख के अन्धे।
देख पायें कहीं नहीं ऐसे।
जो न तागड़ हो गये हिन्दू।
मिल सकेगा स्वराज तो कैसे।

२—जाति ममता मोल जो समझे नहीं।
तो मिलों से हम करें मैला न मन।
देश हित का रँग न जो गाढ़ा चढ़ा।
तो न डालें गाढ़ में गाढ़ा पहन।
धूल झोंकें न जाति आँखों में।
फाड़ देवें न लाज की चद्दर।
दर बदर फिर न देश को कोसें।
मूँद हित दर न दें पहन खद्दर।
तो गिना जाय क्यों न खुदरों में।
क्यों उगा दे न बीज बरबादी।
काम की खाद जो न बन पायी।
देश हित खेत के लिए खादी।
हित सचाई बिना नहीं होगा।
लोग ताना अनेक तन देखें।
कात लें सूत लें चला करघे।
सैकड़ों गज गजी पहन देखें।
पैन्ह मोटा न पेट मोटा हो।
सब बुरी चाट बाँट में न पड़े।
छल कपट का न पैन्ह लें जामा।
हथकते सूत के पहन कपड़े।

× × ×

यह स्मरण रखने योग्य है कि हिन्दू-मुस्लिम-एकता की रक्षा आदि भावनाओं से प्रेरित होकर भी अपने निकट कर्त्तव्य की अवहेलना करना अनुमोदनीय नहीं हो सकता। वर्त्तमान समय में हिन्दू-मुस्लिम एकता का महात्मा गांधी से बड़ा समर्थक शायद ही अन्य कोई व्यक्ति इस देश में होगा। सन् १९२१ में असहयोग आन्दोलन के स्थगित होने के बाद जब देश के जीवन में एक भीषण प्रतिक्रिया ने प्रवेश

किया और स्थान स्थान पर दंगे होने लगे तब महात्मा गांधी ने यही उपदेश दिया था कि मन्दिरों, स्त्रियों आदि की रक्षा करते हुए हिन्दुओं को अपने प्राणों का उत्सर्ग कर देना चाहिए। उनकी शिक्षा में निकट कर्त्तव्य की उपेक्षा की ओर प्रोत्साहन कहीं नहीं दिया गया है, यह और ही बात है कि सिंहात्मक उपायों का अवलम्बन लेने की अपेक्षा वे अहिंसात्मक उपायों का सहारा ही लेने के लिए सर्वदा आदेश देते हैं। किन्तु, उनकी इस शिक्षा को उनके कितने अनुयायियों ने ग्रहण किया ? सच बात यह है कि अनेक चरित्र-हीन व्यक्तियों ने सत्याग्रह आन्दोलन में प्रवेश करके उसके लोकोपकारी अंगों को शंका की दृष्टि से देखने का अवसर कुछ लोगों को दिया है। चरखा कातने, खादी पहनने, और स्वराज्य का झण्डा लेने वालों ने मिथ्याचार न किया होता तो शायद महात्मा गांधी को भी इक्कीस दिन का उपवास न करना पड़ता। वास्तव में हमारे राजनैतिक आन्दोलनों की असफलता का प्रधान कारण हमारा असंगत आचरण है। ऐसी अवस्था में कवि को हमारी त्रुटियों पर कटाक्ष करने का पूर्ण अधिकार है।

द्वितीय खंड ।

संसार को छोड़ दें तो करें क्या ? यदि उनमें विराग-भाव होता तो इस वृद्धावस्था में वे शायद उन सब कामों को पूरा करने का संकल्प और दृढ़ निश्चय न करते जिनमें सवेरे से सन्ध्या तक लिपटे रहते हैं। यदि यह विराग-भाव अब नहीं है, तो वह कभी भी उनमें रहा होगा, इसमें सन्देह है।

हरिऔध जी की आदिकालीन रचनाएँ ईश्वर विषय को लेकर अग्रसर हुई हैं। पारिवारिक दैनिक जीवन का वातावरण उन्हें ईश्वर-गुणगान की ओर उन्मुख करने में सहायक हुआ हो, तो इसमें आश्चर्य्य ही क्या है ? श्रीकृष्ण के प्रति भक्ति चाचा और माता के श्रद्धा-पूर्ण हृदय के उपहार के रूप में मिलने पर कवि-हृदय ने स्वभावतः उसे अपने काव्य से अलंकृत किया। किन्तु इस उपहार में वह शक्ति न थी जो सांसारिक रसास्वादन की दिशा में विकासशील हरिऔध के तत्कालीन व्यक्तित्व को अपने अधिकार में कर लेती, अथवा उनके काव्य को वह सजीवता प्रदान कर सकती जो अमरता की जननी है और जो कवि के प्रकृत व्यक्तित्व का ही अनुसरण करती है। काव्यक्षेत्र में हरिऔध का सबसे पहला प्रयत्न 'श्रीकृष्ण-शतक' है। इसमें सौ दोहे हैं। इन दोहों में हरिऔध ने प्रचलित परम्परा के अनुसार श्रीकृष्ण को परब्रह्म मान कर उनके यश का कीर्त्तन किया है। पाठकों के अवलोकनार्थ कुछ दोहे नीचे दिये जाते हैं :—

"नमत निगुन निरलेप अज, निराकार निरद्वन्द ।
माया रहित विकार बिन, कृष्ण सच्चिदानन्द ॥ १ ॥

नहिं प्रमाद यामें कछू, याको है उन्माद ।
कृष्ण आत्मा में रमत, जो बाढ़गो विवाद ॥ २ ॥

ससि, सूरज, नभ, अनल, जल, दसों दिसा, महि, वात ।
[illegible] गोपाल तजि, [illegible] को ग्यात ॥ ३ ॥

जाकी माया धाम में, ऐसे फिरिहि लखाहिं ।
[illegible] गोपिन संग, सो खेलत ब्रज माहिं ॥ ४ ॥

[illegible]
[illegible] ब्रज की भूमि" ॥ ५ ॥

इन दोहों की रचना हरिऔध जी ने सत्रह वर्ष की अवस्था में की थी। इनमें न कोई मौलिकता है और न विचित्र प्रतिभा का कोई चमत्कार। जिसके हृदय में संसार के नश्वर सुखों के प्रति आसक्ति का अभाव नहीं है, वह ईश्वर-सम्बन्धी काव्य-रचना में सफल नहीं हो सकता। शब्दाडम्बर और अलंकारों की झंकार उस अवस्था में व्यर्थ है जब काव्य में प्राण ही का अभाव है। इन दोहों की यही दशा है। फिर भी इनसे इतना तो ज्ञात होता ही है कि जीवन के प्रारम्भिक काल में कवि ने श्रीकृष्ण को किस रूप में अंकित करने की चेष्टा की थी।

तीन वर्ष बाद हरिऔध जी ने १५ अप्रेल सन् १८८५ ई० को 'रुक्मिणी-परिणय' और उसके तीन मास बाद 'प्रद्युम्न-विजय' व्यायोग लिख डाला। 'प्रद्युम्न-विजय-व्यायोग' सन् १८८३ ई० में और 'रुक्मिणी-परिणय' सन् १८९४ ई० में प्रकाशित हुआ। इन दोनों ग्रंथों को देख कर छतरपुर के महाराज हरिऔध जी से मिलने के लिए बहुत उत्कण्ठित हुए। उस समय पं० श्यामविहारी मिश्र छतरपुर के दीवान थे। महाराज ने मिश्र जी द्वारा हरिऔध जी तक अपनी उत्कण्ठा का संदेश पहुँचाया। हरिऔध जी अनेक कारणों से, जिनमें सरकारी नौकरी की परवशता मुख्य थी, इस अनुरोध का शीघ्र ही पालन नहीं कर सके। उनकी ओर से यह उत्साहहीनता देख कर सहृदय महाराज ने बड़े ही भावपूर्ण शब्दों में अपने हाथ से पत्र लिखा और उलहना देते हुए उनसे पूछा कि क्या उनमें ऐसी कठोरता निष्ठुर-शिरोमणि भगवान श्रीकृष्ण का गुण गाते गाते आगयी है। हरिऔध जी की कठिनाई से परिचित होने के बाद महाराज ने आज़मगढ़ के कलेक्टर को तार देकर उनको छतरपुर आने के लिए छुट्टी देने का अनुरोध किया। निदान हरिऔध जी को छुट्टी मिली, और वे छतरपुर गये।

'प्रद्युम्न-विजय-व्यायोग' पर स्व० पं० प्रतापनारायण मिश्र की आलोचना की कुछ पंक्तियाँ नीचे दी जाती हैं:—

"व्यायोग यद्यपि नाट्य-रसिकों के लिए बहुत रुचिकारक नहीं होता, क्योंकि उसमें रंगभूमि पर दो ही चार पात्रों का गमनागमनादि

होता है। पर कविता के प्रेमियों को अवश्य उसमें स्वादु मिलता है। अभी तक श्रीभारतेन्दु हरिश्चन्द्र लिखित 'धनंजय-विजय' के अतिरिक्त हिन्दी में कोई दूसरा व्यायोग देखने में नहीं आया। इस अभाव की पूर्त्ति के लिए पंडित जी सच्चे धन्यवाद के पात्र हैं। और कविता का तो आप की कहना ही क्या है! प्राचीन कवियों का सा आनन्द देती है।"

'रुक्मिणी-परिणय' में कवि ने रुक्मिणी-द्वारा श्रीकृष्ण के पति-रूप में वरण किये जाने का वर्णन किया है। जान पड़ता है इसे और 'प्रद्युम्न-विजय-व्यायोग' को लिखने में हरिऔध जी का अभिप्राय रचना-व्याज से श्रीकृष्ण-चर्चा ही करना था। उस दृष्टि से इनमें माधुर्य्य है, भावुकता है, ओज है। किन्तु यदि केवल नाट्यकला की दृष्टि से देखा जाय तो ये रचनाएँ उल्लेख-योग्य उत्कृष्टता से रहित प्रतीत होती हैं। नाटक में किसी घटना-सम्बन्धी उत्सुकता को पराकाष्ठा तक पहुँचाकर क्रम क्रम से उसका शमन होना चाहिए। नाटकीय प्रगति के पाँच अंग हैं—आरंभ, यत्न, प्राप्त्याशा, नियताप्ति, और फलागम। इन पाँचों के साथ पांच संधियां होती हैं, जो नाटकीय गति के एक सीमा को पहुँच जाने की सूचना देती हैं। मुख सन्धि, आरम्भिक बीजारोपण का, प्रतिमुख-सन्धि यत्न द्वारा बीज के अंकुरित होने का, गर्भ सन्धि अंकुर के वृक्ष-रूप में परिणत होकर फल प्राप्त्याशा-संचार का, अवमर्श सन्धि विकट-विघ्न उपस्थित करके फल का मिलना कठिन प्रतीत कराने का, तथा उपसंहार संधि फल-प्राप्ति की सूचक है। संधियों में अवमर्श संधि पर नाटक की सारी रोचकता निर्भर है, क्योंकि यदि बाधाएँ न उपस्थित होंगी तो नाटक के दर्शक अथवा पाठक के हृदय में चिन्ता, उत्कण्ठा, और व्याकुलता का संचार कैसे होगा? 'रुक्मिणी परिणय' में हरिऔध जी ने अवमर्श संधि की प्रभावशालिता की ओर ध्यान नहीं दिया है। इस नाटक की वस्तु को तो उसी समय समाप्त समझना चाहिए जिस समय ब्राह्मण से सन्देश पाने पर श्रीकृष्ण ने कह दिया:—

"हे ब्रह्मदेव! प्राणप्यारी रुक्मिणी, जिसका यह प्रण है और जिसकी मेरे लिए इतनी उत्कण्ठा है, क्या मेरे विरह-दुःख से दुःखी होकर

अपने प्राण को त्याग सकती है ? हाय ! क्या मेरे जीते प्रियतमा की यह दशा हो सकती है ? कदापि नहीं। चन्द्रमा के प्रकाशित रहते कुमोदिनी कब मलीन हुई है ? अगाध जलशाली अकूपार का भगवती भागीरथी को कब वियोग हुआ है ?"

उक्त अवतरण को पढ़ने पर पाठक या नाटक-दर्शक की ओर से कहा जा सकता है कि उसे नाटक को आगे पढ़ने या देखने की आवश्यकता ही नहीं रह गयी; क्योंकि रुक्मिणी की विपन्नावस्था के आधार पर ही तो नाटक-सम्बन्धी उत्कण्ठा निर्भर थी। यदि नाटककार यह कहे कि अभी तो श्रीकृष्ण को शिशुपाल से लड़ाई करनी होगी तो उसका उत्तर यह दिया जा सकता है कि इस लड़ाई के परिणाम का भी तो आभास मिल गया; क्योंकि जो कृष्ण बाल्यावस्था ही में अनेक राक्षसों का वध करने में समर्थ हुए थे, जिन्होंने कंस का वध किया तथा जरासन्ध को हराया था, तथा जिन्होंने अनेक आश्चर्य्य-जनक कार्य्य किये थे, उनसे यह आशा करना सर्वथा स्वाभाविक है कि वे शिशुपाल का वध कर डालेंगे। हाँ, यदि कृष्ण जी रुक्मिणी को पत्नी रूप में ग्रहण करने में किसी तरह की हिचकिचाहट दिखाते अथवा शिशुपाल में वीरता आदि से सम्बन्ध रखने वाली कोई ऐसी विशेषता दिखलायी गयी होती जो कंसादि में न होती, तब घटना में रोचकता आ सकती थी। यही बात 'प्रद्युम्न-विजय-व्यायोग' के संबंध में कही जा सकती है।

'रुक्मिणी-परिणय' की एक उल्लेखनीय विशेषता यह है कि उसमें श्रीकृष्ण मनुष्य-रूप में, अधिक से अधिक अवतारिक मनुष्य के रूप में अंकित हुए हैं। सन् १८९६ ई० में, या उसके लगभग, हरिऔध जी के 'प्रेमाम्बुवारिधि' 'प्रेमाम्बुप्रस्रवण' और 'प्रेमाम्बुप्रवाह' नामक तीन संग्रह प्रकाशित हुए। इनमें कहीं तो श्रीकृष्ण परब्रह्मरूप में अंकित हुए और कहीं साधारण मानव रूप में। हिन्दी-साहित्य में यह प्रणाली कई शताब्दियों से प्रचलित थी, अतएव साधारणतया इसे कोई विशेषता न कहना चाहिए। परन्तु यह स्वीकार करना पड़ेगा कि हरिऔध की इन प्रारम्भिक रचनाओं में कहीं श्रीकृष्ण के आचरण में वह असंगति नहीं

दिखायी पड़ती जो उन्हें परब्रह्मता से बहुत दूर कर दे। श्रीकृष्ण को परब्रह्म और मानव दोनों स्वरूपों में अंकित करने वाले प्राय: एक ही काल के निम्न-लिखित पद्यों को देखिए :—

[१]

"जगत में प्रकट प्रताप तिहारो!
तृन तृण ते विरंचि लौं जदुवर तेरो प्रबल पसारो।
तेज तिहारोई सूरज शशि त्यों तारन में राजै।
निराधार नभ तेरे ही बल तिनको व्यूह विराजै"।

[२]

"भजहु जन जदुपति कमला नाथ।
सेस सुरेस गनेस सम्भु अज जेहि पद नावत माथ।
सनकादिक नारद निगमागम बरनत जाको गाथ"।

[३]

"अकल अनादि अज अजित अरूप अखि-
लेस जग भूप ज्योति अगम जगैया को।
तीन लोक विदित अजादि बन्दनीय विभु-
सन्त जन काज नाना बपुस धरैया को।
हरिऔध ताप उपतापहि हरैया महा-
पातक कदन पापी पुंजन तरैया को।
जन बन्दैया सुखदैया करवैया काज-
मैं तो जानौं एक बलराम जू के भैया को"।

इनमें एक तारका हूँ को भेद न कोउ भल जान्यो।
जदपि जुक्ति औ जतन कितेकन अपने मन अनुमान्यो।
यह अपार जो तरल तरंगायित भू जलनिधि राजै।
जा मैं नाना रूप रंग को वस्तु अनेक विराजै।
तिन मैं केवल किती वस्तु को कोऊ मरम बतायो।
सेस अपार वस्तु को अब लौं किनहूँ पार न पायो।
यह भूतल जापै हम अपनो समयो सदा बितावत।
ताहू की अनन्त बस्तुन कौ अजहूँ अन्त न आवत।
कहा काम गुरु वस्तुन सों है लघु बस्तुन ही लीजत।
एक कीट या एक रेणु पै अति चंचल चित दीजत।
बहु विधि सोचे हूँ इनहूँ को मरम न कछू जनायो।
जितनो ही सोचत तितनो ही हियो रहत उकतायो।
छोरि देत इनहूँ को केवल अपने तनुहिं निहारत।
पै या को विभेद हूँ कैसेहुँ काहु न बनत विचारत।
जब तेरी विचित्र रचना को भेद न कछू जनावै।
तेरे एक कीट हूँ की जब जुक्ति न हिये समावै।
कैसे जानि सकत तब तोको कोऊ या जग माहीं।
हरिऔध यही ते बिबुधन भाखी नेति सदाहीं"।

[५]

"बस में न आपने हौं बिबस भई हौं महा,
वेदन बढ़त भाखे हिय के हवाल को।
बुधि बिनसानी लेस रह्यो ना बिबेक हूँ को,
बारि ढरै बैरी हूँ दगन लखि हाल को।
हरिऔध की सौं जोग बतिया अनूठी अहैं,
केवल बतैये इतो तजि सब जालको।
कैसे वह साँवरो सरूप हिय में ते कढ़े,
ऊधौ किमि भूलै रास मण्डल गोपाल को ॥ १ ॥
कैसे मंजु बाँसुरी की सुरति बिसारि दीजै,
कैसे याद कीजै नहिं बचन रसाल को

को

ती

इनमें एक तारका हूँ को भेद न कोउ भल जान्यो।
जदपि जुक्ति औ जतन कितेकन अपने मन अनुमान्यो।
यह अपार जो तरल तरंगायित भू जलनिधि राजै।
जा मैं नाना रूप रंग की वस्तु अनेक विराजै।
तिन मैं केवल किती वस्तु को कोऊ मरम बतायो।
सेस अपार वस्तु को अब लौं किनहूँ पार न पायो।
यह भूतल जापै हम अपनो समयो सदा वितावत।
ताहू को अनन्त वस्तुन कौ अजहूँ अन्त न आवत।
कहा काम गुरु वस्तुन सों है लघु वस्तुन ही लीजत।
एक कीट या एक रेणु पै अति चंचल चित दीजत।
बहु विधि सोचे हूँ इनहूँ को मरम न कछू जनायो।
जितनो ही सोचत तितनो ही हियो रहत उकतायो।
छोरि देत इनहूँ को केवल अपने तनुहिं निहारत।
पै या को विभेद हूँ कैसेहुँ काहु न बनत बिचारत।
जब तेरी विचित्र रचना को भेद न कछू जनावै।
तेरे एक कीट हूँ की जब जुक्ति न हिये समावै।
कैसे जानि सकत तब तोको कोऊ या जग माहीं।
हरिऔध यही ते बिबुधन भाखी नेति सदाहीं"।

[५]

"बस में न आपने हौं बिबस भई हौं महा,
वेदन बढ़त भाखे हिय के हवाल को।
बुधि बिनसानी लेस रह्यो ना विवेक हूँ को,
वारि ढरे बैरी हूँ दृगन लखि हाल को।
हरिऔध की सौं जोग बतिया अनूठी अहैं,
केवल बतैये इतो तजि सब जालको।
कैसे वह साँवरो सरूप हिय में ते कढ़े,
ऊधौ किमि भूलै रास मण्डल गोपाल को ॥ १ ॥
कैसे मंजु बाँसुरी की सुरति बिसारि दीजै,
कैसे याद कीजै नहिं बचन रसाल को

एक से लेकर चार तक की संख्या के पद्यों की पंक्तियाँ जितनी ही साधारण और नीरस हैं उतनी ही अंतिम पद्यों की पंक्तियाँ सबल, सरस, हृदयस्पर्शिनी और मर्म्म-भेदिनी हैं! व्यक्तित्व के अनुकूल विषय पाकर हरिऔध का काव्य उषःकालीन कमल की भाँति कैसा प्रफुल्ल हो गया है!

हिन्दी के अनेक कवियों ने श्रीकृष्ण को उभय रूप में अंकित किया है। नीचे के कतिपय पद्य देखिए :—

"शंकर से सुर जाहि जपैं चतुरानन ध्यानन में नहिं पावैं।
नेकु हिये मैं जो आवत ही रसखान महा जड़ मूढ़ कहावैं।
जा पर सुन्दर देववधू नहिं वारत प्रान अवार लगावैं।
ताहि अहीर की छोहरियाँ छछिया भरि छाछ पै नाच नचावैं"।

—रसखान

"मोहन अद्भुत रूप कहि न आवत छवि ताकी।
अखिल खण्डव्यापी जु ब्रह्म आभा है जाकी।
परमातम धरमी धन सब के अन्तरजामी।
नारायन भगवान धरम करि सब के स्वामी।

—नन्ददास

सूरदास ने कहीं कहीं श्रीकृष्ण को ईश्वर-रूप में अंकित किया है और कहीं मानव-रूप में। पहले उनके ईश्वर-रूप श्रीकृष्ण को देखिए:—

"जो सुख होत गोपालहि गाये।
सो न होत जप तप के कीने कोटिक तीरथ न्हाये।
दिये लेत नहि चारि पदारथ चरन कमल चित लाये।
तीनि लोक तृन सम करि लेखत नँदनंदन उर आये।
बंसी बट वृन्दावन जमुना तजि बैकुण्ठ को जाये।
सूरदास हरि को सुमिरन करि बहुरि न भव चलि आये।

अब उन्हीं के अंकित मानव-रूप को देखिए :—

१—"घुटुरुन चलत श्याम मणि आँगन मात पिता दोउ देखत री।
कबहुँक किलकिलात मुख हेरत कबहुँ जननि मुख पेखत री।
लटकन लटकत ललित भाल पर काजर विंदु भ्रुव ऊपर री।
यह सोभा नैनन भरि देखैं नहिं उपमा कहुँ भूपर री।
कबहुँक दौरि घुटुरुवन लटकत गिरत परत फिरि धावत री।
इतते नंद बुलाइ लेत हैं उतते जननि बुलावति री।
दंपति होड़ करत आपुस में स्याम खिलौना कीनो री"।

२—"यशोदा हरि पालने झुलावै।
हलरावै दुलराइ मल्हावै जोई सोई कछु गावै।
मेरे लाल को आउ निदरिया काहे न आनि सुवावै।
तू काहे न वेग ही आवै तो को कान्ह बुलावै।
कबहुँ पलक हरि मूँदि लेत हैं कबहुँ अधर फरकावै।
सोवत जानि मौन ह्वै ह्वै रहि करि करि सैन बतावै।
इहि अन्तर अकुलाइ उठे हरि यशुमति मधुरे गावै।
जो सुख सूर अमर मुनि दुरलभ सो नँद भामिनि पावै"।

नरोत्तमदास ने श्रीकृष्ण का मानव-हृदय बहुत सुन्दर पंक्तियों में व्यक्त किया है। अपने मित्र सुदामा की करुणाजनक दशा देख कर श्रीकृष्ण कहते हैं।

"काहे बिहाल बिवाइन ते मग कंटक जाल गड़े पुनि जोये।
हाय महादुख पायो सखा तुम आये इतै न किते दिन खोये।
देखि सुदामा की दीन दशा करुणा करि कै करुणानिधि रोये।
पानी परात को हाथ छुयो नहिं नैनन के जल ते पग धोये।

सुदामा के तण्डुल खाते समय जब रुक्मिणी ने उनको रोक दिया तब श्रीकृष्ण ने उनसे कहा :—

"क्यों रस में बिष बाम कियो अब और न खान दियो यक फंका।
विप्रहिं लोक-तृतीयक देत करी तुम क्यों अपने मन शंका।
भामिनि मोहिं जिमाय भली बिधि कौन रह्यो जग में नर रंका।
लोग कहैं हरि मित्र दुखी हमसे न सह्यो यह जात कलंका।"

हिन्दी-साहित्य में अंकित राधा-कृष्ण की ये मूर्तियाँ हरिऔध जी के सामने थीं। उस समय उनमें इन चित्रों के दोष देखने की शक्ति नहीं थी। यह भी कहा जा सकता है कि वे इनके सौन्दर्य्य पर मुग्ध थे, क्योंकि तभी तो लगभग उन्हीं दिनों, जब उनके तीनों काव्य-संग्रह प्रकाशित हुए थे, वे नायिकाओं की विविध-रूपिणी छवि का अंकन कवित्तों और सवैयों में कर रहे थे। संतोष की बात यही है कि उन्होंने कृष्ण और राधा को कीचड़ में नहीं घसीटा।

यहाँ यह भी कह देना आवश्यक है कि मैं नारी-सौन्दर्य्य-वर्णन के विरुद्ध नहीं हूँ। उदाहरण के लिए पदमाकर की निम्नलिखित सवैया में मैं निर्दोष काव्य पाता हूँ, यद्यपि उसे उच्च कोटि का काव्य मानने के लिए तैयार नहीं हूँ :—

"ए अलि या तिय के अंगनि में आनि चढ़ी कछु माधुरई सी।
ज्यों, पदमाकर माधुरी त्यों कुच दोयन की बढ़ती उनई सी।
ज्यों कुच त्यों ही नितम्ब चढ़े कछु ज्यों ही नितम्ब त्यों चातुरई सी।
जानैं न ऐसी चढ़ाचढ़ि में किहि धौं कटि बीचहिं लूटि लई सी"।

इसी प्रकार रसिक कवि विद्यापति के निम्नलिखित पद्यों में भी नारी-सौन्दर्य का सुन्दर अंकन हुआ है :—

"तोहर बदन सम चाँद होअथि नहिं जैयो जतन बिह देला।
कै बेरि काटि बनावल नव कय तैयो तुलित नहिं मेला।
लोचन तूअ कमल नहि भै सक से जग के नहिं जाने।
से फिर जाय लुकैलन्हि जल भय पंकज निज अपमाने"।

यदि राधा और कृष्ण के सम्बन्ध में भक्तेतर कविगण अपनी कारीगरी को यहीं तक सीमित रखते तो भी विशेष चिन्ता की बात नहीं थी। किन्तु जिस समाज में उन्होंने जन्म पाया था, जिसमें उनका लालन-पालन हुआ था, उसकी रुचि से प्रभावित न होना भी

उनके लिए उतना ही असम्भव था जितना वर्तमान काल के वातावरण से अप्रभावित रह जाना हरिऔध जी के लिए सम्भव नहीं है। समाज की पतित मनोवृत्तियों के अतिरिक्त, राधाकृष्ण को काव्य का विषय बनाने के मूल ही में कुछ ऐसी बात थी जो असमर्थ कवियों को प्रलोभन में डाल कर उन्हें दुर्बल बनाती और अंत में कलुषित रचना के गड्ढे में गिरा देती थी। समाज की रुचि में संशोधन होने और कृष्ण-काव्य की एक विशेषता का बल घटने से हरिऔध के प्रगतिशील व्यक्तित्व को किस प्रकार अनुकूल वातावरण मिला और किस प्रकार वे अपने सर्व्वोत्कृष्ट ग्रन्थ 'प्रियप्रवास' के शरीर-संगठन तथा उसमें प्राण-सञ्चार के लिए समुचित सामग्री प्राप्त कर सके, इसकी चर्चा अन्यत्र की जायगी।

उपन्यासकार के रूप में हरिऔध

जिन दिनों हरिऔध जी राधा कृष्ण-विषयक पद्यों की रचना कर रहे थे उन्हीं दिनों बँगला भाषा का साधारण ज्ञान प्राप्त करने के अनन्तर वे बँगला के उपन्यासों को पढ़ने में तल्लीन भी रहा करते थे। ये रोचक उपन्यास कभी कभी उनके चित्त पर इतना अधिकार कर लेते थे कि रात के दो दो, तीन तीन बजे तक वे पढ़ते ही रह जाते थे। बँगला उपन्यासकारों में बंकिमचन्द्र चटर्जी उन्हें विशेष प्रिय हो रहे थे। बंकिम बाबू के उपन्यासों में देश-प्रेम और जाति-प्रेम की जो धारा प्रवाहित है उसने हरिऔध जी के चित्त पर स्थायी प्रभाव डाला। भक्ति का जो कुछ बाह्य प्रभाव उनकी कला पर था वह क्षीण हो ही चला था। उसके स्थान में शृंगार ने उस पर अधिकार कर लिया था। इन उपन्यासों के प्रभाव ने देश और जाति की दुर्दशा के प्रति वेदना की अनुभूति का संचार करके उनकी कला के स्वरूप-निर्माण के लिए एक नवीन सामग्री प्रस्तुत की। राधा-कृष्ण-विषयक पद्यों को यदि स्वतन्त्र पथ मिलता तो शायद हरिऔध जी की लेखनी भी अन्यपूर्ववर्ती कवियों की लेखनी की तरह अनियंत्रित हो जाती, और यदि बहुत अधिक संयत होने की भी चेष्टा करती तो अधिक से अधिक स्वर्गीय 'रत्नाकर' जी की शैली की ओर प्रगतिशील होती। किन्तु वास्तव में बँगला के इन उपन्यासों ने हरिऔध जी को यह अनुभव करने की ओर प्रेरित किया कि शृंगाररस के एकान्त सेवन से काम नहीं चल सकता; देश की वर्तमान परिस्थिति में उसका उचित रूप भी जब शंका की दृष्टि से देखा जा रहा है, तब किंचित् भी अतिरंजित, अथवा विकृत स्वरूप अरुचि ही का कारण होगा। और, उनकी इसी धारणा का हम यह परिणाम देख रहे हैं कि जब ये पद्य 'रस कलस' में गर्भित होकर आज हमारे सामने आये हैं तब अपने वातावरण को बहुत कुछ संशोधित और परिष्कृत करके ही

आये हैं; इनमें वह नग्नता नहीं है जो उन्हें सर्वथा अरुचिकर बना देती।

इस अध्ययन ने इतना ही नहीं किया। हरिऔध जी को उपन्यास लिखने की ओर भी प्रेरित किया। ये उन्नीसवीं शताब्दी के अंतिम वर्ष थे। इन्हीं दिनों हिन्दी के अँगरेज़ विद्वान् डाक्टर ग्रियर्सन ने खड्गविलास प्रेस के अध्यक्ष बाबू रामदीन सिंह का ध्यान ठेठ हिन्दी में कोई ग्रंथ प्रकाशित करने की ओर आकर्षित किया। बाबू साहब ने हरिऔध जी से डाक्टर महोदय की इच्छापूर्ति करने का अनुरोध किया। 'ठेठ हिन्दी का ठाट' इसी अनुरोध-पालन का फल हुआ। डाक्टर महोदय के उद्योग से यह ग्रंथ इंडियन सिविल सर्विस की परीक्षा में पाठ्य पुस्तक के रूप में स्वीकार कर लिया गया। उन्हें यह इतना अधिक पसंद आया कि उन्होंने इसी भाषा में एक और ग्रन्थ लिखने का, जो कुछ बड़ा हो, अनुरोध हरिऔध जी से किया। 'अधखिला फूल' की सृष्टि इसी प्रकार हुई।

'ठेठ हिन्दी का ठाट' की कहानी बिल्कुल सीधी सादी है। देव-बाला का ब्याह देवनन्दन के साथ सामाजिक कुरीति के कारण नहीं हो पाता। परन्तु विवाह असम्भव होने पर भी न देवबाला देवनन्दन को भूलती है और न देवनन्दन देवबाला को भूलता है। देवनन्दन का प्रेम त्यागमय है और उसका परिचय उसने तब विशेष रूप से दिया है जब देवबाला पर असहनीय कष्ट पड़े हैं। हरिऔध जी की सहृदयता ने इस उपन्यास के पात्रों में सजीवता का संचार कर उन्हें अत्यन्त प्रभावशाली बना दिया है।

जब नीति पर आश्रित सामाजिक नियम काल के प्रभाव से मानव-व्यक्तित्व के विकास में सहायक होने की जगह बाधक हो जाते हैं, तभी मानव-हृदय की पीड़ा को अपने अंक में धारण कर कला सूखे हुए पौधों को आँसुओं से सींचने के लिए आती है। अतएव हरिऔध ने उस मार्मिक पीड़ा की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित किया जो हमारे समाज में प्रवेश करने वाले युवकों और युवतियों की प्रायः जीवनसंगिनी

होती है, हरिऔध की कला के विकास की दृष्टि से 'ठेठ हिन्दी का ठाट' अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि इसमें उनकी मानसिक क्रान्ति का श्रीगणेश प्रतिविम्बित है। इस ग्रंथ में हरिऔध जी जैसे मनुष्य की ओर उन्मुख हुए हैं वैसे ही प्रकृति की ओर भी। इसकी विचित्र भाषा, इसमें अंकित नारी और पुरुष के चित्र, इसके प्रकृति-वर्णन सभी इस योग्य हैं कि इसके अध्ययन के लिए हम थोड़ा ठहरें, विशेषकर इस दृष्टि से कि जिन तत्त्वों से हरिऔध के प्रतिष्ठित महाकाव्य 'प्रियप्रवास' का निर्माण हुआ है उनका प्रारम्भिक अविकसित रूप इसी में मिलेगा। ठेठ हिन्दी में लिखी गई रचनाएँ हिन्दी में बहुत कम हैं, नहीं के बराबर हैं। सैयद इंशा अल्ला खाँ की रानी केतकी की कहानी नाम की एक पुस्तक ही अँधेरी रात का टिमटिमाता तारा है। इसकी कहानी रोचक है; इसकी भाषा भी सजीव और सरस अवश्य ही है, किन्तु इसमें मनोरंजन ही प्रधान उद्देश्य है। इस प्रकार ठेठ हिन्दी के साहित्य में ठेठ हिन्दी का ठाट युगान्तर उत्पन्न करनेवाला समझा जा सकता है।

ठेठ हिन्दी क्या है? इसे हरिऔध जी के शब्दों में सुनिए:—

"जैसा शिक्षित लोग आपस में बोलते चालते हैं भाषा वैसी ही हो, गँवारी न होने पावे। उसमें दूसरी भाषा अरबी, फ़ारसी, तुर्की, अँगरेज़ी इत्यादि का कोई शब्द शुद्धरूप या अपभ्रंश रूप में न हो। भाषा अपभ्रंश संस्कृत शब्दों से बनी हो, और यदि कोई संस्कृत शब्द उसमें आवे भी तो वही जो अत्यन्त प्रचलित हो, और जिसको एक साधारण जन भी बोलता हो।"

ठेठ हिन्दी के प्रबल पृष्ठ-पोषक डाक्टर ग्रियर्सन की सम्मति भी पाठक देख लें:—

"ठेठ हिन्दी संस्कृत की पौत्री है, हम यह कह सकते हैं कि संस्कृत की पुत्री प्राकृत और प्राकृत की पुत्री ठेठ हिन्दी है।"

"अन्य भाषाओं की तरह हिन्दी भी दूसरी भाषाओं से शब्द ग्रहण करती है। जब वह किसी विशेष विचार को प्रकट करना चाहती

है और देखती है कि उसके पास उपयुक्त शब्द नहीं हैं, उस समय वह प्रायः आवश्यक शब्द संस्कृत से उधार लेती है। प्रत्येक ठेठ शब्द अर्थात् वह शब्द, जो प्राकृत-प्रसूत है, तद्भव कहलाता है। संस्कृत से उधार लिया हुआ प्रत्येक शब्द जो प्राकृत से उत्पन्न नहीं है और इस कारण ठेठ नहीं है, तत्सम कहलाता है, यदि तद्भव शब्द न मिलते हों तो तत्सम शब्द का प्रयोग करने में कोई आपत्ति नहीं। 'पाप' तत्सम है। ठीक इस अर्थ का द्योतक कोई तद्भव शब्द नहीं है। अतएव यथा-स्थान 'पाप' का प्रयोग किया जा सकता है। किन्तु जहाँ एक ही अर्थ के दो शब्द हैं, एक तद्भव (अर्थात् ठेठ) और दूसरा तत्सम, वहाँ तद्भव शब्द का ही प्रयोग होना चाहिए। 'हाथ' के लिए तद्भव शब्द 'हत्थ' और तत्सम शब्द 'हस्त' है। अतएव 'हस्त' के स्थान पर 'हाथ' का प्रयोग होना ही संगत है।"

"यह स्मरण रखना चाहिए कि प्रत्येक तत्सम शब्द उधार लिया हुआ है। यह उधार हिन्दी को अपनी दादी से लेना पड़ता है। यदि मैं अपने सम्बन्धियों तथा मित्रों से प्रायः ऋण लेने की आदत डालूँ तो मैं विनष्ट हो जाऊँगा। इसी प्रकार यदि हिन्दी उस अवस्था में भी जब कि उसके लिए ऋण लेना नितान्त आवश्यक नहीं है, ऋण लेने का स्वभाव डालती रही तो वह भी विनष्ट हो जायगी। इस कारण मैं बलपूर्वक यह सम्मति देता हूँ कि हिन्दी के लेखक, जहाँ तक संभव हो, ठेठ शब्दों अर्थात् तद्भव शब्दों का प्रयोग करें; क्योंकि वे हिन्दी के स्वाभाविक अंग अथवा अंश भूत साधन हैं। उधार लिये हुए संस्कृत शब्दों का जितना ही कम प्रयोग हो उतना ही अच्छा।"

डाक्टर साहब का संस्कृत को ठेठ हिन्दी का दादी कहना ठीक ही है। परन्तु हम लोग दादी को ऐसा सम्बन्धी नहीं समझते जिससे उधार लेने में किसी तरह की झिझक मालूम हो। जो हो, ऐसी भाषा लिखने के लिए कमर कसना जिसमें उन विदेशी शब्दों का बहिष्कार भी करना पड़े जो हिन्दी की प्रकृति में तन्मय हो गये हैं अपने ही आप को बंधन में डालना है। समझ में नहीं आता, ठेठ हिन्दी पर इतना आवश्यक

ज़ोर देने में डाक्टर महोदय का क्या उद्देश्य है, जब कि यह सर्वथा स्पष्ट है कि एक ओर तो परिमित क्षेत्र के भीतर व्यतीत होने वाले सरल, कृषि-व्यवसायी ग्रामीण जीवन के प्रयोग में आने वाले शब्द उच्च शिक्षा का माध्यम होने वाली प्रगतिशील भाषा के लिए पर्य्याप्त नहीं हो सकते, और दूसरी ओर सरकारी आदलतों के अधिक सम्पर्क से ग्रामीण बोली के अंग-स्वरूप अनेक फ़ारसी और अरबी शब्दों का ग्रामीणों की कथित भाषा ही में से बहिष्कार नहीं किया जा सकता। यदि हरिऔध जी ने एक सरल कहानी न लिख कर कोई अर्थशास्त्र या इतिहास का ग्रंथ लिखा होता तो सम्भवतः उनके सामने अनिवारणीय कठिनाई उपस्थित हो जाती। जो हो, हिंदी गद्य के इतिहास में हरिऔध जी का यह प्रयोग स्मरणीय रहेगा। 'ठेठ हिंदी का ठाट' से एक अवतरण पाठकों के अवलोकनार्थ नीचे दिया जाता है :—

"एक दिन हेमलता अपने पति रमाकान्त के पास बैठी हुई पंखा झल रही थी। इधर उधर की बात हो रही थी, इसी बीच देवबाला की बात उठी। हेमलता ने कहा—'देवबाला ग्यारह बरस की हो गयी, अब उसका ब्याह हो जाना चाहिए, मैं चाहती हूँ इस बरस आप इस काम को कर डालें।' रमाकान्त ने कहा—'यह बात मेरे जी में भी बहुत दिनों से समायी है। मैं भी इस बरस उसका ब्याह कर देना चाहता हूँ। पर क्या करूँ, कहीं जोग घर नहीं मिलता। एक ठौर ब्याह ठीक भी हुआ है तो वह पाँच सौ रोक माँगते हैं। इसी से कुछ। अटक है, नहीं तो इस बरस ब्याह होने में और कोई झंझट नहीं है।"

उपन्यास की इस भाषा के साथ उस भाषा की तुलना कीजिए जिसे हरिऔध जी ने ग्रन्थ डाक्टर ग्रियर्सन महोदय को समर्पित करते हुए लिखी है :—

"मैं एक साधारण जन हूँ, आप मुझसे सर्वथा अपरिचित हैं। किंतु महानुभाव की सत्कीर्त्तिकल कौमुदी, हिम धवल शृंगसमूह विमंडित हिमाचल से भारत समुद्र के उत्ताल तरंग-माला विधौत कन्याकुमारी अन्तरीप तक सुविकीर्ण है। आज उसकी नैसर्गिक शीतलता पर भारत-

वर्ष का प्रत्येक पठित समाज विमुग्ध है, और प्रत्येक सुशिक्षित व्यक्ति उसकी मनः प्राण परितोषिणी माधुरी पर आसक्त, इसी सूत्र से मुझ अल्पज्ञ को भी आपसे परिचय रखने की प्रतिष्ठा प्राप्त है। और यही कारण है जो आज मैं आपकी सेवा में एक सदुपहार लेकर उपस्थित होने का साहस करता हूँ। उपहार अपर कश्चित् वस्तु नहीं, मेरा ही निर्माण किया हुआ 'ठेठ हिंदी का ठाट' नामक एक साधारण उपन्यास है। आशा है, आप इसको ग्रहण करके मेरे आन्तरिक अनुराग की परितृप्ति साधन कीजिएगा। विशेष निवेदन करके मैं आपके अमूल्य समय को विनष्ट नहीं करना चाहता।"

'ठेठ हिंदी का ठाट' की भूमिका की भाषा भी ऐसी ही है। निम्नलिखित अवतरण देखिए :—

"एक वर्ष बीतने पर है, हमारे अमायिक बन्धु महाराज कुमार बाबू रामदीन सिंह जी ने मुझसे ठेठ हिंदी की कोई पुस्तक लिखने के लिए अनुरोध किया था। मैं भी उनकी आज्ञानुसार उसी समय इस कार्य्य के सम्पादन के लिए दत्तचित्त हुआ था। किंतु कतिपय कारणों और दुर्निवार विघ्नों का एकत्र समावेश होने से अब तक मैं उक्त कार्य्य की पूर्ति में असमर्थ रहा हूँ। किन्तु आज मैं बहुत प्रसन्न हूँ कि जिस विषय पर एक वर्ष से लक्ष्य रहा है वह आज मेरे हस्तगत हुआ है।"

ग्रन्थ की भाषा से पाठक ग्रन्थ की भूमिका अथवा उसके समर्पण की भाषा का मिलान करें। एक का मुँह उत्तर की ओर है तो शेष दोनों का मुँह दक्षिण की ओर! फिर भी यह स्वीकार करना पड़ेगा कि उपन्यास की भाषा में प्रायः सर्वत्र स्वाभाविकता का प्रवेश हो सका है और उसने मर्म्मस्पर्शी भावों को व्यक्त करने में अपनी शक्ति प्रदर्शित की है।

ठेठ हिन्दी का ठाट नारी का बड़ा ही सरल रूप अंकित करता है। देवबाला का दर्शन हमें सब से पहले आँचल के नीचे एक माला छिपाये रहने की अवस्था में होता है। देवनन्दन के बहुत आग्रह करने पर जब वह माला दिखलाती है तब देवनन्दन स्वभावतः पूछ बैठता है—"यह माला तुमने क्यों बनायी है देवबाला? देवबाला उत्तर न देकर

है कि तुम्हीं न बतलाओ, देखें तुम ठीक बात बता पाते हो या
देवनन्दन के यह कहने पर कि भला हम तुम्हारे जी की बात कैसे
सकेंगे, वह कहती है—"क्या तुम हमारे जी की बात नहीं जानते ?
हीं जानते तो हमसे मिलने के लिए यहाँ कैसे आया करते हो ?"
ड़की का इतना कह जाना कम नहीं, इसलिए स्वभावतः उसकी
लज्जा से नत हो गयीं और कपोलों पर लालिमा दौड़ गयी।
ोड़ी देर के बाद देवबाला फिर कहती है—"क्या जिसको कोई
करता है, कुछ अच्छा मिलने पर वह उसे देना नहीं चाहता ?"
ा की यह स्पष्टोक्ति ही बतलाती है कि प्रेमदेव ने उसके सरल
पर कितना प्रबल आक्रमण किया था। किन्तु पिता की हठधर्म्मी
ारण इस अभागिनी बालिका का जीवन नष्ट हो गया। किसी
प्रियतम को लक्ष्य करके उसने भौंरों से छेड़छाड़ न करने की
ा इस प्रकार की थी—

मान जा भँवर कही तू मेरी।
भूल न रस लै इन फूलन को पर्यां लागत तेरी।
तोरि तोरि इनहीं को गजरा अपने हाथ बनैहों।
अपनावन को पहिनि गरे में मनवारे को दैहों।
कितने फूलन बारे यामें नहि तेरो बिगरैहै।
पै माने इतनी ही बतिया छतिया मोर सिरैहै।

किन्तु वही प्रियतम उसके जीवन से बहुत दूर कर दिया गया और
ा विवाह हुआ एक ऐसे दुराचारी व्यक्ति के साथ जो एक पुत्र
पेता होकर कहीं चला गया और बेचारी देवबाला को अपार
-सागर में निमग्न कर गया।
जीवन बड़ा ही विचित्र है। देवबाला और देवनन्दन की अकस्मात्
हो जाती है, किन्तु जिन परिस्थितियों में होती है वे अत्यन्त
ाजनक और हृदय-विदारक हैं। जिस समय भेंट हुई उस समय
ाला धरती पर पड़ी हुई फूट फूट कर रो रही थी। उसके सारे
ड़ भीगे हुए थे, उसकी आँखें मुँदी हुई थीं, उसके बाल मुँह पर
र रहे थे, उसकी देह कीचड़ में सनी हुई थी और कीचड़ ही में वह

लोट रही थी। उसने देवनन्दन की बातों को पहले सुना ही नहीं, सुना भी तो कहा—"न सताओ, हमें जी भर कर रोने दो, हमारा दुःख इसी से हलका होता है, दूसरा कोई उपाय हमारे लिए नहीं है, हमारे कलेजे का घाव पूरा नहीं हो सकता।"

देवनन्दन के बहुत आग्रह करने पर देवबाला ने अपने दुःख का कारण बतलाया—यह कारण था उसके बच्चे की बीमारी। देवनन्दन ने कुछ उपचार करके लड़के को चंगा किया। देवबाला ने उसे न पहचानते हुए कहा—"आप कोई देवता हैं, मेरा मन कहता है आप कोई देवता हैं, आपने मेरे लड़के का जी बचाया, जो लड़का मुझ निर्धनी का धन, मुझ कँगालिनी की पूँजी, मुझ दुखिया का सहारा है···।"

देवबाला को जब मालूम हुआ कि उसका सहायक अन्य कोई नहीं देवनन्दन ही है तब उसके हृदय को एक आघात का अनुभव हुआ, विशेष करके यह सोचकर कि देवनन्दन ने अपना ब्याह नहीं किया। उसने उनकी देह में राख, सिर पर लम्बी लम्बी जटाएँ, हाथ में तूँबा और चिमटा तथा गेरुए रङ्ग का एक वस्त्र देखकर उनसे पूछा—"क्या तुम साधू हो गये हो? किन्तु देवनन्दन ने कुछ उत्तर नहीं दिया और देवबाला के पति को ढूँढ़ लाने के लिए प्रस्थान कर दिया। देवनन्दन के चले जाने के तीन मास बाद देवबाला क्षयरोग-ग्रस्त हो गयी। धीरे-धीरे उसकी दशा बहुत बिगड़ गयी। एक दिन उसका चार बरस का लड़का उसकी खाट के पास खड़ा होकर कभी रोता था, कभी मा, मा करके खाना माँगता था, कभी धूल में लोटता था और कभी देवबाला के मुँह के पास जाकर कहता था, मा बोलती क्यों नहीं हो? अचानक देवबाला की आँखें खुलीं, उसने लड़के को हाथ से पास बुलाया; अपने आँचल से उसकी धूल झाड़ी, कहा, बेटा! क्यों रोते हो? अभी तुम्हारी मा जीती है। यह कह कर देवबाला ने बच्चे को गोद में ले लिया और अत्यन्त व्याकुल होकर क्रन्दन किया।

देवबाला आदर्श पत्नी थी। प्रेम में निराश स्त्री का, विशेष करके ऐसी स्त्री का जिसका पति दुराचारी हो गया हो, आदर्श पत्नी होना

विशेष प्रशंसनीय बात है। उसे अपने जीवन के अन्त को निकट आते देखकर अधिक कष्ट इसी बात का हो रहा था कि वह अपने पूज्य स्वामी का दर्शन नहीं पा सकी। वह कहती है, "जीजी, एक बात और जी में रही जाती है। क्या अब उनको न देख सकूँगी ? इस घड़ी जो उनको एक बार देख पाती तो सब दिन का दुःख भूल जाती, मरने का दुःख भी भूल जाती।"

पति के लौटने की कोई आशा नहीं, और मेरा जीवनान्त हो रहा है, यह सोचकर देवबाला का अपने पुत्र की अनाथ अवस्था से दुखी होकर इस प्रकार सोचना स्वाभाविक ही था। "आज मैं इसकी धूल झाड़ती हूँ, मुँह चूमती हूँ, इसको रोते देखकर दुखिया बनती हूँ। हाय ! कल्ह इसकी धूल कौन झाड़ेगा ? कौन इसका मुँह चूमेगा ? कौन इसको रोते देखकर कलेजा पकड़ेगा ? कल्ह यह किसको मा कहेगा ? कौन इसके मुँह को सूखा न देख सकेगी ? भूख लगने पर जब यह रोवेगा, प्यास से जब इसका मुँह कुम्हलावेगा, तब कौन इसको छाती से लगा कर कहेगी, बेटा मत रोओ, मेरे लाल मत रोओ, देखो यह कलेऊ है, इसको खाओ। यह पानी तुम्हारे लिए लाई हूँ, इसको पीओ। कल्ह यह बाल खोले, मुँह बिचकाये रोता फिरेगा, धूल में भरा, भूखा, प्यासा, गलियों में ठोकरें खाता रहेगा......"

जैसे-तैसे राम राम करके देवनन्दन देवबाला के पति रामनाथ को लेकर आ पहुँचता है और देवबाला पति की गोद में लड़के को सौंप कर नश्वर शरीर से छुटकारा पाती है।

इस उपन्यास में देवबाला का चरित्र जितना ही आकर्षक है उतनी ही आकर्षक उपन्यासकार की वह प्रवृत्ति है जिसके कारण उसने देवबाला के लिए रमानाथ ऐसा वर ढूँढ़ा। शायद यह इसलिए किया गया है कि देवबाला के पिता की मूर्खता अधिक स्पष्ट रूप से झलके। निसन्देह हमारे समाज में ऐसे पिताओं की कमी नहीं है जो कन्या का विवाह करते समय योग्य लड़के के गुणों की उपेक्षा करके केवल कुलीनता आदि बाहरी बातों का विचार करते तथा अयोग्य लड़कों के साथ

अपनी कन्या व्याह देते हैं। जो हो, इस उपन्यास में देवबाला और देवनन्दन की सृष्टि करके हरिऔध जी ने हिन्दू समाज की आदर्श-वादिता की घोषणा की है। यदि देवबाला के स्थान में अन्य कोई स्त्री होती, उदाहरण के लिए पाश्चात्य देशों की संस्कृति में पली हुई कोई स्त्री होती, तो क्या उसके हृदय का त्याग के क्षेत्र में यह अपूर्व संस्कार हो सकता जो देवबाला के जीवन में प्रत्यक्ष रूप से देख पड़ता है? पाश्चात्य-संस्कृति की अनुगामिनी स्त्री को जाने दीजिए, हमारे ही समाज में इतनी उपेक्षिता होकर नारी अपने पूर्व प्रेमिक के प्रति—यदि कोई वास्तव में है और यदि उससे जीवन में फिर भेंट होती है तो—आकर्षित हो सकती है। किन्तु देवबाला का प्रणय इतना मधुर, इतना गम्भीर होते हुए भी, उस लोलुपता से मुक्त है जो उसको कर्तव्य-पथ से डिगा दे। अतएव जहाँ इस उपन्यास में देवबाला के पिता को हम अवांछनीय समझते हैं वहाँ देवबाला की सहनशीलता से भी प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकते। देवबाला की चरित्र-सृष्टि में हरिऔधजी ने जो कौशल प्रदर्शित किया है उससे आगे अभी तक हिन्दी के आधुनिक उपन्यासकार नहीं जा सके हैं, क्योंकि पाश्चात्य संस्कृति के संघर्ष से विकल हमारे नूतन समाज की एक बहुत बड़ी समस्या, जिसे देवबाला हल कर देती है, हमारे आधुनिक उपन्यासकारों के हाथों में पड़कर अभी पेचीली ही बनी हुई है। इस उपन्यास के द्वारा जहाँ एक ओर हरिऔधजी ने प्रेमी की स्वाभाविक प्रगति की ओर हमारा ध्यान आकर्षित किया है, वहाँ संतोष और नारी-धर्म्म की पावनता का चित्र भी अंकित किया है। हरिऔधजी की यह चरित्र-सृष्टि इस दृष्टि से भी आकर्षक है कि वह आध्यात्मिक दृष्टिकोण को ग्रहण करने की ओर उनकी प्रगति की सूचना देती है।

देवनन्दन का त्याग प्रशंसनीय है। देवबाला की पवित्र प्रणयस्मृति की वेदी पर उसने अपने सांसारिक जीवन का बलिदान ही कर दिया। वास्तव में देवनन्दन ही के रूप में उपन्यासकार ने अपनी प्रवृत्तियों को अभिव्यक्ति प्रदान की है, जैसा कि निम्नलिखित अवतरण से स्पष्ट हो जायगा:—

"एक एक करके दिन जाने लगे। देवबाला को मरे कई दिन हो गये। पर देवनन्दन अबतक उसको नहीं भूले हैं। अबतक वह लड़कपन की हँसती खेलती देवबाला, अबतक ब्याह के पहले की, बिना घबराहट की लजीली देवबाला, अबतक वह दुखिया रोती कलपती देवबाला उनकी आँखों में, कलेजे में, जी में, रोएँ रोएँ में घूम रही है। जागते-सोते, उठते-बैठते, खाते-पीते देवबाला की सुरत उनको बँध रही है। वह सोचते हैं—क्यों, देवबाला की कोई ऐसी कमाई तो नहीं थी, जिससे इसको इतना दुख मिले।"

× × × ×

"देस की बुरी रीति जो रमाकान्त के जी को डावाँडोल न करती, नासमझी से जो वह हाड़ ही को सब बातों से बढ़ कर न समझते, झूठे घमंडों के बस उतर कर ब्याह करके लोगों से हँसे जाने का जो उनको डर न होता, तो वह हठ न करते और जो वह हठ न करते तो रमानाथ जैसे क्रूर के साथ देवबाला का ब्याह न होता, न कभी देवबाला जैसी तिरिया की यह दसा होती। देस की बुरी रीतियों, झूठे घमंडों से कितने फूल जो ऐसे ही बिना बेले कुम्हला जाते हैं, कितनी लहलही बेलियाँ जो नुच कर सूख कर धूल में मिल जाती हैं, नहीं कहा जा सकता राम! क्या तुम यही चाहते हो, यह देस बुरी रीतियों के बस में पड़ ऐसे ही दिन दिन मिट्टी में मिलता रहे?"

× × × ×

देवनन्दन ने साधु वेष धारण कर लिया था। साधु वेष सांसारिक विषयों के प्रति विराग का सूचक है। इसलिए देवबाला की बार बार स्मृति करना उसके लिए अनुचित था। वह कहता है :—

"जब मैंने जग से नाता तोड़ लिया, जी के उचाट से घर दुआर छोड़कर साधू हो गया, अपना ब्याह तक नहीं किया, एक कौड़ी भी अपने पास नहीं रखता.....जब इस भाँत मैं सब झमेलों से दूर हूँ, तूँबा और लँगोटी ही से काम रखता हूँ तो फिर एक तिरिया की घड़ी घड़ी सुरत किया करना, उसके दुःखों को सोच सोच कर मन मारे

रहना देस की बुरी रीति के लिए कलेजा पकड़ना, आँसू बहाना मुझको न चाहिए, अब इन बखेड़ों से मुझको कौन काम है ?"

नीचे की पंक्तियों में देवनन्दन ने अपने इस प्रश्न का स्वयं जो उत्तर दिया है उसमें हरिऔध जी के साधु जीवन-सम्बन्धी विचार भी अंकित हो गये हैं :—

"भभूत लगाने से क्या होगा ? गेरुआ पहनने से क्या होगा ? घर दुवार छोड़ने से क्या होगा ? लँगोटी किस काम आवेगी ? तूँबा क्या करेगा ? साधू होने ही से क्या, जो दूसरे का दुःख मैं न दूर करूँ, दुखिया को मैं सहारा न दूँ, जिस काम के करने से देश का भला हो उसमें जी न लगाऊँ। देस की बुरी रीति के दूर होने के लिए जतन करना, लोगों के झूठे घमण्डों को समझा बुझा कर छुड़ाना, जिससे एक का कौन कहे लाखों का भला होगा, क्या मेरा काम नहीं है। क्या मेरे साधू होने का सबसे वड़ा फल यह नहीं है।"

पवित्र प्रणय में मानव जीवन को उच्च बनाने की बहुत बड़ी शक्ति है। धीरे धीरे देवनन्दन ने देववाला को भुला कर परोपकार के कार्य्यों में दत्त-चित्त होने का निश्चय कर लिया। वह स्वयं ही कह पड़ता है, "देववाला भूल जावे, भूल जावे; उसको अब भूल जाना ही अच्छा है ! पर साँस रहते मैं दूसरे की भलाई के कार्य्यों को कैसे भूल सकता हूँ।"

मैं कह आया हूँ कि हरिऔध की रचनाओं में 'ठेठ हिन्दी का ठाट' का विशेष स्थान है; भाषा और विचार दोनों के क्षेत्र में उनके परिवर्तित दृष्टिकोण का प्रथम परिचय इसी ग्रन्थ से मिलता है। यहीं, विशेष रूप से देवनन्दन के चरित्र-विकास में, हरिऔध के जीवन-सम्बन्धी उस परमार्थिक दृष्टि-कोण का आभास भी मिलता है जिसे उनकी उत्तरकालीन रचनाओं में पाठक अधिकाधिक स्पष्ट होता हुआ पाएँगे। वे इस छोटे से ग्रन्थ में देश की एक छोटी समस्या को लेकर चले और देवनन्दन की चरित्र-सृष्टि करके, साधु बना कर भी उसे उन्होंने देश ही की सेवा की ओर अग्रसर किया। वे सहज ही देवनन्दन

को संसार के प्रति विरक्त बनाकर सच्चा साधु बना सकते थे, जिसे अपने जीवन की सबसे अधिक प्रिय वस्तु के खो जाने से संसार से वास्तविक विराग हो गया है—वह विराग जिसकी अभिव्यक्ति का देशानुराग ही एक मात्र साधन नहीं है। किन्तु हरिऔध जी समाज-सेवा और देश-सेवा को इस समय जितना महत्व देने लगते हैं उतना विरक्त जीवन को नहीं। इस दृष्टि से 'ठेठ हिन्दी का ठाट' को हम हरिऔध जी के विचार-स्वातन्त्र्य का अरुणोदय कह सकते हैं।

'ठेठ हिन्दी का ठाट' में हरिऔध जी की प्रकृति के प्रति प्रायः उतनी ही प्रवृत्ति दिखाई पड़ती है जितनी मनुष्य के प्रति। उनके पूर्व ग्रंथों से इस ग्रंथ में यह भी एक विशेषता है। 'प्रिय-प्रवास' में पाठक हरिऔध जी का बहुत ही सुन्दर और सुविस्तृत प्रकृति-वर्णन देखेंगे। उसका अध्ययन करने का अवसर आने के पहले हमें 'ठेठ हिन्दी का ठाट' में उनकी इस विशेषता का दर्शन कर लेना चाहिए। पाठक नीचे के अवतरण देखें:—

"देवबाला पोखरे की छटा देखने लगी। उसने देखा, उसमें बहुत ही सुथरा नीले काँच ऐसा जल भरा है, धीमी बयार लगने से छोटी छोटी लहरें उठती हैं; फूले हुए कौंल अपने हरे हरे पत्तों में धीरे धीरे हिलते हैं। नीले आकास और आस पास के हरे फूले फले पेड़ों की परछाहीं पड़ने से वह और सुहावना और अनूठा हो रहा है। सूरज की किरनें उस पर पड़ती हैं, चमकती हैं, उसके जल के नीले रंग को उजला बनाती हैं और टुकड़े टुकड़े हो जाती हैं। आकास का चमकता हुआ सूरज उसमें उतरता है, हिलता है, डोलता है, थर थर काँपता है और फिर पूरी चमक-दमक के साथ चमकने लगता है। मछलियाँ ऊपर आती हैं, डूब जाती हैं, नीचे चली जाती हैं, फिर उतराती हैं, खेलती हैं, उछलती-कूदती हैं। चिड़ियाँ ताक लगाये घूमती हैं, पंख बटोर कर अचानक आ पड़ती हैं, डूब जाती हैं, दो एक को पकड़ती हैं और फिर उड़ जाती हैं।"

× × ×

"एक सुन्दर फुलवारी है, कहीं बेला फूला है, कहीं चमेली फूली है, कहीं पीले फूलों वाला गेंदा है, कहीं प्यारी प्यारी नेवारी है, कहीं मोगरा है, कहीं चम्पा है, कहीं अनोखे फूलवाले हरसिंगार हैं, कहीं कचनार हैं।"

× × × ×

"आधी रात का समाँ, बड़ी अँधियाली रात, सब ओर सन्नाटा, इस पर बादलों की घेर घार, पसारने पर हाथ भी न सूझता। किसी पेड़ का एक पत्ता तक न हिलता। काले काले बादल चुपचाप पूरब से पच्छिम को जा रहे थे। बयार दबे पाँव उन्हीं का पीछा किये बहुत ही धीरे धीरे चलती थी। और कहीं कोई आता जाता न था, पखेरू पंख तक हिलाते न थे। सब साँस खींचे, चुप साधे, डरावनी रात के सन्नाटे को और डरावना बना रहे थे।"

'अधखिला फूल' आकार में 'ठेठ हिन्दी का ठाट' से बड़ा है। उसकी भाषा भी ठेठ हिन्दी है। एक अवतरण देखिये:—

"चाँद कैसा सुन्दर है, उसकी छटा कैसी निराली है, उसकी शीतल किरणें कैसी प्यारी लगती हैं। जब नीले आकाश में चारों ओर वह ज्योति फैला कर रस की बर्षा सी करने लगता है, उस घड़ी उसको देख कर कौन पागल नहीं होता। आँखें प्यारी प्यारी छवि देखते रहने पर भी प्यासी ही रहती हैं! जी को जान पड़ता है, उसके ऊपर कोई अमृत ढाल रहा है, दिशाएँ हँसने लगती हैं, पेड़ की पत्तियाँ खिल जाती हैं। सारा जग मानों उमंग में डूबने सा लगता है। ऐसे चाँद, ऐसे सुहावने और प्यारे चाँद में काले काले धब्बे क्यों हैं। क्या कोई बतलावेगा। आहा! यह कमल सी बड़ी बड़ी आँखें कैसी रसीली हैं। इनकी भोली भाली चितवन कैसी प्यारी है। इनमें मिसिरी किसने मिला दी है। देखो न कैसी हँसती हैं, कैसी अठखेलियाँ करती हैं। चाल इनकी कैसी मतवाली है। यह जी में क्यों पैठी जाती हैं। बरबस प्रान को क्यों अपनाये लेती हैं। क्या इनकी सुन्दरता ही यह सब नहीं करती। ओ हो, क्या कहना है!

है। इसलिए कि उसकी सुन्दरता में जादू है। पर घड़ी भर पीछे यह क्या गत है। इनको क्यों इतना उदास देखते हैं। यह आँसू क्यों बहा रही हैं। क्या कोई कह सकता है।"

उक्त अवतरण के रेखांकित शब्दों के साथ यदि उन्हीं अथवा उन्हीं के से 'ठेठ हिन्दी का ठाट' के शब्दों से आप तुलना करेंगे तो देखेंगे कि ठेठ हिन्दी के स्वरूप के सम्बन्ध में हरिऔध जी के विचारों में कुछ परिवर्तन हो गया है। स्वयं हरिऔध जी अधखिला फूल की भूमिका में लिखते हैं :—

"जिस समय मैंने 'ठेठ हिन्दी का ठाट' लिखा था उस समय साधारण लोगों की बोल चाल पर बहुत दृष्टि रखता था और, जिन संस्कृत शब्दों को एक साधारण ग्रामीण को बोल चाल के समय काम में लाते देखा उन्ही शुद्ध संस्कृत शब्दों का प्रयोग मैंने उक्त ग्रन्थ में किया। किन्तु ये शुद्ध संस्कृत शब्द अधिकतर दो अक्षरों के हैं, जैसे रोग, दुख, सुख इत्यादि। मैंने उस ग्रन्थ में तीन अक्षर के शुद्ध संस्कृत शब्दों का प्रयोग भी किया है, किन्तु अल्प, उपाय इत्यादि दो ही चार शब्द इस प्रकार के उसमें आये हैं। कारण इसका यह है कि उस समय तक मैंने कतिपय तीन अक्षरों के संस्कृत शब्दों के विषय में यह निश्चित नही कर लिया था कि वे शब्द अवश्य सर्व साधारण की बोल चाल में व्यवहृत हैं—उस समय ये सब शब्द मीमांसित हो रहे थे। किन्तु अब मैंने इन शब्दों के विषय में निश्चय कर लिया है कि ये सब अवश्य सर्व साधारण की बोल चाल में आते हैं। अतएव इस ग्रन्थ में मैंने इन सब शब्दों का प्रयोग निस्संकोच किया है—ये तीन अक्षर के शब्द चंचल, आनन्द, सुन्दर इत्यादि हैं।

'ठेठ हिन्दी का ठाट' की भूमिका में मैंने ठेठ हिन्दी लिखने में ऐसे शुद्ध संस्कृत शब्दों का प्रयोग करना उत्तम नही समझा है कि जिनके स्थान पर अपभ्रंश संस्कृत शब्द प्राप्त हो सकते हैं, और इसीलिए 'कहानी ठेठ हिन्दी' में जो 'चंचल' शब्द का प्रयोग हुआ है उस पर मैंने कटाक्ष किया है, किन्तु अब मैं इस विचार को समीचीन और

युक्ति-संगत नहीं समझता, क्योंकि यदि इस नियम को मान कर ठेठ हिन्दी लिखी जावेगी तो उसका परिणाम विस्तृत होने के स्थान पर संकुचित हो जावेगा। × × ×
निदान इसी सूत्र से 'आनन्द' और सुन्दर का पर्य्यायवाची 'हरख' और 'सुघर' शब्द मिलते हुए भी मैंने 'अधखिला फूल' में इन शब्दों का प्रयोग यथास्थान किया है।"

सच बात यह है कि विवश होकर अथवा वृद्धिशील अनुकूल प्रवृत्ति के कारण हरिऔध जी ने ठेठ हिन्दी में भी संस्कृत के शुद्ध शब्दों को ग्रहण कर लिया है। इस ग्रन्थ की भूमिका की भाषा भी वही है जो 'ठेठ हिन्दी का ठाट' की भूमिका की थी। इस ग्रन्थ में भी समर्पण 'ठेठ हिन्दी का ठाट' के ढंग पर ही संस्कृत-गर्भित भाषा ही में लिखा गया है। अतएव यह तो स्पष्ट है कि सब प्रकार का गद्य लिखे जाने में ठेठ हिन्दी की योग्यता सिद्ध करने का गम्भीर प्रयत्न हरिऔध जी ने नहीं किया। भूमिका की भाषा पाठक देख चुके हैं। अब इस ग्रन्थ के समर्पण की भाषा भी देख लीजिए :—

"बालार्क अरुण राग रंजित प्रफुल्ल पाटल प्रसून, परिमल विकीर्ण-कारी मन्दवाही प्रभात समीरण, अतसी कुसुमदलोपमेय कान्तिनव जलधर पटल, पीयूष प्रवर्षणकारी सुपूर्ण शुभ्र शारदीय शशांक, रवि किरणोद्भासित वीचि विक्षेपण शीला तरंगिणी, श्यामल तृणावरण परि-शोभित उत्तुंग शैल शिखर श्रेणी, नवकिशलय कदम्ब समलंकृत वासंतिक विविध विटपावली, कोकिल कुल कलंकीकृत कण्ठ-समुत्कीर्ण कल निनाद; अत्यन्त मनोमुग्ध कर और हृदयतल-स्पर्शी हैं। किन्तु इन अलौकिक प्रमोदकर प्राकृतिक पदार्थों की अपेक्षा किसी पुरुष रत्न के पवित्र औदार्य्यादिगुण विशेष हृदयग्राही और विमुग्धी कृत मनः प्राण हैं।"

अधखिला फूल की भूमिका में वे एक जगह स्वयं यह भी लिखते हैं :—

"एक विषय में मैं बहुत लज्जित हूँ—और वह इस भूमिका की भाषा है। इस भूमिका में बहुत से संस्कृत शब्दों का प्रयोग करके मैं गोस्वामी तुलसीदास जी के इस वाक्य का कि—

"पर उपदेश कुशल बहुतेरे।
जे आचरहिं ते नर न घनेरे।"

स्वयं आदर्श बन गया हूँ। किन्तु क्या करूँ, एक तो जटिल विषयों की मीमांसा करनी थी, दूसरे यह भूमिका बहुत शीघ्रता में लिखी गयी है, अतएव इस दोष से मैं मुक्त न हो सका। यदि परमात्मा सानुकूल है तो आगे को इस विषय में सफलता लाभ करने की चेष्टा करूँगा।"

यदि जटिल विषयों के स्थान में सरल विषयों की मीमांसा करनी होती अथवा हरिऔध जी को अधिक समय मिला होता तो संभवतः उन्होंने भूमिका की भाषा को भी ठेठ हिन्दी बना दिया होता, इसी तरह यदि विशेषणों और समास पदों की भरमार न करनी होती तो शायद समर्पण की भाषा भी ठेठ हिन्दी हो सकती। किन्तु इससे केवल इतना ही सिद्ध हुआ कि ठेठ हिन्दी में यदि कोई चीज़ लिखी जा सकती है तो वह सीधी सादी कहानी ही हो सकती है, अन्य विषय नहीं। कहानी लिखने में भी शब्दों के निर्वाचन में प्रयत्न की आवश्यकता बनी ही रह जायगी, क्योंकि हरिऔध जी ने कोई बड़ा और पेचीदा कथानक ले कर अथवा समाज की किसी गूढ़ समस्या को सामने रख कर किसी उपन्यास की रचना-द्वारा यह नहीं दिखाया कि सरलता से ठेठ हिन्दी उसका भार वहन कर सकती है। जो हो, हरिऔध जी की ठेठ हिंदी में किसी भी लेखक ने न कोई कहानी लिखी और न कोई उपन्यास, अन्य विषयों को तो जाने दीजिए। अब हमें यह देखना चाहिए कि इस ग्रन्थ से हरिऔध जी के तत्कालीन विचारों और भावों का कैसा परिचय मिलता है। यह उल्लेख-योग्य बात है कि प्रकृति की ओर हरिऔध जी की अनुकूल प्रवृत्ति बढ़ती हुई देख पड़ती है। पाठक उनका प्रकृति-वर्णन देखें:—

वैशाख का महीना, दो घड़ी रात बीत गयी है। चमकीले तारे चारों ओर आकाश में फैले हुए हैं, दूज का बाल सा पतला चाँद पश्चिम की ओर डूब रहा है, अँधियाला बढ़ता जाता है, ज्यों ज्यों अँधियाला बढ़ता है, तारों की चमक बढ़ती जान पड़ती है। उनमें जोत सी फूट रही है। वे कुछ हिलते भी हैं, उनमें चुपचाप कोई कोई कभी टूट पड़ते हैं, जिससे सुनसान आकाश में रह रह कर फुलझड़ी सी छूट जाती है। रात का सन्नाटा बढ़ रहा है, ऊमस बड़ी है, पवन डोलती तक नहीं, लोग घबड़ा रहे हैं, कोई बाहर खेतों में घूमता है, कोई घर की छतों पर ठण्ढा हो रहा है, ऊमस से घबड़ा कर कभी कभी कोई टिटिहरी कहीं बोल उठती है।"

जहाँ कहीं अवसर मिला है, हरिऔध जी ने प्रकृति के मनोहर स्वरूप का वर्णन किया है। निम्नलिखित पंक्तियाँ प्राकृतिक सौन्दर्य्य प्रिय लेखनी से ही निकल सकती हैं:—

"चारों ओर बड़ी बड़ी क्यारियाँ हैं, एक एक क्यारी में एक एक फूल है, फुलवारी का समा बहुत निराला है। जो बेले पर अलबेलापन फिसला जाता है तो चमेली की निराली छवि कलेजे में ठण्डक लाती है। नेवारी ने ही आँखों की काई नहीं निवारी है—जूही के लिए भी फुलवारी में तू ही तू की धूम है। कुन्द मुँह खोले हँस रहा है; सेवती फूली नहीं समाती। हर सिंगार की आन बान, केवड़े की ऐंठ, सूरज-मुखी की टेक, केतकी का निराला जोवन, मोगरे की फबन, चम्पे की चटक, मोतिये की अनूठी महँक सब एक से एक बढ़ कर हैं। इन फूलों के पेड़ों से दूर जहाँ क्यारियाँ निबटती हैं—फूलों के छोटे छोटे पौधे थे। इनके पीछे हरे भरे केले के पेड़ अकड़े खड़े थे, जिनके लम्बे लम्बे पत्ते बयार लगने से धीरे धीरे हिल रहे थे। इन सबके पीछे फुलवारी की भीत थी, और उसके नीचे एक बहुत ही लम्बी चौड़ी खाईं थी, खाईं में जल भरा हुआ था, कोईं और कमल खिले हुए थे।"

इस उपन्यास की नायिका देवहूती है, और नायक है देवस्वरूप। देवहूती आरम्भ में वामसनी के प्रयत्नों से कामिनी मोहन की ओर

आकर्षित होती है, किन्तु शीघ्र ही अपने आपको सँभाल लेती है। एक वार कामिनी मोहन के चंगुल में फँस कर भी वह प्रणय का छल-पूर्ण प्रदर्शन करके मुक्त हो गयी, किन्तु दूसरी बार कामिनी मोहन ने अधिक दृढ़ता से उसे अपने कपट-पाश में आवद्ध किया। देव स्वरूप देवहूती के लिए सर्वथा अज्ञात व्यक्ति हैं, उस समय देवहूती जिस ढंग से उससे वातचीत करती है, वह उसके चरित्र को वहुत ऊँचा उठा देता है। देव स्वरूप के यह पूछने पर कि उससे वातचीत करने में देवहूती को कोई आपत्ति तो नहीं है, देवहूती ने उत्तर दिया—"मुझको चेत है आपने उस दिन कहा था, जो लोग धर्म की रक्षा के लिए कभी कभी इस धरती पर दिखलायी देते हैं मैं वही हूँ। जो सचमुच आप वही हैं तो आप से वातचीत करने में मुझे कोई आनाकानी नहीं है। पर वात इतनी है, इस भाँति आप से वातचीत करते मुझको इस सुन-सान घर में जो कोई देख लेगा तो न जाने क्या समझेगा। जो कोई न देखे तो धर्म के विचार से भी किसी सुनसान घर में किसी पराई स्त्री का पराये पुरुप के साथ रहना और वातचीत करना अच्छा नहीं है। आप ब्रड़े लोग हैं, इन वातों को सोचवार जो अच्छा जान पड़े कीजिए, मैं आप से वहुत कुछ नहीं कह सकती।"

देवहूती एक सती नारी की भाँति अपने कष्टमय जीवन में ही अपार सन्तोष का अनुभव करती है। माँ के पास पहुँचा देने के सम्वन्ध में किये गये देवस्वरूप के प्रस्ताव के उत्तर में वह जो वेलाग उत्तर देती है उसे सुनकर प्रत्येक व्यक्ति चकित हो सकता है। देवहूती और देवस्वरूप की निम्न-लिखित वात-चीत को देखिए:—

"देवहूती—अभी आपको मुझसे कुछ और कहना है?

देवस्वरूप—दो वातें कहनी हैं। एक तो तुम कुछ खाओ पीओ—दूसरे यहाँ का रहना छोड़कर घर चलो। तुम्हारी माँ की तुम्हारे विना वुरी गत है। उनकी दशा देख कर पत्थर का भी कलेजा फटता है।

देवहूती—आपका कहना सर आँखों पर। आप में वड़ी दया है। पर आप जानते हैं, स्त्रियों का धर्म वड़ा कठिन है। आपने मेरी वहुत वड़ी

भलाई की है। मेरा रोआँ रोआँ आप का ऋणी है। पर इतना सब होने पर भी आप निरे अनजान हैं। आप से अनजान और बिना जान पहचान के पुरुष के साथ मैं कहीं आ जा नहीं सकती। दूसरे जो दो दिन पीछे मैं इस भाँति अचानक घर चली चलूँ तो माँ न जाने क्या समझेंगी। अभी तो उन्होंने यही सुना है—मैं डूब कर मर गयी, रो कलप कर उनका मन मान ही जावेगा। पर जो कहीं उनके मन में मेरी ओर से कोई बुरी बात समायी तो अनर्थ होगा, मेरा उनका दोनों का जीना भारी होगा। रहा कुछ खाना पीना, इसके लिए अब आप कुछ न कहें। मैं समझ बूझ कर जो करना होगा करूँगी।"

देवहूती की इस बातचीत में कुछ रुखाई की बू आ सकती है, किन्तु निस्सन्देह उसने एक आदर्श स्त्री के स्वरूप में स्वयं को प्रगट किया है।

'ठेठ हिन्दी का ठाट' में जैसे देवनन्दन वैसे ही इस उपन्यास में देवस्वरूप उपन्यासकार के व्यक्तिगत सामाजिक विचारों की अभिव्यक्ति का साधन बनाया गया है। इस उपन्यास में भी हरिऔध जी ने उसके द्वारा साधुओं के विषय में अपना मत इस प्रकार प्रकट किया है हर मोहन पांड़े के साथ बातचीत के सिलसिले में वह कहता है—

'साधु होना टेढ़ी खीर है, बड़ा कठिन काम है। सर पर जटा बढ़ाये, भभूत रमाये, गेरुआ पहने, हाथ में तूँबा चिमटा लिये, आप कितनों को देखते हैं, पर क्या वे सभी साधु हैं ? नहीं, वे सभी साधु नहीं हैं। भेस उनका साधुओं का सा देख लीजिए पर गुण किसी में न पाइयेगा। कोई पेट के लिए भभूत रमाता है, कोई चार पैसे कमाने के लिए जटा बढ़ाता है, कोई लोगों से पुजाने के लिए गेरुआ पहनता है, कोई घरके लोगों से बिगड़ खड़ा होता है और झूठ मूठ साधुओं का भेस बनाये फिरता है, इन सब लोगों से निराले कुछ ऐसे लोग होते हैं जो न तो कुछ काम कर सकते, न किसी काम में जी लगाते, जिस काम को वे करना चाहते हैं, आलस से वही काम उनको पहाड़ होता है, फिर उनका दिन कटे तो कैसे ? वे सब छोड़ छाड़ कर

साधु बनने का ढचर निकालते हैं, और इसी बहाने किसी भाँति अपना दिन काटते हैं।"

देवहूती को मृत समझ कर देवस्वरूप एक साधु के साथ चले गये थे और साधुओं का सा ही जीवन बिता रहे थे। क्या वे आदर्श साधु थे? जिस समय उन्होंने देवहूती की रक्षा की थी उस समय उन्हें यह नहीं ज्ञात था कि देवहूती उनकी स्त्री है। उन्होंने उसकी रक्षा का प्रयत्न करके वही काम किया जो वे साधारणतया किया करते थे। ऐसी दशा में उन्हें साधु न कहेंगे तो किसे कहेंगे? पाखंडी साधुओं की कपटलीलाओं से विरक्त होकर शायद हरिऔध जी ने देवस्वरूप के साधु चरित्र का चित्रण किया है। साधुता का सबसे प्रधान लक्षण नम्रता है। यह गुण भी देवस्वरूप में विशिष्ट मात्रा में पाया जाता है। वे कहते हैं:—

"जितनी बातें मैं ऊपर कह आया हूँ उनसे आपने समझा होगा, मुझ में ऐसे गुण अब तक नहीं हैं जिनसे मैं साधु हो सकूँ, और इसी लिए मैंने आप से कहा है, मैं साधुओं के पाँव की धूल भी नहीं हूँ। हाँ, साधु होने के लिए जतन कर रहा हूँ। आप बड़ों की दया से जो मेरा जतन पूरा हुआ, मेरा मन ठीक हो गया और चाहें मिट गयीं तो समय आने पर मैं साधु होने की चाह रखता हूँ। इस समय साधु कह कर आप मुझको न लजवायें।"

अन्त में देवस्वरूप के साधु जीवन का विकास हरिऔध जी ने आदर्श गृहस्थ ही के रूप में किया है। उनके दैनिक कार्य-क्रम में भी गृहस्थ-जीवन ही का चित्र अंकित किया गया है:—

"जाते जाते हमको हरमोहन पाँड़े (देवहूती के पिता) का घर मिला और इसी घर की दाहिनी ओर देवस्वरूप का घर दिखलाई पड़ा। इस घर को देवस्वरूप ने अपने रुपये से बनवाया था और आज कल वह देवहूती के साथ इसी में रहते थे। देवस्वरूप के पास बाप-दादे की इतनी सम्पत थी जिससे वह अपना दिन भली भाँति बिता सकते थे। इस लिए कामिनी मोहन की सम्पत्त में से वे अपने

लिए एक पैसा नहीं लेते थे और अपने लिए जो कुछ करते थे वह अपने बाप दादे की सम्पत से ही करते थे। इस घर के द्वार पर एक बहुत बड़ी बैठक थी, इसी बैठक में देवस्वरूप बैठे हुए थे।......
नित्य ६ बजे दिन से ग्यारह बजे दिन तक देवस्वरूप अपने खोले सारे कामों की जाँच-पड़ताल, और देख-भाल करते थे, इसके पीछे वे खाने-पीने में लगते थे। अब ग्यारह बजा ही चाहता था, इस लिए देवस्वरूप भी रोटी खा कर बैठक में आ गये थे। एक पाँच बरस का लड़का उनसे तोतली बातें कर रहा था, वह भी उसको खेला रहे थे, इसी बीच ग्यारह बजा और बैठक में एक काम काजी आकर एक ओर बैठ गया, कुछ पीछे उजले कपड़ों में एक भलेमानस दिखलाई पड़े—देवस्वरूप ने उनको आदर से बैठाला, उनका कुशल-क्षेम पूछा, उनसे मीठी मीठी बातें कीं, टहलते टहलते पास जाकर उनके अनजान में सब की आँखें बचाते हुए उनके एक कपड़े के कोने में कुछ बाँधा और फिर अपनी ठौर आकर बैठ गये। ये अभी बाहर गये थे, इसी बीच किसी की चीठी लिए एक जन और वहाँ आया और वह चीठी देवस्वरूप को दी। देवस्वरूप ने उसको खोल कर पढ़ा। उसमें लिखा था।

तुम बिन नाथ सुने कौन मेरी ?

आपका—

जगमोहन

देवस्वरूप पढ़ते ही समझ गये और उस पर लिखा—पाँच फूल आप की भेंट किये जाते हैं। और पाँच रुपये उस जन को देकर वहाँ से चलता किया × × × एक बजे से चार बजे तक मेरे देखते देखते कितने लोग आये, किसी ने अपनी लड़की का ब्याह बतलाया, किसी ने आग बताया, किसी ने कोई और ही बहाना किया और देवस्वरूप ने भी कुछ न कुछ सभी को दिया। × × ×
इस ढंग की क्रियों के लिए ठीक ऐसा ही ढँग देवहूती का था और इसी लिए गाँव में घर घर इन लोगों की जै जै कार होती थी।”

देवस्वरूप का यह चित्र स्वयं हरिऔध जी के चित्र से बहुत मिलता जुलता है। हरिऔध जी गृहस्थ जीवन ही को मनुष्य का आदर्श जीवन मानते हैं, इस दैनिक जीवन-चर्य्या में थोड़ा ही हेर फेर करके हम हरिऔध जी की दैनिक जीवन-चर्य्या का दर्शन कर सकते हैं। 'ठेठ हिन्दी का ठाट' के देवनन्दन और 'अध खिला फूल' के देव-स्वरूप की चरित्र-सृष्टि जिस सामग्री से की गयी है, उसका अध्ययन करने पर पाठकों को 'प्रिय-प्रवास' के श्रीकृष्ण के व्यक्तित्व का अध्ययन करने में सुविधा होगी। इसी प्रकार 'ठेठ हिन्दी का ठाट' की देवबाला और 'अध खिला फूल' की देवहूती के चरित्र की विशेषताओं का अध्ययन करने पर हमें 'प्रिय-प्रवास' की राधा की विशेषताओं का रहस्य शीघ्र ही हृदयंगम हो सकता है। देवबाला के प्रणय की मधु-रिमा और पीड़ा की व्याकुलता के साथ यदि हम देवहूती की उदारता, परोपकारशीलता, करुणा आदि सद्गुणों को संयुक्त कर दें तो 'प्रिय-प्रवास' की राधा 'प्रिय-प्रवास' के बिना भी हमारी दृष्टि के सामने साकार रूप में उपस्थित हो जायें। आगे के पृष्ठों में 'प्रिय-प्रवास' की चर्चा होने पर पाठक इस कथन की यथार्थता का अनुभव करेंगे।

'अध खिला फूल' में एक बात और उल्लेख-योग्य है। आरम्भिक पृष्ठों में हरिऔध जी की फ़ारसी शिक्षा की चर्चा मैं कर आया हूँ। अभी तक उनके किसी ग्रंथ में इस शिक्षा का कोई ध्यान देने योग्य प्रभाव देखने में नहीं आया था। किन्तु 'अधखिला' फूल में यत्र-तत्र समाविष्ट पद्यों के रूप में वह प्रकट हुआ है। नीचे इन पद्यों की कुछ पंक्तियाँ दी जाती हैं :—

बातें अपनी तुम्हें सुनाते हैं।
कुछ किसी ढब से कहने आते हैं।

जब से देखा है चाँद सा मुखड़ा।
हम हुए तेरे ही दिखाते हैं।

दिन कटा तो न रात कटती है।
हम घड़ी भर न चैन पाते हैं।

भूल कर भी कहीं नहीं लगता।
अपने जी को जो हम लगाते हैं।
जलता रहता है जल नहीं जाता।
यों किसी का भी जी जलाते हैं।
बेबसी में पड़े तड़पते हैं।
हम कुछ ऐसी ही चोट खाते हैं।
जी हमारा जला ही करता है।
आँसू कितना ही हम बहाते हैं।
मर मिटेंगे तुम्हें न भूलेंगे।
नेम अपना सभी निभाते हैं।
हम मरेंगे तो क्या मिलेगा तुम्हें।
जी जलों को भी यों सताते हैं?
है उन्हीं का यहाँ भला होता।
जो भला और का मनाते हैं।
आप ही हैं बुरे वे बन जाते।
जो बुरा और को बनाते हैं।
हो तुम्हारा भला फलो फूलो।
अब चले हम यहाँ से जाते हैं।

× × ×

कितने ही घर हैं पाप ने घाले।
कितने ही के किये हैं मुँह काले।
पाप की बान है नहीं अच्छी।
औ न पापों से काँपने वाले।
सोते हो तेल कान में डाले।
धर्म के हैं तुम्हें पड़े लाले।
नाव डूबेगी बीच धार तेरी।
औ धरम के न पालने वाले।

हरिऔध जी की साहित्य-भाषा में अब तक पाठकों ने संस्कृत का ही रंग देखा है, लेकिन इस कविता की भाषा में फ़ारसी का रंग स्पष्ट है। भाषा में यह परिवर्त्तन अधिकांश में छन्द-परिवर्त्तन से प्रभावित हैं। हरिऔध जी के ये चौपदे उर्दू के बह्र "फ़ाइलातुन् मफ़ाइलुन् फ़ेलन्" के कैंडे पर ढले हैं। उक्त पद्यों को इन रुक्नों पर कसने से कितने ही गुरु वर्णों को ह्रस्व पढ़ना पड़ता है। हिन्दी-साहित्य के भीतर इस शैली का प्रवेश कोई नूतन बात नहीं थी; हरिऔध जी के अनेक पूर्ववर्ती शताब्दियों से उर्दू बह्रों का उपयोग करते आ रहे थे, और अब भी उनके कितने ही सम-सामयिक साहित्य-सेवी भी करते हैं, जिनमें सनेही और त्रिशूल उपनामों से कविता करने वाले पं० गयाप्रसाद शुक्ल का नाम विशेष रूप से लिया जा सकता है। किन्तु कालान्तर में 'प्रिय-प्रवास' की रचना के बाद जब वे चौपदों में विस्तार-पूर्वक काव्य करने के लिए प्रवृत्त हुए, तब निस्सन्देह उन्होंने हिन्दी-साहित्य में युगान्तर उपस्थित किया। इसकी विशेष चर्चा अन्यत्र की जायगी।

'रस-कलस' में हरिऔध की नारी-सौन्दर्य्य-कल्पना

जिन दिनों हरिऔधजी इन उपन्यासों की रचना कर रहे थे, उन दिनों उन्होंने कविता-रचना छोड़ नहीं दी थी। मैं यह कह आया हूँ कि व्रजभाषा में जहाँ वे पहले श्रीकृष्ण-विषयक भक्तिमयी कविता लिखते थे वहाँ बाद को शृंगार रस की ओर उनकी प्रवृत्ति हो गयी थी। 'रस-कलस' में संगृहीत कविताएँ अधिकांश में इसी काल में रची गयी थीं और यह एक ओर तो हरिऔध जी की सतर्कता और दूसरी ओर सामाजिक रुचि तथा लोकमत का अत्याचार है कि वे आज २५-३० वर्ष का लम्बा समय पार करके प्रकाशित हुई हैं। जैसे नायिका-भेद प्रधान काल में कला ने उचित मर्य्यादा का अतिक्रमण किया था वैसे ही नव जाग्रत् लोकमत ने भी प्रबल प्रतिक्रिया के रूप में प्रगट होकर कला का गला घोंटना चाहा था। कुशल यही है कि प्रतिक्रियाएँ चिर-स्थायिनी नहीं होतीं और उनमें व्यक्त होने वाले अपूर्ण सत्य को पूर्ण सत्य की अदृष्टिगोचर प्रेरणाएँ सीमा के भीतर लाने का प्रयत्न करती रहती हैं।

प्रत्येक व्यक्ति सत्य की अनुभूति करना चाहता है। चित्त की चंचलता ही, जो प्रतिपल उसे सृष्टि की व्यथा प्रदान करती रहती है, इस अनुभूति के पथ में बाधक है। चंचलता मानव व्यक्तित्व को अपूर्ण सत्य के उलटे किये सौन्दर्य्य की ओर ढकेलती है। पूर्ण सत्य तत्काल इसका कोई उत्तर देने का प्रयत्न नहीं करता; वह अपनी अपरिमित धीरता और स्थिरता पर ही भरोसा रख के चुपचाप बैठा रहता है, जैसे मलूकदास का चाकरी न करने वाला अजगर। किन्तु उसमें प्रबल आकर्षण-शक्ति होती है। जैसे आप एक गेंद आकाश में कितनी ही अधिक ऊँचाई पर फेंकें वह अन्त में अवश्य ही पृथ्वी द्वारा आकर्षित

होकर नीचे आजायगी, वैसे ही अपूर्ण सत्य के सहारे आप कितनी ही लम्बी यात्रा क्यों न करें, किन्तु अन्त में विश्राम के लिए आपको पूर्ण सत्य ही की ओर आकर्षित होकर आना पड़ेगा। गेंद को जब हम ऊपर फेंकते हैं तब उसका जो यात्रा-पथ होता है प्रायः वही पथ उसके लौटते समय नहीं होता। इससे साधारणतया यह भ्रम हो सकता है कि गेंद जहाँ से गयी थी वहाँ नहीं आयी। किन्तु इसे हम सब जानते हैं कि आती है वह पृथ्वी पर ही। पृथ्वी और आकाश के बीच में गेंद के ठहर जाने के लिए अनेक स्थान हो सकते हैं, सम्भव है वह पेड़ की टहनियों का झुरमुट हो, सम्भव है वह किसी भवन की अट्टालिका हो। इसी प्रकार पूर्ण सत्य की ओर अपूर्ण सत्य के गमन-पथ में भी अनेक पड़ाव हो सकते हैं।

सत्य जब कला का आवरण स्वीकार करता है, तब वह सौन्दर्य से रंजित हो जाता है। जैसे कलकत्ते से दिल्ली तक जाने वाली ग्रैण्ड ट्रंक रोड के बीच में पड़ावों की दृष्टि से एक पड़ाव से दूसरे पड़ाव या एक मध्यवर्ती नगर से दूसरे मध्यवर्ती नगर की सड़क भी कही जाती है और कभी कभी थोड़ी ही दूरी के भीतर अपने जीवन और दृष्टि-कोण को परिमित रखने वाला ग्रैण्ड ट्रंक रोड की लम्बाई की कल्पना नहीं कर सकता, वैसे ही चरम सत्य को हृदयंगम करके सुन्दरतम रूप में प्रस्तुत होने वाली कला की अनेक अवस्थाएँ हैं, जो अपने अपने स्थान पर सत्य के अंश-विशेष की रसात्मक अभिव्यक्ति करके मानव जीवन की पूर्ति में अग्रसर होती हैं। नारी और पुरुष के शारीरिक सौन्दर्य्य-संगठन में प्रकृत रूप से कोई दूषण नहीं है। एक दूसरे के प्रति वे जिस अनिवारणीय आकर्षण का अनुभव करते हैं, उसमें भी कोई त्रुटि नहीं। उनके एक दूसरे के सम्पर्क में आकर सृष्टि-रत होने में भी कहीं कोई अस्वाभाविकता अथवा अनौचित्य नहीं है। किसी रूप-लावण्यमयी नारी को अपने पौरुष और प्रतिभा से विमुग्ध करके उसे अपनी जीवन-संगिनी बनाने के लिए पुरुष पूर्ण स्वतंत्र है, जैसे किसी भी पड़ाव में ठहर कर रात बिताने की कोई मनाही यात्री को नहीं है,

अथवा जैसे किसी मध्यवर्ती नगर के निवासी को अपने घर में विश्राम करने देने में किसी को आपत्ति नहीं हो सकती। परन्तु नारी के शारीरिक सौन्दर्य्य के उपभोग में ही अपनी स्थायी स्थिति का निश्चय करके यह कहना कि जीवन में यही पूर्ण सत्य है, इसके अतिरिक्त जो कुछ है वह मिथ्या है, प्रायः वैसा ही है जैसे दस मील चलने के बाद किसी गाँव में ठहर कर कोई यात्री यह कह दे कि बस ग्रैण्ड ट्रंक रोड यहीं समाप्त हो गई।

संसार के अनेक साहित्यों की तरह हिन्दी साहित्य के अनेक कवियों ने सामाजिक मनोवृत्तियों को बेतहाशा अपनी ओर खींच ले जाने वाली प्रतिक्रियाओं के अधीन होकर काम किया है। वे जब नारी के शारीरिक सौन्दर्य्य के अंकन में प्रवृत्त हुए हैं तब यह काम उन्होंने उस मनोनिवेश के साथ किया है जो अन्य किसी कोटि के सौन्दर्य्य के अस्तित्व को स्वीकार नहीं करता। इसी प्रकार जब वे भारत-सम्बन्धी कविताओं की ओर पिल पड़े, जब उन्हें कृत्रिम देशानुराग को निराकार उपासना ही में चरम सौन्दर्य्य का दर्शन होने लगा, तब उन्होंने नारी-सौन्दर्य्य के अंकन को तुच्छ समझना शुरू कर दिया। अस्तु, यहाँ यह विचारणीय है कि सत्य को, जो सामाजिक क्षेत्र में धार्मिक और नैतिक नियमों के रूप में अपने कठोर अनुशासन द्वारा मनुष्य के जीवन को शासित करता है, अपने साथ रखते हुए कला कितनी दूर तक जा सकती है। यदि इस सम्बन्ध में हम अपना कोई मत स्थिर कर सकें तो हमें हरिऔध जी के नारी-सौन्दर्य्य के अंकन में कलात्मकता की कितनी संगति है—यह निर्णय करने में कठिनाई नहीं होगी और यदि उस मत के अनुसार हरिऔधजी सफल हुए तो हमें यह भी मानना पड़ेगा कि नीरस देशभक्ति-सम्बन्धी तुकबन्दियों के प्रचार-काल में उन्होंने अपनी कला की सरसता की किसी हद तक रक्षा कर ली।

जो कला सत्य के सहयोग से विरहित नहीं है, वह नारी के शारीरिक और मानसिक सौन्दर्य्य का अंकन तथा उन भावों का संचार करेगी जो मानव व्यक्तित्व को अपने चारों ओर के बन्धनों से उन्मुक्त

करने में सहायक होंगे। इसी प्रकार जिस कला का जीवन असत्य के सहयोग पर अवलम्बित होता है, वह मानव व्यक्तित्व को रोग-ग्रस्त बनाकर उसे बंधन में डालती है। मानव व्यक्तित्व का प्रधान बंधन उसकी पशु-प्रकृति है; यह पूर्ण सत्य को हृदयंगम करने वाली उसकी शक्ति को कुंठित कर देती है। काम, क्रोधादि मनोविकार प्रतिक्षण उसकी इस प्रकृति को उत्तेजना देते रहते हैं। संक्षेप में वही कला उच्च कही जायगी जिसमें मनुष्य की पशु-प्रकृति का नाश कर देव-मनोवृत्ति उत्पन्न करने की शक्ति हो। सुन्दरी और युवती स्त्री को सोलहो शृंगार करके आँख के सामने खड़ी देख कर युवक के हृदय में जिस भाव का उदय होगा वह साधारणतया कामुकता ही का हो सकता है। यदि इसी भाव को उत्तेजना प्रदान करने का काम कला ने किया तो कला का अस्तित्व ही व्यर्थ है। कला अपने प्रकृत रूप में उक्त युवती के शरीर सौन्दर्य्य का अंकन करने में ऐसे साधनों से काम लेगी जो कला-रसिक की आँखों के सामने एक निराला ही संसार खड़ा कर देंगे, जिसकी विमुग्धकारिता और दिव्यता दर्शक को पशुत्व के गहरे गर्त्त में नहीं गिरने देगी। निस्सन्देह यह सर्वोच्च कला का नमूना नहीं होगा, किन्तु सत्य के आंशिक रूप के साथ इसका समझौता होने के कारण इसे कोई निन्दनीय नहीं कह सकेगा, इसके विपरीत वह कला असत्य की सहयोगिनी होगी जो सत्य की अनुभूति की दिशा में मानव व्यक्तित्व को अग्रसर करने वाले साधनों का अवलम्बन ग्रहण करने से उसे विरत करेगी। उदाहरण के लिए एक स्त्री-व्रत और एक पत्नी-व्रत की सृष्टि समाज में त्याग और शान्ति के भावों का विकास करने के लिए हुई है। यदि किसी कवि का काव्य इन भावों पर आक्रमण करता है, तो वह विकृत सौन्दर्य्य के चित्रण का अपराधी कहा जायगा। नीचे की कतिपय पंक्तियों में पाठक देखेंगे कि मादक भावों, कल्पनाओं आदि के साथ साथ सत्य की सहायता से कवि ने ऐसा चित्र उपस्थित कर दिया है, जिसमें मनुष्य की स्थूल सौन्दर्य्योपभोगिनी प्रवृत्ति को कुंठित करने की सामग्री भरी पड़ी है:—

[१]

"चितवति चकित चहूँ दिशि सीता। कहँ गये नृप-किशोर मन चीता।
जहँ बिलोकु मृग शावक नैनी। जनु तहँ बरस कमल सित श्रेनी।
लता ओट तब सखिन लखाये। स्यामल गौर किसोर सुहाये।
देखि रूप लोचन ललचाने। हरखे जनु निज निधि पहिचाने।
थके नयन रघुपति छवि देखी। पलकन हूँ परिहरी निमेषी।
अधिक सनेह विकल भइ भोरी। सरद-ससिहि जनु चितव चकोरी।
लोचन मगु रामहि उर आनी। दीन्हें पलक कपाट सयानी।
जब सिय सखिन प्रेम बस जानी। कहि न सकहिं कछु मन सकुचानी।"

[२]

"कंकन किंकिनि नूपुर धुनि सुनि। कहत लषन सन राम हृदय गुनि।
मानहुँ मदन दुंदुभी दीन्हीं। मनसा विश्व-विजय कहँ कीन्हीं।
असि कहि पुनि चितये तेहि ओरा। सिय मुख शशि भये नयन चकोरा।
भये विलोचन चारु अचंचल। मनहुँ सकुचि निमि तजेउ दृगंचल।
देखि सीय सोभा सुख पावा। हृदय सराहत बचन न आवा।
जनु विरंचि सब निज निपुनाई। बिरचि विश्व कहँ प्रगट दिखाई।
सुन्दरता कहँ सुन्दर करई। छविगृह दीप सिखा जनु बरई।
तात जनक-तनया यह सोई। धनुष-यज्ञ जेहि कारण होई।
पूजन गौरि सखी लै आई। करति प्रकास फिरति फुलवाई।
तासु विलोकि अलौकिक सोभा। सहज पुनीत मोर मन छोभा।
सो सब कारन जान बिधाता। फरकहिं सुभग अंग सुनु भ्राता।
रघुवंशिन कर सहज सुभाऊ। मन कुपन्थ पग धरहिं न काऊ।
मोहि अतिशय प्रतीति जिय केरी। जिन सपनेहुँ पर नारि न हेरी।
जिनके लहहि न रिपु रन पीठी। नहिं लावहि पर तिय मन दीठी।
जिनके लहहि न मंगन नाहीं। ते नरवर थोरे जग माहीं।
करत बतकही अनुज सन, मन सिय रूप लुभान।
मुख सरोज मकरन्द छवि, करत मधुप इव पान॥"

इन पंक्तियों में श्री रामचन्द्र और सीता के प्रथम मिलन का चित्र अंकित किया गया है। दोनों एक दूसरे की ओर आकर्षित हो गये हैं।

परन्तु क्या इन्हें पढ़ने वाले का ध्यान किसी पशु-वृत्ति की ओर जाता है ? इस चित्र में अनुराग-सम्बन्धी विवशता और कामुकता की झलक तो है, परन्तु पर नारी के प्रति अनासक्ति का आश्वासन देकर तथा सुभग अंगों के फड़कने के रूप में सीता के साथ विवाह हो सकने की संभावना की चर्चा करके श्रीरामचन्द्र ने सदाचार और मर्य्यादा-पालन के रूप में प्रकट होने वाले सत्य से उसका सम्बन्ध जोड़ा और उसे निर्दोष बना डाला है।

निम्नांकित चित्रण में प्रणय-मूर्ति तपस्विनी कुमारिका पार्वती का दर्शन कीजिए :—

रिषिन गौरि देखी तहँ कैसी। मूरतिवंत तपस्या जैसी।
बोले मुनि सुनु शैल कुमारी। करहु कवन कारण तप भारी।
केहि आराधहु का अब चहहू। हम सन सत्य मर्म अब कहहू।
सुनत रिषिन के वचन भवानी। बोली गूढ़ मनोहर बानी।
कहत मर्म्म मन अति सकुचाई। हँसिहहु सुनि हमारि जड़ताई।
मन हठ परेउ न सुनत सिखावा। चहत वारि पर भीति उठावा।
नारद कहा सत्य हम जाना। बिनु पंखन हम चहहिं उड़ाना।
देखहु मुनि अविवेक हमारा। चाहत सदा शिवहिं भर्त्तारा।
सुनत वचन विहँसे रिषय, गिरि सम्भव तव देह।
नारद कर उपदेश सुनि, कहहु बसेउ केहि गेह।
अजहूँ मानहु कहा हमारा। हम तुम कहँ वर नीक विचारा।
अति सुन्दर सुचि सुखद सुसीला। गावहिं वेद जासु जस लीला।
दूषन रहित सकल गुनरासी। श्रीपति पुर वैकुण्ठ निवासी।
अस वर तुमहिं मिलाउब आनी। सुनत वचन कह विहँसि भवानी।
सत्य कहहु गिरिभव तनु एहा। हठ न छूट छूटै बरु देहा।
कनकौ पुनि पषान ते होई। जारे सहज न परिहर सोई।
नारद वचन न मैं परिहरऊँ। बसौ भवन उजरौ नहिं डरऊँ।
गुरु के वचन प्रतीति न जेही। सपनेहु सुगम न सुख सिधि तेही।
महादेव अवगुन भवन, विष्णु सकल गुनधाम।
जेहि कर मन रम जाहि सन, ताहि ताहि सन काम।"

इन पंक्तियों में उत्कृष्ट त्याग ही मानो प्रणय और अनुरक्ति के रूप में अवतीर्ण होकर आया है। यह तो प्रथम चित्र की अपेक्षा भी अधिक भावपूर्ण है, क्योंकि इसमें तो पार्वती मानसिक नेत्रों में शंकर के स्वरूप का दर्शन करती और मुग्ध हो जाती हैं; उनकी तन्मयता ने उनकी दृष्टि को अन्तर्मुखी बना दिया है। इसमें कामुकता के सम्पूर्ण स्थूल अंश का बहिष्कार हो गया है।

इस कुमारिका ने अपने प्रणय में सफल होने के लिए कितना कठोर तप किया है :—

"उर धरि उमा प्रानपति चरना। जाय बिपिन लागी तप करना।
अति सुकुमारि न तनु तप योगू। पति पद सुमिरि तजेउ सब भोगू।
नित नव चरन उपज अनुरागा। बिसरी देह तपहिं मन लागा।
संबत सहस मूल फल खाये। शाक खाय शत वर्ष गँवाये।
कछु दिन भोजन बारि बतासा। किये कठिन कछु दिन उपवासा।
बेल पात महि परेउ सुखाई। तीन सहस संबत सो खाई।
पुनि परिहरेउ सुखानेउ पर्णा। उमा नाम तब भयउ अपर्णा।
देखि उमहिं तप क्षीण शरीरा। ब्रह्म गिरा भइ गगन गँभीरा।

भयो मनोरथ सफल सब, सुनु गिरि राज कुमारि।
परिहरि दुसह कलेस सब, अब मिलिहहिं त्रिपुरारि॥

समाज में काम-प्रवृत्ति को संयत रखने तथा अपनी शक्तियों का अपव्यय रोकने के लिए प्रत्येक व्यक्ति को विवाह करना पड़ता है। ऐसे विवाह द्वारा प्राप्त वधू के साथ आमोद-प्रमोद में रत होना ब्रह्मचर्य्य और सदाचार के नियमों के सर्वथा अनुकूल है। ऐसे प्रणयी और प्रणयिनी को अपना आलम्बन बना कर शृंगार रस सत्य और धर्म्म के साथ समझौता कर लेता है। बाबू मैथिलीशरणगुप्त की निम्नलिखित पंक्तियों में उक्त समझौते के भाव की रक्षा करते हुए शारीरिक धरातल पर सौन्दर्य्य का अंकन देखिए :—

सुध न अपनी भी रही सौमित्र को,
देर तक देखा किये उस चित्र को।
अन्त में बोले बड़े ही प्रेम से—
'हे प्रिये! जीती रहो तुम क्षेम से।

मञ्जरी सी अँगुलियों में यह कला!
देख कर मैं क्यों न सुध भूलूँ भला।"
कर कमल लाओ तुम्हारा चूम कर—
मोद पाऊँ मत्त गज सा झूम कर।
कर बढ़ाकर, जो कमल सा था खिला—
मुसकुरायी और बोली उर्मिला—
'मत्त गज बनकर विवेक न छोड़ना,
कर कमल कह कर न मेरा तोड़ना!
वचन सुन सौमित्र लज्जित हो गये,
प्रेम-सागर में निमज्जित हो गये।
पकड़ कर सहसा प्रिया का कर वहीं,
चूमकर फिर, फिर, उसे बोले यहीं।
एक भी उपमा तुम्हें भाती नहीं,
ठीक भी है वह तुम्हें पाती नहीं।
सजग इससे अब रहूँगा मैं सदा,
निरुपमा तुमको कहूँगा मैं सदा।
"मैथिली"

मानसिक धरातल पर इसी सौन्दर्य्य का आलम द्वारा अंकित चित्र देखिए :—

कैधौं मोर सोर तजि अनत गये री भाजि,
कैधौं उत बोलत हैं दादुर न ए दई।
कैधौं पिक चातक महीप काहू मारि डारे,
कैधौं बक पाँति उत अन्त गति है गई।
आलम कहे हो आली अजहूँ न आये प्यारे,
कैधौं उत रीति विपरीति विधि ने ठई।
मदन महीप की दुहाई फिरिबे ते रही,
जूझि गये मेघ कैधौं दामिनी सती भई। १।

नारी का सौन्दर्य्य किसी परिवार, जाति, समाज अथवा देश ही की सम्पत्ति नहीं है; वह प्रकृति की सम्पत्ति है। तारुण्य का संचार उसमें कुछ काल के लिए अनूठापन भर देता है। उसके सौन्दर्य्य का भावमय चित्रण भी काव्य का विषय होना ही चाहिए; यह स्मरण रहे कि मैं भावमय चित्रण की चर्चा कर रहा हूँ। भावमय चित्रण अंगों के सुगठन और लावण्य, तथा मानसिक लज्जा और संकोच की ओर दृष्टि-पात करेगा, प्रकृति की कारीगरी को सराहेगा, तथा ईश्वरीय सृष्टि की विचित्रता की धारणा से प्रफुल्ल चित्त होगा। मतिराम कविकृत नीचे की पंक्तियों में यही प्रकट किया गया है :—

कुन्दन को रँग फीको लगै झलकै अँगि अंगनि चारु गोराई।
आँखिन में अलसानि चितौनि में मंजु बिलासन की सरसाई।
को बिन मोल बिकात नहीं मतिराम लहे मुसकानि मिठाई।
ज्यों ज्यों निहारिए नेरे ह्वै नैननि त्यों त्यों खरी निकरै सी निकाई।

एक और प्रश्न भी विचारणीय है। आदर्श तथा आध्यात्मिक आधारों पर संगठित समाज में कन्यादान की वैवाहिक प्रथा प्रचलित होने के कारण अनेक कुमारिकाओं का ऐसा विवाह संभव है, जिसमें वे अपने पति को हृदय का पूरा प्यार प्रदान करने में असमर्थ हो जायँ और कोई अन्य युवक ही उनके प्रणय का अधिकारी बने। इस युवक के प्रति उन्हें इतने आकर्षण का अनुभव हो सकता है कि वह सहज ही उसके लिए अपने प्राण तक दे सके। उसके हृदय में इतना अनुराग होने पर भी समाज की अनुमति से वह अपने प्रियतम के साथ सम्बन्ध नहीं स्थापित कर सकती। यह व्यवधान, यह वेदना, यह निराशा क्या उच्च से उच्च कला की सामग्री नहीं हो सकती? क्या एक साधारण सामाजिक आचार के पालन के बाद नारी इतनी निहत्थी हो जायगी कि अपने इस अमूल्य प्रेम-धन को भी उसे तिलाञ्जलि देनी पड़ेगी? इसका उत्तर ढूँढ़ने के पहले यदि हम कला के वास्तविक उद्देश्य को समझ लें तो अच्छा हो।

कला की वल्लरी त्याग ही के अनुकूल वातावरण में फलती फूलती है। स्वकीया नायिका की सौन्दर्य्य-सृष्टि में रत कला भी काम-वासना की परिमिति और मर्य्यादा ही का संदेश प्रदान करती है। यदि नायिका अपनी प्रवृत्तियों के अनुकूल नायक प्राप्त करती है तो उसे अपने हृदय में उक्त महान् त्याग-भाव के विकास में सहायता मिलती है। इसलिए नायिका अपने प्रियतम की आराधिका हो, यह तो कला की शिक्षा अवश्य ही होगी। परन्तु इस शिक्षा के बहाने वह कुलटाओं और खंडिता नायिकाओं की सृष्टि में तो प्रवृत्त नहीं हो सकती। उसने अभिभावकों की सम्मति का तनिक भी विरोध न करके अपना शरीर और मन अपने विवाहित पति को समर्पित कर दिया, ऐसी अवस्था में अपने प्रेम-पात्र को ऐहिक सुखों का साधन बनाने की कामना को अब वह अपने हृदय में स्थान नहीं दे सकती। अपने प्रियतम के गुणों को हृदयंगम करना ही उसका मर्य्यादित कर्त्तव्य हो सकता है और कला उसको इसी का पालन करते हुए चित्रित करेगी। यहीं तक कला का सत्य के साथ सम्बन्ध है। उक्त प्रश्न का उत्तर अब सरलता से दिया जा सकता है। समाज की पतित अवस्था में, जब सत्य की अनुभूति दुर्बल पड़ गयी हो, कला वियोगिनी नारी के उद्दाम प्रणय के आधार पर परकीया नायिका और उपपति की सृष्टि कर सकती है। किन्तु इस कला में स्वास्थ्य और संगठन का तो अभाव ही रहेगा। सूरदास कृत नीचे की कुछ पंक्तियों में ऐसी ही कला के नमूने मिलेंगे। इस चित्रण में शरीर पति के साथ और मन प्रियतम के साथ है; यह ध्यान रहे कि यहाँ हम श्रीकृष्ण का मानव रूप ही अपने सामने रख रहे हैं। आध्यात्मिक महत्त्व प्रदान करते ही यह परकीयत्व बहुत उच्च कोटि की वस्तु हो जायगा।

ऊधो कहा मति दीन्हों हमहिं गोपाल।
आवहु री सखि सब मिलि सोचैं जो पावैं नँदलाल।
घर बाहर ते बोलि लेहु सब जावदेक व्रजबाल।
कमलासन बैठहु री माई मूँदहु नैन बिसाल।
षट्पद कही सोऊ करि देखी हाथ कछू नहिं आई।
सुन्दर श्याम कमल दललोचन नेकु न देत दिखाई।

फिरि भई मगन विरह सागर में काहुहि सुधि न रही।
पूरन प्रेम देखि गोपिन को मधुकर मौन गही।
कछु धुनि सुनि स्रवननि चातक की प्रान पलटि तनु आये।
सूर सो अब कै टेरि पपीहै विरहीमृतक जियाए।"

हिन्दी साहित्य में एक विचित्र और मनोरंजक बात देखने में आती है। एक ओर तो पुरुष कवियों ने परकीया नायिकाओं का चित्र अंकित करते करते नारी जाति को लज्जाजनक गर्त्त में ढकेल दिया है, दूसरी ओर एक स्त्री कवि ने अपने ही आप को लक्ष्य करते हुए उच्च से उच्च कोटि की उस परकीया नायिका का चित्रण किया है, जिसकी मनुष्य कल्पना कर सकता है, जिसके कारण सच पूछिए तो स्वयं परकीयत्व का गौरव बढ़ जाता है। हिन्दी कवियों के अनाचार से पीड़ित नारी की आत्मा ने मानों मीरा का शरीर उन्हें यह शिक्षा देने के लिए ही धारण किया था। पाठक नीचे की पंक्तियों में मीरा की भावुकता देखें :—

'रमैया मैं तो थारे रँग राती।
औरों के पिय परदेस बसत हैं, लिख लिख भेजैं पाती।
मेरा पिया मेरे हिय बसत है, गूँज करूँ दिन राती।
चूवा चोला पहिरि सखी री, मैं झुरमुट रमवा जाती।
झुरमुट में मोहिं मोहन मिलिया, खोल मिलूँ गल बाटी।
और सखी मद पी पी माती, मैं बिनु पिया मदमाती।
प्रेम मठी को मैं मद पीओ, छकी फिरूँ दिन राती।"

× × × ×

"बंसी वारो आयो म्हारे देस तेरी साँवरी सुरत वारी बैस।
आऊँ जाऊँ कर गया साँवरा कर गया कौल अनेक।
गिणते गिणते घिस गयी उँगली घिस गयी उंगली की रेख।
मैं बैरागिणी आदि की थारे म्हारे कद को सनेस।
बिन पाणी बिन साबुन साँवरा हुई गइ धुई सपेद।
जोगिण होइ सब जंगल हेरूँ तेरा नाम न पाया भेस।
तेरी सुरति के कारणे धरलिया भगवा भेस।
मोर मुकुट पीताम्बर सोहै घूँघर वाले केस।
मीरा को प्रभु गिरिधर मिलि गये दूना बढ़ा सनेस।

जिन कविताओं में श्रीकृष्ण उपपति और राधा परकीया अंकित हुई हैं उनमें भी सामाजिक परिस्थिति ही के प्रभाव की प्रधानता थी। उनके रचयिताओं ने यदि श्रीकृष्ण और गोपियों के आध्यात्मिक सम्बन्ध को सद्भाव में न परिणत करके अपनी काव्य-रचना का पथ परिष्कृत किया तो कोई आश्चर्य्य की बात नहीं।

हरिऔध ने राधा का जैसा चित्र अंकित करने की ओर प्रवृत्ति दिखलायी थी उसकी ओर संकेत किया जा चुका है। उनकी राधा सर्वथा मानवी हृदयमयी रही हैं। उनके उपन्यासों में जैसा नारी-चित्र अंकित हुआ है उससे भी यह आशा होती है कि उनके नायिका-भेद-वर्णन में कुछ विशेषता अवश्य ही होगी। अस्तु, उक्त लम्बे विवेचन के बाद हम हरिऔध जी के नारी-अंकन की परीक्षा करके उसके सौन्दर्य्य का अनुमान कर सकते हैं।

हरिऔध जी के नारी-चरित्रों की जो थोड़ी सी चर्चा में पिछले पृष्ठों में कर आया हूँ, उससे हम यह सहज ही समझ सकते हैं कि उनकी नारी-सौन्दर्य्य कल्पना कैसे चित्रों के अंकन की ओर अग्रसर होगी। उन्होंने धर्म-प्रेमिका, लोक-सेविका, देश-प्रेमिका, जाति-प्रेमिका और परिवार-प्रेमिका नायिकाओं की कल्पना करके हिन्दी के नायिका-भेद विशिष्ट शृंगारिक साहित्य में क्रान्ति की है। इन नायिकाओं में कामुकता के स्थान में त्याग-प्रधान प्रवृत्ति है।

उनकी धर्म-प्रेमिका नायिका का दर्शन कीजिए :—

"लालसा रखति है ललित रुचि लालन की
लोक-हित-खेत को लुनाई ते लुनति है।
रुचिर विचार उपवन में विचरि बाल
चावन के सुमन सुहावन चुनति है।
हरिऔध आठो याम परम अकाम रहि
भुवनाभिराम राम गुनन गुनति है।
सुर-लीन मानस-निकुञ्ज माहिं प्रेम-रली
मुरली मनोहर की मुरली सुनति है।"

इसी प्रकार नीचे के छः कवित्तों में क्रमशः लोक-सेविका, निजतानुरागिनी, जन्मभूमि-प्रेमिका, देश-प्रेमिका, जाति-प्रेमिका, और परिवार-प्रेमिका का चित्र अंकित किया गया है :—

१—कल कानि कलित कुलीन खग कुल काहिं
बाल है बचावति कलेस लेस लासा तें।
विदलित मानव को दलन निवारति है
दलति रहति दिल-दहल दिलासा तें।
हरिऔध दुख अनुभवति दुखित देखि
जीतति है दाँव भाव-पूत 'प्रेम-पासा तें।
उपवास करति विलोकि उपवासित को
बनति पिपासित पिपासित-पिपासा तें।

२—बसन विदेसी की बसनता बिसरि सारी
बिबस बने हूँ देसी बसन बिसाहै है।
समता विचार मैं असमता विपुल देखि
पति-प्रीति-ममता को परखि उमाहै है।
हरिऔध परकीयता को परकीय जानि
सकल स्वकीयता को सतत सराहै है।
भारत की पूजनीयता को पूजनीय मानि
भारतीय बाला भारतीयता निबाहै है।

३—चकित बनति हेरि उच्चता हिमाचल की
चाहि कनकाचल की चारुता चरमता।
मुदित करति निधि-मानता है नीरधि की
मानस मनोहरता सुरपुर की समता।
हरिऔध मोहकता हेरि मोहि मोहि जाति
जनता अमायिकता में है मन रमता।
महनीय-महिमा निहारि महती है होति
ममतामयी की मातृ-मेदिनी की ममता।

४—गौरवित सतत अतीत गौरवों ते होति
गुरुजन-गुरुता है करती कबूलती।
मुदित बनति अवनीतल में फैलि फैलि
कीरति की कलित लता को देखि फूलती।
हरिऔध प्रकृति अलौकिकता अवलोकि
प्रेम के हिंडोरे पै है पुलकित भूलती।
भारत की भारती-विभूति ते प्रभावित है
भामिनि भली है भारतीयता न भूलती।

५—सरसी समाज-सुख-सरसिज पुंज की है
सुरुचि सलिल की रुचिर सफरी सी है।
नाना-कुल-कालिमा-कलुख की कलिंदजा है
कल करतूत मंजु मालिका लरी सी है।
'हरिऔध' बहु भ्रम-भँवर समूह भरी
सकल कुरीति-सरि सबल तरी सी है।
जाति-हित पादप-जमात-नव-जीवन है
जाति-जन-जीवन सजीवन जरी सी है।

६—बानी के समान हंस बाहिनी रहति बाल
नीर छीर विमल बिबेक बितरति है।
सती के समान सत धारि है सुखित होति
बामता में बामता ते रखति बिरति है।
'हरिऔध' रमा सम रमति मनोरम में
भाव अमनोरम ते लरति भिरति है।
पूत प्रेम पोत-पै अपार पूतता ते बैठि
परिवार-प्यार-पारावार मैं फिरति है।"

पत्नी और पति के पारस्परिक आकर्षण का (१) शारीरिक अथवा (२) मानसिक धरातल पर अंकन करना सर्व-सम्मति से कला का कार्य्य-क्षेत्र है। हरिऔध के निम्नलिखित दो पद्यों में पाठक क्रमशः दोनों का अवलोकन करें:—

[१]

"दोऊ दुहूँ चाहैं दोऊ दुहुँन सराहैं सदा
　　　　दोऊ रहैं लोलुप दुहूँन छवि न्यारी के।
एकै भये रहैं नैन-मन-प्रान दोहुँन के
　　　　रसिक बनेई रहैं दोऊ रस-क्यारी के।
हरिऔध केवल दिखात द्वै सरीर ही है
　　　　नातो भाव दीखै हैं महेस गिरिधारी के।
प्रान प्यारे चित मैं निवास प्रान प्यारी रखै
　　　　प्रान प्यारो बसत हिये मैं प्रान प्यारी के।"

[२]

"ऊबि गयी हौं बतावै कहा नहिं क्यों हँसि मौन की बान गही है।
घेरत हैं हरिऔध कहा हमैं नूतनता हम कौन लही है।
ए ब्रजमारे न टारे टरैं कहा औरन की इन्हैं पीर नहीं है।
ठौर न भौंरन को है कहूँ किधौं भौंरन की मति भूलि रही है।"

अन्य कवियों की भाँति हरिऔध जी ने भी नारी के शारीरिक विकास-वर्णन में माधुर्य्य का अनुभव किया है। वे मुग्धा नायिका के सौन्दर्य्य का चित्रण करते हुए कहते हैं:—

"पीन भये उरभाव मनोहर केहरि सी कटि खीन भई है।
बंकता भौंहन माँहिं ठई मुख पै नव जोति कला उनई है।
जोवन अंग दिप्यो हरिऔध गये गुनहूँ अब आय कई हैं।
केस लगे छहरान छवान छ्वै कानन लौं अँखियान गई हैं।"

स्वकीया नायिका का चित्रण देख चुकने के बाद पाठक यह देखने के लिए उत्कंठित होंगे कि हरिऔध जी ने परकीया नायिका का कैसा चित्रण किया है। जैसा कि पहले निवेदन किया जा चुका है, परकीया और उपपति का पक्ष सर्वथा निर्बल नहीं है। विवाह की कृत्रिम और विकृत प्रणालियों के आधार पर जिन दम्पतियों की सृष्टि की जाती है उनमें स्वाभाविक प्रणय और पारस्परिक आकर्षण न हो तो कोई

आश्चर्य्य की बात नहीं। असंतुष्ट दम्पतियों की ऐसी अप्राकृतिक परिस्थिति विधि के उस विधान में कोई बाधा नहीं डाल सकती, जो सौन्दर्य्य का सौन्दर्य्य से संयोग संगठित करके नूतन सौन्दर्य्य-सृष्टि का अविराम प्रयत्न कर रही है। प्रकृति के इस प्रबल प्रवाह के सम्मुख मानव-प्रयत्न के परिणाम-स्वरूप कृत्रिम बन्धन उसी प्रकार धराशायी हो जायँगे जिस प्रकार नदी की प्रखर धारा से चोट खाकर गिरने वाले कगारे। यह भी कहा जा चुका है कि असंतुष्ट पति अथवा पत्नी की अतृप्त भावुकता कला के लिए उपयुक्त सामग्री उपस्थित कर सकती है। किन्तु यह भावुकता तभी तक कला की कृपा-पात्री बनी रह सकेगी जब तक वह अत्यन्त स्थूल-मार्गों में अपनी सम्पूर्ण शक्ति का अपव्यय नहीं कर देती। नायिका-भेद की कविता में रत रहने वाले हमारे मध्य युग के कवियों ने जहाँ कहीं इस अतृप्त भावुकता को कला के क्षेत्र में मानसिक धरातल पर अभिव्यक्ति प्रदान करने की चेष्टा की है वहाँ उनके काव्य का वातावरण भले ही किंचित् सदोष कहा जाय, किन्तु उनके कवि-कर्म्म पर कोई आक्रमण नहीं कर सकता। विद्यापति और सूरदास का अधिकांश काव्य इसी कारण सफल कहा जाता है।

नीचे के कवित्त में हरिऔध जी द्वारा एक अनूठी नायिका का चित्रण पाठक देखें :—

संकुचित भौंहैं करि सोचति कछू है कबौं
कंटकित गात होत कबौं गरबीली को।
ढरकि रहे हैं सेद-कन रोम-कूपन सों
छाम है गयो है तन सकल छबीली को।
हरिऔध कहै डूबि डूबि मन काहैं जात
गहन लगी क्यों ऊबि ऊबि गति ढीली को।
लहि लहि लाज कौन काज भरि भरि आवैं
रहि रहि आज नैन ललना रसीली को।

नीचे के कवित्त में जिस परकीया नायिका की व्याकुलता का वर्णन किया गया है वह वास्तव में सहानुभूति की पात्री है :—

चहूँ ओर चरचा चवाइन चलायो आनि
पायन परी है खरी बेरी लोक लाज की।
गुरुजन हूँ की भीर तरजन लागी परी
बरजन ही की बानि आलिन समाज की।
हाय! हरिऔध हूँ से अपने पराये भये
सूझति न मोको कोऊ सूरति इलाज की।
कढ़ति न क्योंहूँ रोम रोम मैं समायी वह
सूरति सलोनी मनभायी ब्रजराज की।

हिन्दी के अधिकांश कवियों की भाँति हरिऔध जी ने भी यत्र-तत्र उक्त अतृप्त भावुकता को अत्यन्त स्थूल क्षेत्र में स्वच्छन्द विचरण करने का अवसर दिया है। वहाँ वे अपने कवि-पद की रक्षा करने में असमर्थ होकर नायिका-भेद का श्रेणी-विभाग करने वाले एक साधारण व्यक्ति के रूप में दिखायी पड़ते हैं। विस्तार-भय से ऐसे स्थलों के उदाहरण देने से मैं विरत होता हूँ। उनके सम्बन्ध में इतना ही कथन यथेष्ट होगा कि यदि अपनी शृंगार रस की कविताओं को रीति ग्रंथ में समाविष्ट करके प्रकाशित करने का निश्चय उन्होंने न किया होता तो उनके लिखे और इस ग्रंथ में सम्मिलित किये जाने का अवसर ही न उपस्थित होता। ऐसी कविताओं ने विहारी, देव, पदमाकर आदि के काव्य की शोभा नहीं बढ़ायी है, और न वे हरिऔध जी ही के काव्य की शोभा बढ़ा सकती हैं। फिर भी यह हर्ष की बात है कि इस दलदल में फँसकर भी उनकी लेखनी संयत बनी रही और वे विपरीत रति आदि के वर्णन के चक्कर में नहीं पड़े।

हरिऔध के काव्य के अध्ययन में 'रस-कलस' की कविताएँ हमें बहुत बड़ी सहायता दे सकती हैं। अगले अध्याय में 'प्रिय-प्रवास' से परिचय प्राप्त कराने के पहले इस स्थान में एक चित्ताकर्षक बात उल्लेख योग्य है और वह यह कि 'रस-कलस' की रचनाओं में हरिऔध ने श्रीकृष्ण का अत्यन्त साधारण मानव चित्र ही अंकित किया है, इनमें उनको परब्रह्मत्व की कोई धारणा नहीं दिखायी पड़ती। नीचे के पद्य को देखिए :—

"मंद मंद समद गयंद की सी चालन सों
ग्वालन लै लालन हमारी गली आइए।
पोखि पोखि प्रानन को सानन सहित इन
कानन को बाँसुरी की तानन सुनाइए।
हरिऔध मोरि मोरि भौंहैं जोरि जोरि दृग
चोरि चोरि चितहूँ हमारो ललचाइए।
मंजुल रदन वारो मुद के सदन वारो
मदन कदन वारो बदन दिखाइए।"

हमारे मध्य युग के कवियों की काव्य-परम्परा ने श्रीकृष्ण को जो स्थान दे रक्खा था उससे वे इन रचनाओं में ऊँचे उठे हैं, और न नीचे गिरे हैं। श्रीकृष्ण के इस चित्र के साथ जब पाठक 'प्रिय-प्रवास' के कृष्ण-चित्र की तुलना करेंगे तब उन्हें उस विशाल अंतर का ज्ञान हो सकेगा जो बीच के कतिपय वर्षों की चिन्ताशीलता और अध्ययन के कारण उत्पन्न हो गया।

'रस-कलस' में हरिऔध की काव्य-कला के साधन

'रस-कलस' में भाषा और भाव के बहुत सुन्दर संगीत का समावेश हो सका है शब्दालंकार की योजना से भाषा के और अर्थालंकार की योजना से भाव के संगीत की सृष्टि होती है। वही कला श्रेष्ठ समझी जाती है जिसमें भाषा और भाव दोनों में संगीत का उचित सामंजस्य हो; कहीं ऐसा न हो कि भाव-संगीत, जो अन्ततोगत्वा कला की प्राणप्रतिष्ठा के लिए अनिवार्य्यतः आवश्यक है, भाषा-संगीत की तुलना में बल-हीन हो जाय। यदि भाव-संगीत में निर्बलता पायी गयी तो केवल शब्द-सौष्ठव की लाठी टेक कर खड़ी होने वाली कला के लड़खड़ाते हुए पैर उसे खड़ी न होने देंगे। हरिऔध जी ने अपने काव्य में भाषा और भाव-संगीत को उचित स्थान देने का उद्योग किया है।

शब्दालंकार की योजना में हमें यह देखना होगा कि हरिऔध जी ने अनुप्रास, यमक, श्लेष आदि से भाषा-सौन्दर्य्य-सृष्टि में कितना काम लिया है। नीचे रस-कलस की कतिपय पंक्तियाँ पाठकों के अवलोकनार्थ दी जाती हैं :—

छेकानुप्रास और वृत्त्यनुप्रास।

१—"कुंठित कपालन की कालिमा कलित होति
अवलोके सुललित लालिमा पदन की।
सुन्दर सिंदूर मंजु गात सुख वितरत
दरत दुरित पुंज दिव्यता रदन की।
हरिऔध सकल अमंगल विदलि देति
मंगल कलित कांति मंगल सदन की।
संकट-समूह-सिंधु सिंधुना विलोपिनी है
वंदनीय सिंधुरता सिंधुर बदन की।"

२—उर में हिम सर सों लगत सिहरत सकल सरीर।
सी सी कहि सिसकत न को परसत सिसिर समीर।

३—वर बस बिबस करै परै निसि बासर नहिं चैन।
बिसराये हूँ बिसासिनी तिय बेसर बिसरै न।

४—कछु अन खुन करि नहिं चलैं अँखियन ही सों चाल।
गालिब कापै होत नहिं गहब गुलाबी गाल।

५—बरजोरे कत जो रहत मन मोरे सब काल।
गोरे गोरे ए गरल भरे निगोरे गाल।

६—अमल धवल नभ तल भयो, नवल प्रभा को पाय।
खिले कमल जल में लसत, पल पल नव छवि छाय।

यमक

१—"बरदार बनति कुदारता निवारति है
अनुदारता हूँ में उदार दरसति है।
पर-पति-पूत को स्वपति-पूत समजानि
पावन प्रतीति पूत पग परसति है।
हरिऔध परिवार-हित नव वीरुध पै
बिहित सनेह बर बारि बरसति है।
अन रस हूँ में रस-बात बिसरति नाहिं
रसमयी बाल रोस हूँ में सरसति है।"

२—"नील निचोलन के सहित, पहिरि नील मनि माल।
चली तमो मय रजनि में, तमोमयी बनि बाल।"

शब्दालंकृति—सम्पन्न इन थोड़े से पद्यों को देखने के बाद पाठक अर्थ-चमत्कृति से अलंकृत निम्नलिखित पद्यों को देखें:—

उपमा

१—तुरत तिरोहित अपार उरतम होत
पग नख तारक प्रसूत-जोति परसे।
रुचिर विचार मंजु सालि बहु बिलसत
जन अनुकूलता विपुल बारि बरसे।

हरिऔध सब-रस-वलित अनत चित
दयावान मनके सनेह साथ सरसे।
सकल अभाव, भाव, भूति, भव-भूति होति
भारती-विभूति भूतिमान मुख दरसे।

२—कोकिल की काकली को मान कैसे कैहै काक
भील कैसे मंजु मुकतावलि को पोहैगो।
कैसे वर बारिज बिलोकि मोद पैहै भेक
बादुर विभाकर विभव कैसे जोहैगो।
हरिऔध कैसे 'रस-कलस' रुचैगो ताहि
जाको उर रुचिर रसन ते न सोहैगो।
आँखिन में बसत कलंक अंक ही जो अहै
कोऊ तो मयंक अवलोकि कैसे मोहैगो।

३—माधुरी परी है मंद कमनीय कंदहूँ की
मिसिरी हूँ बिसरि गई ना रही कामकी।
सूखो ऊख निपट निकाम है गयो मयूख
गरिमा नसी है आम हूँ से रस धाम की।
हरिऔध दाख फूटी आँख ते न देखी जाति
गोरस हूँ गुरुता गँवाई गुन ग्राम की।
चीनी वसुधा में ह्वै गयी है औगुनी तो कहा
सौगुनी सुधा सों है मिठाई हरिनाम की।

४—पुलकित कोमल-कलित किसलै समान
सुललित पानि औ मृदुल पग दरसात।
विकसित सरस, प्रसून लौं प्रमोद वारे
प्यारे प्यारे अधर सुगंधन-सने लखात।
हरिऔध जाकी हरियाली लाली जोबन की
लगे नेह बायु मंद मंद मंजु लहरात।
लपटी नव तनु-तमाल अलबेले लाल
बाल अलबेली नेह बेली ज्यों लहलहात।

५—केहि आनंदित नहिं करत, हँसि हँसि बनि मुख अंक;
महीन-भाल-चंदन-तिलक, नभ-तरु-कुसुम मयंक।

रूपक

१—पिय-तनघन तिय मुदित-मयूरनी है
पिय तिय नलिनी मलिंद मतवारे हैं।
कौमुदी तरुनि है कुमुद मन मोहन की
मोहन तरुनि लतिका के तरु प्यारे हैं।
हरिऔध नारि है सरसि मीन प्रीतम की
प्रीतम मराली-नारि मानसर प्यारे हैं।
बाल बनी बालम-बिलोचन की पूतरी है
लाल बने ललना के लोचन के तारे हैं।

२—बैठी हुती मंदिर मैं कलित कुरंग नैनी
जाको लखि काम-कामिनी को मान किलिगो।
क्यों हूँ कढ़यो तहाँ आइ साँवरो छबीलो छैल
जाको गान-तानन ते ताके कान पिलिगो।
मुख खोलि उझकि झरोखे हरिऔध झांके
लोक सुंदरी को मंजु रूप ऐसो खिलिगो।
नीलिमा-गगन मैं मगन ह्वै गयो कलंक
आनन-उजास मैं मयंक-बिंब मिलिगो।

श्लेष

१—या तिय नथ की बात कछु कहत बनतहै नाहिं।
मुकुत मिले हूँ देखियत फँसी नासिका माँहि।

२—तजि ममता निज बरन की मल परिहरि तन दाहि।
करि मुकुतन को संग नथ नाक बिराजत आहि।

संदेह

१—"धाई चली आवति है कैधों ध्रुव धाम ही ते
कैधौं गिरी भू पै चंद मंडल के फोरे तें।
कैधों याहि काढ्यो कोऊ उदक-सरीर गारि
कैधों बनी सीतलता जग को निचोरे तें।

हरिऔध कहै ऐसी हिम ते दुसह बात
　　　　कैधों भई सीरी बार बार हिम चोरे ते।
कैधों चली चंदन परसि मलयाचल को
　　　　कैधों कढ़ि आवति हिमाचल के कोरे ते।"

२—"कैधों महा तीव्र तेज वारो बड़ो तारो कोऊ
　　　　तजि कै अनंत या धरा की ओर छूट्यो है।
कैधों ओपवारे असुरारि को अपार जूह
　　　　मोद मानि सृंग पै हिमाचल के जूट्यो है।
हरिऔध कैधों चारु सरद-सिता है लसी
　　　　कैधों भू पै हीरा की कनीन कोऊ कूट्यो है।
छीर नीधि कैधों आज फूट्यो है वसुंधरा पै
　　　　छिति पै छपा कर कै नभ छोरि टूट्यो है।"

३—"फूले हैं पलास कैधों दहकि दवारि लागी
　　　　कूकैं पिक कैधों कंठ बधिक प्रवीन को।
उलही धरा पै लसी लतिका ललित कैधौं
　　　　जोहि जोहि जालन मों जकर्यो जमीन को।
हरिऔध चाहत खिलौले वाँके बानन को
　　　　कैधों विकस्यो है जूह कुसुम-कलीन को।
ए री बन बागन में वगर्यो वसंत कैधों
　　　　पंचबान खेलत सिकार विरहीन को।"

पदार्थावृत्ति

"चोर-चैन-हर चाखना चोर रुचिर रुचि अंक।
है चकोर चित-चोर जग-लोचन-चोर मयंक।"

अपह्नुति

"रहि मोतिन में मीन जो करति रहति है ऊब।
हरे हरे निज दसन मिस हरे हरे कहि दूब।"

उत्प्रेक्षा

ाथा मृग मीन की है किन दारिम दाख की बात कही है।
नाग नरादि के नारिन की हरिऔध जू कौन सही है।
ारो निहारि कै राधिके देवबधून को देह दही है।
हेमाचल में गिरिजा बसी इंदिरा सागर बीच रही है।

। अलंकारों के और भी बहुत से उदाहरण दिये जा सकते
नसे अनावश्यक विस्तार होगा। फिर भी यह कहा जा
क हरिऔध ने 'रस-कलस' में जितना ध्यान सरस और
योजना की ओर दिया है उतना अर्थालंकारों को, उनके
में प्रदर्शित करने की ओर नहीं दिया। उदाहरण के लिए
क, उत्प्रेक्षा, अपह्नुति, अतिशयोक्ति आदि की समस्त
। निदर्शन करने वाले पद्यों की प्रचुरता इस ग्रंथ में

तृतीय खण्ड ।

प्रिय-प्रवास की भाषा

'रस-कलस' की चर्चा के वाद अव हमारे सामने हरिऔध जी की वह रचना आती है जिसने उन्हें उनकी आधुनिक ख्याति प्रदान की है और जो उन्हें हिन्दी-साहित्य में सदैव संस्मरणीय वनावेगी। उनका प्रसिद्ध महाकाव्य 'प्रिय-प्रवास', जिसे उन्होंने १५ अक्टूवर, सन १९०८ में लिखना प्रारम्भ किया और २४ फरवरी, सन् १९१३ में समाप्त किया, उल्लेखयोग्य ग्रंथ है। इस ग्रंथ पर यहाँ कुछ विस्तारपूर्वक विचार किया जायगा, क्योंकि इसमें उनके प्रौढ़ विचारों का विकास दिखायी पड़ता है।

इस ग्रंथ का लिखना आरम्भ होने के ९-१० वर्ष पहले प्रयाग के इंडियन प्रेस से 'सरस्वती' नामक पत्रिका का जन्म हुआ था। उसके आदि सम्पादक तो वावू श्यामसुन्दरदास थे, किन्तु वाद को सम्पादकाचार्य्य पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी के हाथों में उसका सम्पादन-कार्य्य सौंपा गया। द्विवेदी जी ने दूरदर्शी सम्पादक होने के कारण 'सरस्वती' को हिन्दी साहित्य की तत्कालीन समस्याओं को हल करने का साधन वनाया। उस समय हिन्दी गद्य की भाषा तो सर्व-सम्मति से खड़ी वोली हो चुकी थी, किन्तु कविता व्रजभाषा ही में की जा रही थी। स्वयं द्विवेदी जी ने व्रजभाषा ही में उसके पहले काव्य-रचना की थी। काव्य और गद्य की भाषा में थोड़ा सा अन्तर तो अनिवार्य है, परन्तु व्रजभाषा और खड़ीवोली में जितना अन्तर था वह अन्य भाषाओं के काव्य और गद्य-साहित्य-विषयक अन्तर से भिन्न था। इस अन्तर की अधिकता का अनुभव द्विवेदी जी ने किया, और उन्होंने 'सरस्वती' में केवल खड़ीवोली की कविताएँ प्रकाशित करने का पक्का निश्चय कर लिया। उनके इस निश्चय से उन कवियों पर विशेष प्रभाव पड़ा जो अपने को, अपने विचारों को प्रकाश में लाना चाहते थे। हरिऔध जी

उन कवियों में से एक रहे हैं; यद्यपि उनका कार्य्य-पथ द्विवेदी जी से स्वतंत्र रहा है।

द्विवेदी जी की सम्पादन-नीति तथा खड़ीबोली की भावी शक्तिशीलता के अनुमान से हरिऔध जी को खड़ीबोली की ओर झुकना पड़ा। हरिऔध जी आरम्भ ही से एक आकांक्षाशील लेखक रहे हैं, अतएव, खड़ीबोली में इस समय एक महाकाव्य लिखकर अमर होने की लालसा ने उनके हृदय में स्थान पाया तो कोई आश्चर्य्य नहीं। उनके सामने जब यह प्रश्न खड़ा हुआ कि महाकाव्य किस विषय को लेकर अग्रसर हो? तब स्वभावतः उनका ध्यान अपने चिर प्रीतिपात्र विषय राधा-कृष्ण-सुयश की ओर गया। इस विषय ने इस कारण उन्हें विशेष रूप से आकर्षित किया कि इस समय राधा और कृष्ण के प्रति एक नवीन दृष्टिकोण रखने के कारण हिन्दी भाषी जनता को, एवं हिन्दू समाज को, उपहार रूप में प्रदान करने के लिए उनके पास एक नूतन संदेश भी था। इसकी उचित चर्चा उपयुक्त स्थान पर की जायगी। यहाँ इतना ही कथन यथेष्ट है कि विषय हरिऔध जी की प्रतिभा को उचित कार्य-क्षेत्र प्रदान करने के सर्वथा अनुकूल था।

परन्तु संस्कृत के वर्ण-वृत्तों ने बहुत अधिक संस्कृत-गर्भित भाषा का तक़ाज़ा किया। जिन प्रारम्भिक पद्यात्मक रचनाओं का परिचय पाठकों को मिल चुका है—अर्थात् ब्रजभाषा में लिखी गयी कविताएँ—उनमें भी संस्कृत का रंग तो है ही। परन्तु अभी तक पद्य में हरिऔध जी ने एक भी रचना ऐसी नहीं प्रस्तुत की थी जिसमें प्रायः सारी की सारी शब्दावली संस्कृत की हो, और केवल क्रियाओं में हिन्दी का रूप प्रकट होता हो। निस्सन्देह 'ठेठ हिन्दी का ठाट' की भूमिका अत्यन्त संस्कृत-गर्भित भाषा में थी, किन्तु वह गद्य लेख था। हरिऔध की इतनी संस्कृत-मिश्रित पद्य-भाषा सबसे पहले 'प्रियप्रवास' ही में देख पड़ी।

'ठेठ हिन्दी का ठाट' और 'अधखिला फूल' के लेखक से यह आशा की जा सकती थी कि वे अपने महाकाव्य की भूमिका के लिए तो उसी भाषा का प्रयोग करेंगे जो उक्त उपन्यासों में देखी जाती है। परन्तु

हरिऔध जी ने किसी झिझक के बिना उस भाषा का तिरस्कार कर दिया। प्रियप्रवास की भूमिका की भाषा का एक नमूना देखिए:—

"यद्यपि वर्त्तमान पत्र और पत्रिकाओं में कभी कभी एक आध भिन्न तुकान्त कविता किसी उत्साही युवक कवि की लेखनी से प्रसृत होकर आज-कल प्रकाशित हो जाती है, तथापि मैं यह कहूँगा कि भिन्न तुकान्त कविता भाषा साहित्य के लिए एक बिलकुल नई वस्तु है, और इस प्रकार की कविता में किसी काव्य का लिखा जाना तो 'नूतं नूतं पदे पदे' है। इसलिए महाकाव्य लिखने के लिए लालायित होकर जैसे मैंने बाल चापल्य किया है, उसी प्रकार अपनी अल्प-विषया-मति साहाय्य से अतुकान्त कविता में महाकाव्य लिखने का यत्न करके अतीव उपहासास्पद हुआ हूँ। किन्तु यह एक सिद्धान्त है कि 'अकरणात् मन्द करणम् श्रेयः' और इसी सिद्धान्त पर आरूढ़ होकर मुझ से उचित या अनुचित यह साहस हुआ है। किसी कार्य्य में सयत्न होकर सफलता लाभ करना बड़े भाग्य की बात है, किन्तु सफलता न लाभ होने पर सयत्न होना निन्दनीय नहीं कहा जा सकता।

× × ×

मुझ में महाकाव्यकार होने की योग्यता नही, मेरी प्रतिभा ऐसी सर्वतोमुखी नहीं जो महाकाव्य के लिए उपयुक्त उपस्कर संग्रह करने में कृतकार्य्य हो सके। अतएव मैं किस मुख से यह कह सकता हूँ कि 'प्रिय-प्रवास' के बन जाने से खड़ी बोली में एक महाकाव्य के न होने की न्यूनता दूर हो गयी। हाँ, विनीत भाव से केवल इतना ही निवेदन करूँगा, कि महाकाव्य का आभास-स्वरूप यह ग्रंथ सत्रह सर्गों में केवल इस उद्देश्य से लिखा गया है कि इसको देख कर हिन्दी साहित्य के लब्ध-प्रतिष्ठ सुकवियों और सुलेखकों का ध्यान इस त्रुटि के निवारण करने की ओर आकर्षित हो। जब तक किसी बहुज्ञ, मर्म्मस्पर्शिनी सुलेखनी द्वारा लिपिबद्ध होकर खड़ी बोली में सर्वांग सुन्दर कोई महाकाव्य आप लोगों को हस्तगत नहीं होता तब तक यह अपने सहज रूप में आप लोगों के ज्योतिविकीरणकारी उज्ज्वल चक्षुओं के सम्मुख है।".

उक्त अवतरणों के रेखांकित शब्दों पर ध्यान दीजिए। ये संस्कृत के तत्सम शब्द साधारण बोलचाल में अत्यन्त अल्प-व्यवहृत हैं। हरिऔध जी ने पद्य में इस तरह की भाषा लिखना क्यों पसंद किया, इसका कारण स्वयं उन्हीं के शब्दों में सुनिए :—

"कुछ संस्कृत वृत्तों के कारण और अधिकतर मेरी रुचि से इस ग्रंथ की भाषा संस्कृत-गर्भित है। क्योंकि अन्य प्रांतवालों में यदि समादर होगा तो ऐसे ही ग्रन्थों का होगा। भारतवर्ष भर में संस्कृत भाषा आदृत है, बँगला, मरहठी, गुजराती, वरन तामिल और पंजाबी तक में संस्कृत शब्दों का बाहुल्य है। संस्कृत शब्दों को यदि अधिकता से ग्रहण करके हमारी हिन्दी भाषा उन प्रांतों के सज्जनों के सम्मुख उपस्थित होगी तो वे साधारण हिन्दी से उसका अधिक समादर करेंगे, क्योंकि उसके पठन-पाठन में उनको सुविधा होगी और वे उसको समझ सकेंगे। अन्यथा हिन्दी के राष्ट्रभाषा होने में दुरूहता होगी, क्योंकि सम्मिलन के लिए भाषा और विचार का साम्य ही अधिक उपयोगी होता है। मैं यह नहीं कहता कि अन्य प्रान्त वालों से घनिष्ठता का विचार करके हम लोग अपने प्रान्त वालों की अवस्था और भाषा के स्वरूप को भूल जावें। यह मैं मानूँगा कि इस प्रान्त के लोगों की शिक्षा के लिए और हिन्दी भाषा के प्रकृत रूप की रक्षा के निमित्त साधारण वा सरल हिन्दी में लिखे गये ग्रन्थों की ही अधिक आवश्यकता है, और यही कारण है कि मैंने हिन्दी में कतिपय संस्कृत-गर्भित ग्रंथों की प्रयोजनीयता बतलायी है। परन्तु यह भी सोच लेने की बात है कि क्या वहाँ वालों को उच्च हिन्दी से परिचित कराने के लिए ऐसे ग्रन्थों की आवश्यकता नहीं है, और यदि है तो मेरा ग्रंथ केवल इसी कारण से उपेक्षित होने योग्य नहीं। जो सज्जन मेरे इतना निवेदन करने पर भी अपनी भौंह की वंकता निवारण न कर सकें उनसे मेरी यह प्रार्थना है कि वे 'वैदेही वनवास' के कर-कमलों में पहुँचने तक मुझे क्षमा करें, इस ग्रन्थ को मैं सरल हिन्दी और प्रचलित शब्दों में लिख रहा हूँ।"

उक्त अवतरण में हरिऔध जी ने अपने विपक्षियों का समाधान करने का पूरा प्रयत्न किया है। उन्होंने सबसे पहले अन्य प्रान्तों में उच्च संस्कृत-गर्भित हिन्दी के आदृत होने का कारण प्रस्तुत किया। जिन पर इसका प्रभाव भी नहीं उनके सामने उन्होंने इस प्रान्त में भी ऐसी भाषा के अध्ययन की आवश्यकता बतलायी और अंत में अपना विरोध फिर भी बनाये रखने वालों की सेवा में 'वैदेही वनवास' के रूप में एक सरल भाषा में लिखित काव्योपहार अर्पण करने का विचार प्रकट किया।

परन्तु वास्तव में हरिऔध जी का यह नम्र निवेदन शालीनता मात्र है। भाषा विषय की अनुगामिनी होती है, और किसी विचार को प्रकट करने के लिए जितना ही अधिक या कम स्थान हमारे पास है उतनी ही सरल, साधारण शब्दों वाली अथवा कठिन संस्कृत शब्दों वाली भाषा से हमें काम चलाना पड़ता है। 'ठेठ हिन्दी का ठाट' के समर्पण की भाषा में जो कठोर संस्कृत शब्दों का जमघट हो गया— जिससे पुस्तक की भाषा के साथ धूप और छाया का दृश्य प्रस्तुत होता है, उसका प्रधान कारण यह है कि विशेषणों की बहुत अधिक माँग ने ठेठ हिन्दी का दिवाला निकाल दिया। 'प्रिय-प्रवास' की भाषा के लिए किसी प्रकार के संकोच-प्रदर्शन अथवा क्षमा-याचना की आवश्यकता नहीं थी। संस्कृत के वृत्त संस्कृत भाषा की सुविधा के लिए बने हैं और वे उसीकी सेवा में रत रहे हैं। अब यदि हिन्दी के किसी कवि की यह कामना होती है कि वह संस्कृत वृत्तों में हिन्दी काव्य लिखे तो उसे उन वृत्तों के साथ कुछ समझौता तो करना ही पड़ेगा। निस्सन्देह अन्य समस्त समझौतों की तरह इस समझौते में भी हरिऔध जी को आदान-प्रदान का पथ स्वीकार करना पड़ा है। द्रुतविलम्बित, वसन्ततिलका और वंशस्थ आदि वृत्तों के संकीर्ण स्थलों में उन्हें समासमयी पदयोजना के रूप में वृत्तों की शर्त्त ही स्वीकार करनी पड़ी है, संस्कृत-गर्भित क्या प्रायः संस्कृत भाषा ही लिखनी पड़ी है। उदाहरण के लिए नीचे के तीन अवतरणों को देखिए :—

गोपी असंख्य बहु गोप तथांगनायें।
आईं विहार रुचि से व्रज मेदिनी में।
हो हो सुवादित मुकुन्द सदंगुली से।
कान्तार में मुरलिका जब गूँजती थी।
तो पत्र पत्र पर था कल नृत्य होता।
रागांगना विधुमुखी चपलांगिनी का।

[३]

वंशस्थ

सुपक्वता पेशलता अपूर्वता।
फलादि की मुग्धकरी विभूति थी।
रसाप्लुता सी बन मंजु भूमि को।
रसालता थी करती रसाल की।

सुवर्तुलाकार विलोकनीय था।
विनम्र शाखा नयनाभिराम थी।
अपूर्व थी श्यामल पत्र-राशि में।
कदम्ब के पुष्प कदम्ब की छटा।

नितान्त लब्धी घनता विवर्द्धिनी।
असंख्य पत्रावलि अंकधारिणी।
प्रगाढ़ छायामय पुष्प शोभिनी।
अम्लान काया इमिली सुमौलि थी।

× × ×

विमुग्धकारी मधु मंजु मास था।
वसुंधरा थी कमनीयता मयी।
विचित्रिता साथ विराजिता रही।
वसंत—वासंतिकता वनान्त में।
नवीनभूता बन की विभूति में।
विनोदिता वेलि विहंग वृन्द में।
अपूर्वता व्यापित थी वसंत की।
निकुञ्ज में कूजित कुञ्ज पुंज में।
विमुग्धता की वर रंग भूमि सी।
प्रलुब्धता केलि वसुंधरोपमा।

मनोहरा थीं तरु वृन्द डालियाँ।
नई कली कोमल कोपलों भरी।

किन्तु मालिनी, मन्दाक्रान्ता, शार्दूलविक्रीड़ित आदि वृत्तों में, जहाँ विशेषणों की प्रचुरता के कारण स्थान संकोच वाधक नहीं हुआ, हिन्दी भाषा का रंग भी वना रहने पाया है। नीचे की पंक्तियाँ इसकी उदाहरण-स्वरूपा हैं :—

[१]

मालिनी

अहह सिसकती मैं क्यों किसे देखती हूँ।
मलिन मुख किसी का क्यों मुझे है रुलाता।
जल जल किसका है छार होता कलेजा।
निकल निकल आहें कौन सी वेधती हैं।
गति भय यह कैसा गेह में छा गया है।
पल पल जिससे मैं आज यों चौंकती हूँ।
कँप कर गृह में की ज्योति छाई हुई भी।
छन छन अति मैली क्यों हुई जा रही है।

[२]

मन्दाक्रान्ता

सूखा जाता कमल मुख था होंठ नीला हुआ था।
दोनों आँखें विपुल जल में डूबती जा रही थीं।
शंकाएँ थीं विकल करती काँपता था कलेजा।
खिन्ना दीना परम मलिना उन्मना राधिका थीं।

× × ×

[३]

शार्दूलविक्रीडित

रही यह बात कि हरिऔध जी ने संस्कृत वृत्तों का प्रयोग ही क्यों किया, न वे ऐसा करते और न उनकी भाषा उचित से अधिक संस्कृत-गर्भित होती, तो इसके उत्तर में यही निवेदन किया जा सकता है कि मातृभाषा को सुसम्पन्न बनाने के उद्देश्य से हरिऔध जी ने बँगला के 'मेघनाद-वध' के अतुकान्त छन्दों में महाकाव्य लिखने का निश्चय किया। उनके पहले पंडित अम्बिका दत्त व्यास अतुकान्त हिन्दी पद्यों में 'कंस-वध' नामक काव्य लिखने का असफल प्रयत्न कर चुके थे। ऐसी दशा में हिन्दी छन्दों में महाकाव्य लिखने का साहस यदि हरिऔध जी को नहीं हुआ तो यह सर्वथा स्वाभाविक है। निस्सन्देह संस्कृत वृत्तों ही में पूरा का पूरा महाकाव्य लिख डालने में भी एक प्रकार का साहस ही दृष्टिगोचर होता है, किन्तु यह साहस निरवलम्ब नहीं था, सम्पूर्ण संस्कृत साहित्य-भण्डार का उसे अवलम्बन था, साथ ही विभिन्न प्रान्तों में उसके स्वागत की आशा थी तथा स्वयं हिन्दी-साहित्य-सेवियों के हृदय की आकांक्षा इस दिशा में वेगवती हो रही थी। 'प्रिय-प्रवास' के प्रकाशित होने के पहले अन्य हिन्दी साहित्य-सेवियों का ध्यान भी इस ओर जा रहा था—यह बात निम्नलिखित दो अवतरणों से पाठकों की समझ में आ जायगी।

१—जब तक खड़ी बोली की कविता में संस्कृत के ललित वृत्तों की योजना न होगी तब तक भारत के अन्य प्रान्तों के विद्वान् उससे सच्चा आनन्द कैसे उठा सकते हैं? यदि राष्ट्र-भाषा हिन्दी के काव्य-ग्रन्थों का स्वाद अन्य प्रान्त वालों को भी चखाना है तो उन्हें संस्कृत के मन्दाक्रान्ता, शिखरिणी, मालिनी.........आदि ललित वृत्तों से अलंकृत करना चाहिए।

—लक्ष्मीधर वाजपेयी।

२—यहाँ एक बात बतला देना बहुत जरूरी है। जो बेतुकान्त की कविता लिखे उसको चाहिए कि संस्कृत के छन्दों को काम में लाये। मेरा ख्याल है कि हिन्दी पिंगल के छन्दों में बेतुकान्त की कविता अच्छी नहीं लगती।

—स्व० मन्नन द्विवेदी।

मनोज्ञ थीं तरु वृन्द डालियाँ।
नई कली कोमल कोपलों भरी।

किन्तु मालिनी, मन्दाक्रान्ता, शार्दूलविक्रीड़ित आदि वृत्तों में, जहाँ विशेषणों की प्रचुरता के कारण स्थान संकोच बाधक नहीं हुआ, हिन्दी भाषा का रंग भी बना रहने पाया है। नीचे की पंक्तियाँ इसकी उदाहरण-स्वरूपा हैं :—

[१]

मालिनी

अहह सिसकती मैं क्यों किसे देखती हूँ।
मलिन मुख किसी का क्यों मुझे है रुलाता।
जल जल किसका है छार होता कलेजा।
निकल निकल आहें कौन सी बेधती हैं।
सखि भय यह कैसा गेह में छा गया है।
पल पल जिससे मैं आज यों चौंकती हूँ।
कँप कर गृह में की ज्योति छाई हुई भी।
छन छन अति मैली क्यों हुई जा रही है।

[२]

मन्दाक्रान्ता

सूखा जाता कमल मुख था होंठ नीला हुआ था।
दोनों आँखें विपुल जल में डूबती जा रही थीं।
शंकायें थीं विकल करतीं काँपता था कलेजा।
खिन्ना दीना परम मलिना उन्मना राधिका थीं।

× × ×

[३]

शार्दूलविक्रीड़ित

[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]

रही यह बात कि हरिऔध जी ने संस्कृत वृत्तों का प्रयोग ही क्यों किया, न वे ऐसा करते और न उनकी भाषा उचित से अधिक संस्कृत-गर्भित होती, तो इसके उत्तर में यही निवेदन किया जा सकता है कि मातृभाषा को सुसम्पन्न बनाने के उद्देश्य से हरिऔध जी ने बँगला के 'मेघनाद-वध' के अतुकान्त छन्दों में महाकाव्य लिखने का निश्चय किया। उनके पहले पंडित अम्बिका दत्त व्यास अतुकान्त हिन्दी पद्यों में 'कंस-वध' नामक काव्य लिखने का असफल प्रयत्न कर चुके थे। ऐसी दशा में हिन्दी छन्दों में महाकाव्य लिखने का साहस यदि हरिऔध जी को नहीं हुआ तो यह सर्वथा स्वाभाविक है। निस्सन्देह संस्कृत वृत्तों ही में पूरा का पूरा महाकाव्य लिख डालने में भी एक प्रकार का साहस ही दृष्टिगोचर होता है, किन्तु यह साहस निरवलम्ब नहीं था, सम्पूर्ण संस्कृत साहित्य-भण्डार का उसे अवलम्बन था, साथ ही विभिन्न प्रान्तों में उसके स्वागत की आशा थी तथा स्वयं हिन्दी-साहित्य-सेवियों के हृदय की आकांक्षा इस दिशा में वेगवती हो रही थी। 'प्रिय-प्रवास' के प्रकाशित होने के पहले अन्य हिन्दी साहित्य-सेवियों का ध्यान भी इस ओर जा रहा था—यह बात निम्नलिखित दो अवतरणों से पाठकों की समझ में आ जायगी।

१—जब तक खड़ी बोली की कविता में संस्कृत के ललित वृत्तों की योजना न होगी तब तक भारत के अन्य प्रान्तों के विद्वान् उससे सच्चा आनन्द कैसे उठा सकते हैं? यदि राष्ट्र-भाषा हिन्दी के काव्य-ग्रन्थों का स्वाद अन्य प्रान्त वालों को भी चखाना है तो उन्हें संस्कृत के मन्दाक्रान्ता, शिखरिणी, मालिनी.........आदि ललित वृत्तों से अलंकृत करना चाहिए।

—लक्ष्मीधर वाजपेयी।

२—यहाँ एक बात बतला देना बहुत जरूरी है। जो बेतुकान्त की कविता लिखे उसको चाहिए कि संस्कृत के छन्दों को काम में लाये। मेरा ख्याल है कि हिन्दी पिंगल के छन्दों में बेतुकान्त की कविता अच्छी नहीं लगती।

—स्व० मन्नन द्विवेदी।

प्रिय-प्रवास में ईश्वर-भावना

हिन्दी साहित्य में जो अधिकतर विकृत भावनाओं का प्रभाव दिखायी पड़ता है उसका कारण यह है कि वह हिन्दू समाज की विकृत मनोवृत्तियों का प्रतिबिम्ब है। जो संसार की प्राचीनतम जाति है उसके जीवन में अनेक उत्थान-पतन का होना स्वाभाविक है। निस्सन्देह दर्शनशास्त्र के अध्ययन में, आध्यात्मिक अनुसन्धान तथा प्रगति में संसार की कोई जाति हिन्दुओं का सामना नहीं कर सकती; प्रत्येक शास्त्र की सुव्यवस्थित अध्ययन-प्रणालियों का विकास, मनुष्य के आध्यात्मिक, बौद्धिक और शारीरिक उन्नति-साधन को दृष्टि में रख कर वर्ण और आश्रम धर्म की कल्पना, सार्वभौम और सर्वकालीन सनातन धर्म्म के व्यापक सिद्धान्तों के आविष्कार आदि में हिन्दुओं ने संसार की समस्त जातियों की अपेक्षा अधिक प्रशंसनीय कार्य्य किया है; ऋषियों ने सत्य की आराधना में शरीर को गला तक डाला और अपने तपोबल तथा त्याग से वे समाज में सर्वोच्च पद के अधिकारी हुए। यह सब होते हुए भी यह मानना पड़ेगा कि अन्य मानव-समाजों की भांति हमारे समाज में भी विचारों और भावों के उत्थान-पतन का क्रम जारी रहा।

यह प्रायः देखा गया है कि व्यक्ति-विशेष विचार अथवा कार्य्य-क्षेत्र के किसी विभाग में कितनी भी उन्नति क्यों न कर डाले, समाज कुल मिलाकर प्रायः ज्यों का त्यों रहता है। जैसे सागर में कभी लहरें आयीं और थोड़ी देर के बाद वह फिर शान्त हो गया, वैसे ही मानव-समाज व्यक्ति-विशेष की महान शक्तियों से तरंगित होकर थोड़ी देर के लिए भले ही दिशा-विशेष में उत्साहित रहे, किन्तु कालान्तर में वह साधारण स्थिति में आ जाता है। भारतवर्ष में निवास करने वाली आर्य्य जाति का जिस दिन सच्चा इतिहास लिखा जायगा उस दिन [illegible] कि हमारे समाज में

उत्थान-पतन का फेरा कितने मनोरंजक ढंग से होता रहा। यह स्वयं ही एक बड़ा ही विस्तृत विषय है, अतएव इसकी ओर अनावश्यक रूप से आकर्षित न होकर मैं इतने ही कथन से संतोष करूँगा कि हमारे समाज की मनोवृत्तियों के उत्थान और पतन का एक छोटा सा इतिहास हमारे उस साहित्य ही में मिलता है जिसने श्रीकृष्ण को विभिन्न रूपों में अंकित किया है। महाभारत और भागवत हमारे दो प्रामाणिक ग्रन्थ हैं, और दोनों ही की रचना अथवा सम्पादन व्यासदेव ने किया है। श्रीकृष्ण को हम लोग आदर्श पुरुष के रूप में ग्रहण करते हैं, इतना ही नहीं, उन्हें मनुष्यत्व की कोटि से ऊपर उठा कर उनमें देवत्व का आरोप करते और पूज्य समझते हैं। जिसमें दैवी विभूतियों की विशेषता है, वह मानवी दुर्बलताओं के मलिन पंक में क्यों लोटेगा, इस विषय में शंकालु होकर श्रीमद्भागवत में वर्णित राजा परीक्षित ने जब श्रीकृष्ण का गोपियों के साथ अमर्य्यादित सम्बन्ध होने की अवस्था में श्रीकृष्ण की पवित्रता और महत्ता के प्रति सन्देह प्रकट किया, तब शुकदेव मुनि ने उनके समाधान के लिए जो उत्तर दिये वे समयानुकूल भले ही हों, किन्तु पवित्र और उच्च दृष्टि तथा सामयिक विचार से युक्तिसंगत नहीं ज्ञात होते। उनको यहाँ उद्धृत करना तो अमर्य्यादित होगा, परन्तु मैं यह कहूँगा कि उनमें जो विचार प्रकट किये गये हैं वे सद्भाव के अनुमोदक नहीं हो सकते।

ऊपर मैंने समाज के जिस नैतिक पतन की ओर संकेत किया है उससे कोई यह न समझे कि हिन्दू समाज में उच्च आदर्शों का अभाव था। यह बात नहीं। मैं कह आया हूँ कि भारतवर्ष के ऋषियों और महर्षियों ने सत्य के स्वरूप को जितना हृदयंगम किया था उतना अन्य देश के सत्य-शोधकों ने शायद ही कर पाया हो। काल-विशेष में समाज की आवश्यकताओं को ध्यान में रख कर वे उसके लिए उन आदर्शों का निर्धारण करते थे जो उनकी समझ में उसे पूर्ण सत्य के निकट पहुँचाने की शक्ति रखते थे। समाज में उनके बलशाली व्यक्तित्व द्वारा सञ्चारित स्फूर्ति के प्रभाव से कुछ समय तक उन आदर्शों के लिए

उद्योग करने की प्रेरणा होती थी, किन्तु बाद को शैथिल्य अनिवार्य्य हो जाता था। शैथिल्य के पराकाष्ठा को पहुँचने पर फिर किसी महा-पुरुष का अवतरण अन्धकार में आलोक की भाँति समाज के हृदय-प्रदेश में ज्ञान का सन्देश प्रेषित करता था।

भारतवर्ष में ईश्वर की खोज, उसके प्रकृत स्वरूप का चिन्तन तथा समाज द्वारा उसका हृदयंगम किया जाना, अधिक सरल बनाने की चेष्टा प्रत्येक काल में विशिष्ट प्रतिभा-सम्पन्न व्यक्तियों द्वारा होती आयी है। यह सर्व-सम्मत सिद्धान्त रहा है, कि ईश्वर को हम कल्पना द्वारा नहीं, अनुभूति द्वारा ही पा सकते हैं। शास्त्र-पारंगति, प्रकाण्ड विद्वत्ता ईश्वर-प्राप्ति की सीढ़ी नहीं है, इसके विपरीत कभी कभी तो वह कुतर्कों की जननी हो सकती है।

मा अपने बच्चे की, पिता अपने पुत्र की, प्रेमिका अपने प्रेमी की अनन्त अनुभूति, अपरिमित प्रीति से प्रेरित होकर जिस प्रकार उसे आत्म-समर्पण कर देती है, वैसे ही ईश्वर के प्रति जो इस स्थूल जगत् के कण-कण में व्याप्त है और जिसकी सत्ता मन, बुद्धि, और वाणी के लिए अगोचर है, हमें आत्म-समर्पण करना चाहिए। इसी लिए कभी कभी हम ईश्वर की बाल-रूप में कल्पना करके उसे अपने वात्सल्य-भाव द्वारा हृदयंगम करने का प्रयत्न करते हैं, कभी सखा-रूप में उसे ग्रहण करने की चेष्टा करते हैं, और कभी उसे अपने जीवात्मारूप प्रेमिका का प्रेमपात्र मान कर भजते हैं। ईश्वरानुभूति सर्वस्व-समर्पण के बिना नहीं हो सकती और उक्त साधन इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए संयोजित किये जाते हैं।

प्रसिद्ध भक्त गौराङ्ग महाप्रभु चैतन्यदेव कृष्ण-प्रेम के पीछे पागल से हो गये थे। वियोगिनी राधा की सम्पूर्ण वेदना अपने व्यक्तित्व में

ते थे। स्थूल शरीर और मन के जिन व्यापारों का संकेत
लता है, वे उनमें ईश्वरानुरागमयी उन्मादपूर्ण भावुकता
करते थे। यह उनकी साधना का फल और विद्यापति के
कृष्टतम उपयोग था। वास्तव में जिन भक्त कवियों ने
के शृंगारिक रूप को अपनी ईश्वरोपासना का साधन
के प्रति यह घोर अन्याय है कि हम उनके काव्य का
समय स्थूल विषय-भोग के संकीर्ण क्षेत्र ही में अपनी
रत रक्खें। चैतन्यदेव और स्वामी रामकृष्ण परमहंस
... ...ायद पद्माकर और विहारी के काव्यों में भी दोष न देख
सके, और यदि कहीं देखे भी तो केवल करुणा से आर्द्र होकर, ऐसी
उच्चगामिनी दृष्टि हम पामर प्राणियों को कहाँ मिल सकेगी। किन्तु
क्या हम इतना भी नहीं कर सकते कि पक्षपातशून्य तथा अपूर्व-
प्रभावित बुद्धि से हम भक्त कवियों के काव्य का अध्ययन करें।
ऐसा करने पर, मुझे आशा है, हम अनायास ही उसके अधिकांश भाग
में अनेक ऐसे तत्वों को प्राप्त कर सकेंगे जिनका उन अन्य कवियों की
रचनाओं में अभाव है जिन्होंने श्रीराधा-कृष्ण का एक साधारण
लौकिक चित्र अपनी कवि-दृष्टि के समक्ष रख कर कविता की है।
कहने की आवश्यकता नहीं कि यदि अपेक्षित ढंग की साधना मन
को सांसारिकता के क्षेत्र से परे पहुँचा दे तो विद्यापति के पदों में हमें
भी अश्लीलता की गंध न आवे। खेद है, उचित दृष्टिकोण का अभाव
होने के कारण वे ही संकेत और वे ही व्यापार जो अपरिमित
आह्लाद का स्रोत प्रवाहित कर सकते हैं, साधारण पाठकों के
लिए संकोच और ग्लानि के जनक हो जाते हैं।

पन्द्रहवीं शताब्दी में महाप्रभु वल्लभाचार्य्य ने राधा-कृष्ण की
उपासना का प्रचार किया। इस उपासना के भी वे ही सिद्धान्त आधार-
स्तम्भ थे जिनकी चर्चा ऊपर की गयी है। नारी-पुरुष-सम्बन्ध के संकेत
से मुक्त होने के कारण इस उपासना-पद्धति की विशेष लोक-प्रियता
हुई। किन्तु इसी कारण कालान्तर में जब उस आवेश और दृष्टिकोण

का अभाव हुआ जो साधना का परिणाम-स्वरूप था, तब वह आध्यात्मिक भाव नारी-पुरुष-सम्बन्ध के स्थूल अस्तित्व मात्र में परिवर्तित हो गया। महाप्रभु ने अपने आठ भक्तों को लेकर अष्टछाप की रचना की थी। इसमें सूरदास, नन्ददास आदि प्रमुख थे। इनके काव्य में लौकिक दृष्टि से अश्लील रचनाओं का भी एक अंश है। इन भक्त कवियों की ऐसी रचनाओं के पक्ष में यह अवश्य कहा जायगा कि कृष्ण और राधा की पुरुष और प्रकृति रूप में यदि विराट् कल्पना की जाय, तो वे इस दोष से सर्वथा मुक्त दिखायी पड़ें। इनमें से किसी कवि के पृथक् पृथक् अंशों के आधार पर हमें कोई मत न निर्धारित करना चाहिए; इसके लिए तो उनकी सम्पूर्ण कृति को हमें दृष्टिगत रखनी पड़ेगी। ऐसा करने पर हम देखेंगे कि इन भक्त कवियों के काव्य में उक्त विराट् कल्पना को उत्तेजित करने के लिए यथेष्ट सामग्री प्रस्तुत है। नवम्बर, १६३३ की 'सरस्वती' में श्रीयुत वेंकटेशनारायण तिवारी, एम० ए० ने महात्मा सूरदास के काव्य पर जो आक्षेप किये हैं, वे भ्रान्त अध्ययन-शैली के परिणाम-स्वरूप ही संभव हो सके हैं। थोड़ा ही श्रम करने पर हमें यह अवगत हुए बिना नहीं रहेगा कि भक्त कवियों ने मन ही मन उस स्वरूप की धारणा करते हुए ही उस निश्चिन्तता और तन्मयता के साथ कविता की है, जो हमारे समाज की स्थूल दृष्टि में उच्छृङ्खलतासूचक जँचने लगी है; यह बात चित्ताकर्षक है कि जितने नग्न चित्र भक्त कवियों के काव्य में मिलते हैं उतने देव, बिहारी, पद्माकर, तोष, आदि किसी कवि की कृति में नहीं मिलते, जिसका एक उल्लेखनीय कारण यही है जो यहाँ बतलाया गया है।

कृष्ण-काव्य के क्षेत्र में भक्त कवियों के उत्तराधिकारियों में न तो वह साधना थी जो उन्हें विषय-वासना से निर्लिप्त बनाती, और न वह अन्तर्दृष्टि थी जिसके आधार से वे कृष्ण और राधा के विराट् रूप की धारणा कर सकते। इसका परिणाम यही हुआ जो सर्वथा स्वाभाविक था, अर्थात् कृष्ण और राधा की साधारण नायक और नायिका के रूप में [illegible] कवियों की [illegible] इसका [illegible]

आभास दिया जा चुका है। नायिका-भेद की सारी बारीकी राधा के स्थूल सौन्दर्य्य-गान में खर्च कर दी गयी। इसी प्रकार श्रीकृष्ण से भी वे सब काम कराये गये जिन्हें व्यावहारिक जीवन में हम व्यसनियों को करते पाते हैं।

ऐसे कुछ पद्य उद्धृत किये जा सकते हैं किन्तु मर्य्यादा-दृष्टि से मैं ऐसा नहीं करता।

जैसे व्यक्ति की मानसिक चेष्टाओं में परिवर्तन होता रहता है वैसे ही समाज की मनोवृत्तियों का भी उत्थान-पतन होता रहता है। जैसे वही व्यक्ति जो किसी समय घृणित से घृणित व्यभिचार में प्रवृत्त होता है, श्मशान में चिताएँ जलती देख कर वैराग्य-पूर्ण भावों से अभिभूत हो जाता है, वैसे ही समाज कभी अनुचित से अनुचित विचारों को प्रश्रय दे देता है और कभी उचित विचारों के प्रकट किये जाने का मार्ग भी अवरुद्ध करने के लिए सचेष्ट होता है। कृष्ण और राधा के चित्रण के सम्बन्ध में भी ऐसी ही बात हुई। उसके विरुद्ध प्रतिक्रिया एक अचिन्तित पथ से आयी। यह पथ था अँग्रेजी शिक्षा के प्रचार से उत्पन्न बुद्धिवाद। उन्नीसवीं शताब्दी में लार्ड मैकाले के प्रयत्न से संस्कृत और अरबी-फ़ारसी की शिक्षा का स्थान अँगरेजी भाषा ने लिया। इस भाषा से हमारे देश-वासियों को साहित्य का वह आलोक सुलभ हुआ जो इस अन्धकार के अस्तित्व को कभी सहन नहीं कर सकता था। बंगाल में राजा राममोहन राय की तीक्ष्ण आलोचिका प्रतिभा ने सामाजिक और धार्मिक क्षेत्र में क्रान्ति उत्पन्न कर दी। ब्रह्मसमाज की स्थापना करके जहाँ उन्होंने सत्यम् शिवम् सुन्दरम् की ओर शिक्षित जनता का ध्यान आकर्षित किया, वहाँ उसे अपनी समस्त वस्तुओं को हेय न समझ कर भाव-परिवर्तन करने की आवश्यकता का अनुभव करने की ओर भी प्रेरित किया। उत्तरी भारत में, स्वामी दयानन्द सरस्वती ने भी आर्य्य-समाज की संस्थापना करके हिन्दू समाज के प्रत्येक सामाजिक और धार्मिक प्रश्न को बुद्धि की कसौटी पर कसना शुरू किया। इन दोनों महापुरुषों के उद्योग से हमारे देशवासियों के

विचारों में प्रचण्ड क्रान्ति उत्पन्न हो गयी। सन् १८८४ ई० में स्थापित भारतीय राष्ट्रीय महासभा भी इस शताब्दी का अन्त होते होते तक सुसंगठित संस्था का स्वरूप धारण कर चली थी; उससे देश में राजनीतिक विचारों की सृष्टि हुई और जनता का ध्यान देश को सुधारने वाले कार्यों की ओर जाने लगा। इन समस्त उद्योगों का सम्मिलित प्रभाव यह हुआ कि समाज की मनोवृत्ति नैतिकता की ओर अग्रसर हुई। साहित्य के क्षेत्र में इस मनोवृत्ति ने विलासिता के भावों से भरे हुए काव्य अथवा अन्य रचनाओं का विरोध किया।

उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त में 'प्रेमाम्बु वारिधि' नामक काव्य-संग्रह में हरिऔध जी ने राधा का जो निर्मल और भावपूर्ण चित्र अंकित किया था और जिसके देखने से सूर की वियोगिनी राधा का स्मरण हो आता है, उस पर उक्त विरोध का प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। तत्कालीन विचारों के सम्पर्क ने उनकी विचार-शक्ति को उत्तेजित करके श्रीकृष्ण और राधा के पारस्परिक सम्बन्ध तथा व्यक्तिगत चरित्र के विषय में उनके हृदय में आमूल परिवर्तन उपस्थित कर दिया। हरिऔध जी के मानसिक विकास के सम्बन्ध में यहां इतना ही कथन करके अब मैं तत्कालीन समाज के मानसिक प्रगतिपथ का थोड़ा दिग्दर्शन करा देना चाहता हूं।

समाज की स्थापना करके एक ब्रह्म की सत्ता का प्रचार किया था, परन्तु ब्रह्मसमाज होने पर भी उनके समाज में ब्रह्म का चिंतन कम और भौतिक विलास की ओर प्रवृत्ति अधिक थी। स्वयं उनमें जितनी मात्रा में बुद्धि-तत्त्व था उतनी मात्रा में अध्यात्म-तत्त्व नहीं। इसका कारण यह था कि पाश्चात्त्य सभ्यता के साथ समझौता किये विना ब्रह्मसमाज का टिक सकना असम्भव था और पाश्चात्य सभ्यता में ईश्वर धर्म्म के नाम पर ढोंग के अतिरिक्त और कुछ न था। जो हो, ब्रह्मसमाज ने अनेक भारतीयों को ईसाई मत स्वीकार करके विदेशी हो जाने से बचा लिया। स्वामी दयानन्द सरस्वती के आर्य्य-समाज का भी यही हाल था। उसमें आध्यात्मिकता का प्रवेश होता तो उसे अन्य धर्म्मों के प्रति अधिक सहिष्णु होने में कठिनाई न होती। उसे अपनी निर्दिष्ट धार्मिक क्रियाओं के प्रति उत्साह भी अन्य धर्म्मों के प्रति प्रतिद्वन्द्विता के भाव से मिला। यही कारण है जो आर्य्य-समाज भारतीय समाज का एक आवश्यक अंग नहीं हुआ, उसकी सेवाएँ एक देशीय ही हो सकीं, और वह इस्लाम तथा खीष्ट मत का विजेता न बन सका, उन्हें आत्मसात् न कर सका।

श्रीकृष्ण ने यदि मानव शरीर धारण करके संसार के कार्य्यों में भाग लिया तो मनुष्य तो वे कहे ही जायँगे; इसी प्रकार ईसामसीह और मुहम्मद को भी मनुष्य तो कहना और मानना ही पड़ेगा। यही आध्यात्मिक दृष्टिकोण की विशिष्टता मात्र है कि उनके जीवन में महत्ता का परिचय पाने पर उनकी मानव-संभव त्रुटियों पर लक्ष्य न रखते हुए हम उन्हें सच्चिदानन्द परब्रह्म का सगुण स्वरूप, ईश्वर का पुत्र, अथवा पैग़म्बर मानें। आर्य्य-समाज और ब्रह्मसमाज के लिए यह कथन अप्रिय होने पर भी अपमानजनक नहीं है कि उनकी अपेक्षा इस्लाम और खीष्ट मत में अधिक आध्यात्मिकता का सन्निवेश और विकास है दुर्भाग्य से जब वे इनके सम्पर्क में आये, तब इनके अनेक सिद्धान्तों का प्रभाव नष्ट हो गया था और इनके अनुयायी भी भौतिक सभ्यता की ओर अधिक अग्रसर हो रहे थे। ईसाई मत में ईसा को ईश्वर का पुत्र कहने

में किसी को आपत्ति नहीं, मुसल्मानों में मुहम्मद के प्रति श्रद्धा का ह्रास नहीं हो सका, किन्तु बुद्धिवाद से प्रभावित हिन्दुओं ने अपने राम कृष्ण का मूल्य घटा दिया जहाँ हम उन्हें अपनी आलोचना से परे, केवल श्रद्धा का पात्र समझते थे वहाँ हमने उनके गुण दोष परखने शुरू किये, धीरे-धीरे अपने विश्राम-भवन को भी हमने सम्पादक का कमरा बना दिया। हमारी इस कार्यवाही से राम और कृष्ण की कोई हानि नहीं हुई, हानि तो हमारी ही हुई। पाषाण में यदि हमें ईश्वर के दर्शन होते थे और फिर भी उसकी ईश्वरता की परीक्षा लेने के लिए हमने उस पर ठोकर लगाये, तो इससे पाषाण का कोई निरादर नहीं हुआ, और न उसे इस बात का ही विषाद हुआ कि पहले उसे जल और फल का उपहार मिलता था और अब ठोकरों का तिरस्कार मिल रहा है, किन्तु अपनी शान्ति और अपने आनन्द को अवश्य ही हमने ठोकर मार कर मानसिक जगत् से बहिष्कृत कर दिया। अस्तु।

ऊपर निवेदन किया जा चुका है कि समाज की इस परिस्थिति ने साहित्य-सृष्टि के क्षेत्र में भी क्रान्ति उपस्थित कर दी थी। यह क्रान्ति 'कला के लिए कला' नामक सिद्धान्त के क्षेत्र में उद्देश्यमयी कलात्मकता का प्रवेश कराने के पक्ष में हुई। लोग कहने लगे कि वह कला किस काम की जो मानव पीड़ा के प्रति निरपेक्षभाव धारण करे। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने इस मर्म्म को समझकर ही देश-भक्तिपूर्ण कविताएँ रचीं और पाठकों का ध्यान नारी-सौन्दर्य्य-निरीक्षण से हटा कर मनुष्य के कष्टों की ओर आकर्षित किया। भारतवर्ष की पराधीनता और हिन्दू जाति की पतितावस्था के सम्बन्ध में उन्होंने करुणाजनक कविताएँ लिखीं। निस्सन्देह नारी-सौन्दर्य्य और प्रेम विषय पर कविताएँ लिख कर उन्होंने अपना सम्बन्ध पूर्ववर्त्ती कवियों से भी बनाये रक्खा, किन्तु उनकी प्रशंसा और हिन्दी साहित्य में उनका अमर यश उन कविताओं के कारण नहीं है, बल्कि युग की आवश्यकता-पूर्ति के अग्रसर होने वाली उनकी रचनाओं के लिए ही है। उनकी दोनों ढंग की कृतियाँ पाठक देखें:—

[१]

जानि सुजान हौं प्रीतिकरी सहिकै बहुभाँतिन लोग हँसाई।
त्यों हरिचन्द जू जो जो कह्यो सो करयो चुप ह्वै करि कोटि उपाई।
सोई नहीं निबही उनसों उन तोरत बार कछू न लगाई।
साँची भई कहनावतिया अरी ऊँची दुकान की फीकी मिठाई। १।
क्यों इन कोमल गोल कपोलन देखि गुलाब को फूल लजायो।
त्यों हरिचन्द जू कंचन सो तन क्यों सुकुमार सबै अँगभायो।
अमृत से युग ओठ लसैं मृदु पल्लव सों कर क्यों है सुहायो।
पाहन सो मन होत सबै अँग कोमल क्यों करतार बनायो। २।

[२]

सब भाँति दैव प्रतिकूल होइ एहि नासा।
अब तजहु वीरवर भारत की सब आसा।
अब सुख सूरज को उदय नहीं इत ह्वै है।
सो दिन फिर इत सपने हूँ नहि ऐहै।
स्वाधीनपनो बल धीरज सबै नसै है।
मंगलमय भारत महि मसान ह्वै जैहै।
दुख ही दुख करि है चारहुँ ओर प्रकासा।
अब तजहु बीर वर भारत की सब आसा।
इत कलह विरोध सबन के हिय घर करि है।
मूरखता को तम चारहुँ ओर पसरि है।
वीरता एकता ममता दूर सिधरि है।
तजि उद्यम सबही दास-वृत्ति अनुसरि है।
ह्वै जै हैं चारहु बरन शूद्र बनि दासा।
अब तजहु वीरवर भारत की सब आसा।

बाबू हरिश्चन्द्र के समकालीन कवियों में पं० बदरीनारायण चौधरी प्रेमघन और पं० प्रतापनारायण मिश्र तथा उनके बाद के कवियों में

श्रीधर पाठक प्रसिद्ध थे। इन कवियों ने समय की पुकार पर ध्यान देकर समाज के सद्विचारों को प्रेरणा प्रदान करने वाली कविताएँ लिखी हैं। इनकी इस ढंग की एक एक कविता यहाँ अवलोकनार्थ दी जाती है:—

१—"बीती जो भूलो उसको सँभलो अब तो आगे से।
मिलो परस्पर सब भाई बँध एक प्रेम-धागे से।
आर्य्यवंश को करो एक अब द्वैत भेद बिसराओ।
मन वच कर्म एक हो वेद विदित आदर्श दिखाओ।
सत्य सनातन धर्म्म ध्वजा हो निश्चल गगन उड़ाओ।
श्रौत स्मार्त्त कर्म्म अनुशासन के दुन्दुभी बजाओ।
फूँको शंख अनन्य भक्त हरि ज्ञान प्रदीप जलाओ।
जगत प्रशंसित आर्य्यवंश जय जय की धूम मचाओ।"
पं० बदरीनारायण चौधरी।

२—"तब लखि हो जहँ रह्यो एक दिन कंचन बरसत।
तहँ चौथाई जन रूखी रोटिहुँ कहँ तरसत।
जहँ आमन की गुठली अरु बिरछन की छालैं।
ज्वार चून महँ मेलि लोग परिवारहि पालैं।
नोन तेल लकरी घासहुँ पर टिकस लगे जहँ।
चना चिरौंजी मोल मिलैं जहँ दीन प्रजा कहँ।
जहाँ कृषी वाणिज्य शिल्प सेवा सब माहीं।
देशिन को हित कछू तत्व कहुँ कैसेहुँ नाहीं।
कहिय कहाँ लगि नृपति दवे हैं जहँ रिन भारन।
तहँ तिनकी धन कथा कौन जे गृही सधारन।"
—पं० प्रतापनारायण मिश्र।

३—"जहाँ मनुष्यों को मनुष्य अधिकार प्राप्त नहिं।
जन जन सरल सनेह सुजन व्यवहार व्याप्त नहिं।

निर्धारित नर नारि उचित उपचार आप्त नहिं।
कलि मल मूलक कलह कभी होवै समाप्त नहिं।
वह देश मनुष्यों का नहीं, प्रेतों का उपवेश है।
नित नूतन अघ उद्देश थल भूतल नरक निवेश है।"
—पं० श्रीधर पाठक।

उक्त तीन कवियों की कविताएँ अन्य विषयों पर भी हैं, परन्तु भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के उत्तरकालीन कवियों की यह एक विशेषता है कि प्रायः सबने देश और समाज से सम्बन्ध रखने वाले विषयों पर कविता की है। सामाजिक परिस्थिति ने कवियों के मन पर इतना अधिकार प्राप्त कर लिया था कि नये नये रोचक साधन ढूँढ़ कर वे समाज के प्रति व्यंगवृष्टि करना अपना धर्म्म समझते थे। पं० नाथूराम शंकर शर्म्मा ने, जिनका हाल ही में शोकजनक शरीरावसान हो गया है, श्रीकृष्ण की कल्पना विचित्र वेष-भूषा-धारिणी मूर्त्ति के रूप में की थी। उनकी यह कल्पना मनोरंजक तो है ही, साथ ही उससे आधुनिक कवियों की समाज-संशोधन-लालसा भी प्रकट होती है। पाठक नीचे की पंक्तियाँ देखें :—

"हे वैदिक दल के नर नामी,
हिन्दू मण्डल के करतार।
स्वामि सनातन सत्य धर्म्म के,
भक्ति भावना के भरतार।

सुत वसुदेव देवकी जी के,
नन्द यशोदा के प्रिय लाल।
चाहक चतुर रुक्मिणी जी के,
रसिक राधिका के गोपाल।

ऊँचे अगुआ यादव कुल के,
वीर अहीरों के सिरमौर।

दुविधा दूर करो द्वापर की,
ढालो रंग ढंग अब और।
भडक भुला दो भूत काल की,
सजिए वर्तमान के साज।
फैसन फेर इण्डिया भर के,
गोरे गाड बनो ब्रजराज।
गौर वर्ण वृषभानु सुता का,
काढ़ो काले तन पर तोप।
नाथ उतारो मोर मुकुट को,
सिर पै सजो साहिबी टोप।
पौडर चन्दन पोछ लपेटो,
आनन की श्री ज्योति जगाय।
अंजन अँखियों में मत आँजो,
आला ऐनक लेहु लगाय।
रबधर कानों में लटका लो,
कुण्डल काढ़ मेकरा फून।
तज पीताम्बर कम्बल काला,
डाटो कोट और पतलून।
पटक पादुका पहनो प्यारे,
बूट इटाली का लुकदार।
डालो डबल वाच पाकट में,
चमके चेन कञ्चनी तार।
रख दो गाँठ गठीली लकुटी,
छाता बेत बगल में मार।
मुरली तोड मरोड़ बजाओ,
बाँकी बिगुल सुने संसार।

वैनतेय तज व्योमयान पै,
करिए चारों ओर विहार।
फक फक फूँ फूँ फूँको चुरटें,
उगले गाल धुआँ की धार।
यों उत्तम पदवी फटकारो,
माधो मिस्टर नाम धराय।
बाँटो पदक नई प्रभुता के,
भारत जाति-भक्त हो जाय।"

पाठक ने उस वातावरण और परिस्थिति से परिचय प्राप्त कर लिया जिसमें हिन्दी कवियों का जीवन अग्रसर हो रहा था। उनके व्यक्तित्व और प्रतिभा में वह गंभीरता न थी जो काल के प्रभाव को पराजित करके ऐसी रचनाओं की सृष्टि करती, जिनमें कला के सुन्दर नेत्रों द्वारा चरम सत्य का दर्शन किया जाना संभव होता है। उनकी दृष्टि सीमित थी और उन्होंने साधारण चित्रों ही का अंकन किया; वे समय के प्रवाह में चल पड़े। कुछ समय तक तो श्रीकृष्ण का आलम्बन त्याग कर तथा 'भारत' को अपनी कविता का विषय बनाकर अनेक हिन्दी कवियों ने अत्यन्त नीरस रचनाएँ हिन्दी साहित्य के क्षेत्र में प्रस्तुत की; जिनकी निकृष्टता का प्रमाण यह है कि आज उन कविताओं के संग्रहों को कोई पूछता नहीं। इन्हीं कवियों का रचना-काल वंग भाषा के उज्ज्वल रत्न महाकवि रवीन्द्रनाथ टैगोर का भी रचना-काल है। उन्होंने निस्सन्देह श्रीकृष्ण को अपने काव्य का आलम्बन नहीं बनाया है, इसलिए हिन्दी कृष्ण-काव्य-कारों के साथ उनकी तुलना करने में विशेष सुविधा नहीं हो सकती। लेकिन यदि हम इस नाम के आवरण को पृथक् करके भीतर प्रवेश करें तो यह कठिनाई भी दूर हो जायगी। हमें इस तुलना के लिए श्रीकृष्ण के केवल उस विराट् स्वरूप का स्मरण करना चाहिए जो गीता में इस प्रकार अंकित है। अर्जुन कहते हैं:—

१
त्वमक्षरं परमं वेदितव्यं त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम्।
त्वमव्ययः शाश्वत धर्मगोप्ता सनातनस्त्वं पुरुषो मतो मे।
अनादिमध्यान्त मनन्तवीर्य मनन्तबाहुं शशिसूर्य्यनेत्रम्।
पश्यामि त्वां दीप्त हुताश वक्त्रं स्वतेजसा विश्व मिदं तपन्तम्।
२
यथा नदीनाम् बहवोऽम्बुवेगाः समुद्रमेवाभिमुखा द्रवन्ति।
तथा तवामी नरलोक वीरा विशन्ति वक्त्राण्यभिज्वलन्ति।
३
यथा प्रदीप्तं ज्वलनं पतंगा विशन्ति नाशाय समृद्धवेगाः।
तथैव नाशाय विशन्ति लोकास्तवापि वक्त्राणि समृद्धवेगाः।
४
आख्याहि मे को भवानुग्ररूपो नमोऽस्तुते देववर प्रसीद।
विज्ञातुमिच्छामि भवन्तमाद्यं न हि प्रजानामि तव प्रवृत्तिम्।"

१—आपको मैं जानने योग्य परम अक्षर रूप, इस जगत का अन्तिम आधार, सनातन धर्म का अविनाशी रक्षक, और सनातन पुरुष मानता हूँ—जिसका आदि, मध्य, या अन्त नहीं है, जिसकी अनन्त शक्ति है, जिसके अनन्त बाहु हैं, जिसके सूर्य्य चन्द्र रूपी नेत्र हैं, जिनका मुख प्रज्वलित अग्नि के समान है, और जो अपने तेज से इस जगत् को तपा रहा है ऐसे आपको मैं देख रहा हूँ।

२—जिस प्रकार नदियों की बड़ी धार समुद्र की ओर दौड़ती है, उस प्रकार आपके धधकते हुए मुख में ये लोक-नायक प्रवेश कर रहे हैं।

३—जैसे पतंग अपने नाश के लिए बढ़ते वेग से जलते हुए दीपक में कूदते हैं वैसे आपके मुख में भी सब लोग बढ़ते हुए वेग से प्रवेश कर रहे हैं।

४—उग्ररूप आप कौन हैं सो मुझसे कहिए। हे देववर! आप प्रसन्न होइए। आप जो आदि कारण हैं, उन्हें मैं जानना चाहता हूँ। आपकी प्रवृत्ति मैं नहीं जानता।

इन्हीं तत्त्वों से गोस्वामी तुलसीदास जी के श्रीरामचन्द्र की विराट कल्पना का निर्माण हुआ है :—

"कहै भुशुंडि सुनहु खगनायक।
राम चरित सेवक सुखदायक।
नृप मन्दिर सुन्दर सब भाँती।
खचित कनक मणि नाना जाती।
बाल विनोद करत रघुराई।
बिचरत अजिर जननि सुखदाई।
मरकत मृदुल कलेवर श्यामा।
अंग अंग प्रति छवि बहु कामा।
नव राजीव अरुण मृदु चरणा।
पद पंकज नख शशि द्युति हरणा।
ललित अंक कुलिशादिक चारी।
नूपुर चारु मधुर रव कारी।
चारु पुरट मणि रचित बनाई।
कटि किंकिणि कल मुखर सुहाई।
अरुण पाणि नख करज मनोहर।
बाहु विसाल विभूषन सोहर।
स्कंध बाल केहरि पर ग्रीवा।
चारु चिबुक आनन छवि सींवा।

× × ×

मोसन करहिं विविधि विधि क्रीड़ा।
बरनत चरित होति मन ब्रीड़ा।
प्राकृत शिशु इव लीला देखि भयहु मोहि मोह।
कवन चरित्र करत प्रभु, चिदानन्द सन्दोह ॥
भ्रमते चकित राम मोहि देखा।
विहँसे सो सुनु चरित विसेखा।

तेहि कौतुक कर मर्म्म न काहू ।
जाना अनुज न मातु पिताहू ।
जानु पाणि धाये मोहिं धरना ।
श्यामल गात अरुण कर चरना ।
तब मैं भागि चलेउँ उरगारी ।
राम गहन कहँ भुजा पसारी ।
जिमि जिमि दूरि उड़ाउँ अकासा ।
तिमि तिमि भुज देखौं निज पासा ।
मूँदेउँ नयन चकित जब भयऊँ ।
पुनि चितवत कोसलपुर गयऊँ ।
मोहिं बिलोकि राम मुसुकाहीं ।
बिहँसत तुरत गयउँ मुख माँहीं ।
उदर माँझ सुनु अंडजराया ।
देखहुँ बहु ब्रह्मण्ड निकाया ।
अति विचित्र तहँ लोक अनेका ।
रचना अधिक एक तें एका ।
कोटिन चतुरानन गौरीसा ।
अगणित उडुगण रवि रजनीसा ।
अगणित लोक पाल यमकाला ।
अगणित भूधर भूमि बिशाला ।
सागर सरिता बिपिन अपारा ।
नाना भाँति सृष्टि बिस्तारा ।
लोक लोक प्रति भिन्न बिधाता ।
भिन्न विष्णु शिव मुनि दिशित्राता ।
नर गंधर्व भूत बैताला ।
किन्नर निसिचर पशु खग ब्याला ।
देव दनुज गण नाना जाती ।
सकल जीव तहँ आनहिं भाँती ।

महि सर सागर सरि गिरि नाना।
सब प्रपंच तहँ आनइ आना।
अंडकोस प्रति प्रति निज रूपा।
देखेउँ जिनिस अनेक अनूपा।
अवधपुरी प्रति भुवन निहारी।
सरजू भिन्न भिन्न नर नारी।
दशरथ कौशल्यादिक माता।
विविध रूप भरतादिक भ्राता।
प्रति ब्रह्माण्ड राम अवतारा।
देखेउँ वाल बिनोद उदारा।

भिन्न भिन्न सब देखेउँ, अति विचित्र हरियान।
अगणित देखत फिरेउँ मैं, राम न देखेउँ आन।

अब रवीन्द्र बाबू की निम्नलिखित रचनाएँ पाठक देखें:—

१—"मैं भिखारिणी झोली फैला भीख माँगती थी पथ पर।
तुम निकले थे उसी समय में अपने सोने के रथ पर।
मेरी आँखों को लगती थीं सपने की सी वे घड़ियाँ।
तेरी शोभा शुभ सिंगार तव मोती की वे सब लड़ियाँ।

× × ×

देख तुम्हारी दिव्य ज्योति में भूल गयी दुख की बातें।
ठंडी हुईं व्यथाएँ मेरी विस्मृत हुईं विकट रातें।
इसी समय में ज्ञात नहीं क्यों सहसा तुमने यों कह कर।
'मुझको कुछ भिक्षा दो'—झट से फैलाया निज कोमल कर।
कैसी छलना है राजेश्वर यह तुमने क्या बात कही?
हो विमूढ़ सी मैं कुछ क्षण तक अवनत सिर से स्तब्ध रही।
तुम स्थिर थे, मैंने दुविधा से ले छोटा सा कण कर में।
दे दी तुमको भिक्षा प्यारे चले गये तुम क्षण भर में।

घर आ मैंने झोली खोली देखा होकर अन्य मना।
यह क्या चमक रहा है क्या यह देख रही हूँ मैं सपना?
अन्य भीख के बीच पड़ा था छोटा सा सोने का कण?
राज भिक्षु को दिया कण वह सोना हो लौटा तत्क्षण?"

२—"जब तुम मुझे गाने की आज्ञा देते हो तब ऐसा जान पड़ता है जैसे मेरा हृदय गर्व से भग्न हो जायगा; और मैं तुम्हारे मुख की ओर देखता हूँ और मेरी आँखों में आँसू भर आते हैं।

मेरे जीवन में जो कुछ कठोर और बेसुरा है वह एक दिव्य संगीत के रूप में प्रवाहित हो जाता है और मेरा श्रद्धाभाव, समुद्र के उस पार उड़ कर जाने वाले आह्लादित पक्षी की तरह पंख फैला देता है।

मैं जानता हूँ कि मेरे गाने में तुम्हें आनन्द आता है। मैं जानता हूँ कि मैं गायक-रूप ही में तुम्हारे सामने उपस्थित होता हूँ।

मैं तुम्हारे चरणों को जहाँ तक मेरी पहुँच असम्भव थी अपने गान के दूर तक फैले हुए छोर को छू लेता हूँ।

गान के आनन्द से उनमत्त होकर मैं तुम्हें, जो मेरे स्वामी हो, अपना मित्र कहता हूँ।"

उक्त पंक्तियों से स्पष्ट है कि महाकवि रवीन्द्र पर भारतीय समाज के उपरि-लिखित तन्द्रामय जीवन का कोई प्रभाव नहीं, उलटे उनका व्यक्तित्व, उनकी प्रतिभा वह शक्ति रखती है जो सामाजिक भावना-शैथिल्य और बुद्धि के आलस्य-बन्धनों को तोड़ दे। काल ने उन पर भी अपना अस्त्र चलाया। किन्तु वे सजग और आत्म-रक्षा में समर्थ बने रहे। सुव्यवस्थित-चित्त रह कर उन्होंने काव्य के क्षेत्र में सत्य के स्वरूप को अभिव्यक्ति प्रदान की।

हिन्दी को इतनी प्रखर प्रतिभा से सम्पन्न किसी कवि का सहयोग नहीं प्राप्त हुआ। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र से लेकर पं० श्रीधर पाठक तक प्रायः सभी कवियों का दृष्टिकोण परिमित क्षेत्र के भीतर ही आबद्ध रहा। श्रीकृष्ण को आलम्बन मान कर अथवा बिना माने नारी-सौन्दर्य्य का जो

विकारग्रस्त अंकन भारतेन्दु के पूर्ववर्त्ती भक्तेतर कवियों ने किया था और जिसका प्रभाव भारतेन्दु के रचना-काल तक निःशेष नहीं हुआ था उसमें स्वास्थ्यकर परिवर्तन उपस्थित करना अब हिन्दी कवि-प्रतिभा के लिए आवश्यक हो गया था, नहीं तो उसका दीवाला निकल जाने में कोई कसर नहीं रह गयी थी। मैं ऊपर कह आया हूँ, देशानुरागतत्व का हिन्दी काव्य-क्षेत्र में प्रवेश करा कर भारतेन्दु ने कवियों का ध्यान देश-वासियों की दुःखित अवस्था की ओर फेरा। इस नवीन विषय की उपयोगिता में एक बाधा थी, देशभक्ति हिन्दू-समाज में एक नवीन बात थी। हिन्दू-समाज का संगठन अधिकतर आध्यात्मिक और धार्मिक आधारों पर होने के कारण उससे तत्काल कोई इस नवीन तत्व की स्वीकृति की दिशा में कोई विशेष प्रोत्साहनपूर्ण स्वागत नहीं प्राप्त हुआ। इसके अतिरिक्त जिस मानव-पीड़ा का सहारा लेकर कविगण करुणरस का परिपाक करते थे उसे जनता को हृदयंगम कराना इसलिए कठिन हो रहा था कि उसके आलम्बन का कोई प्रत्यक्ष अनुभव उसे नहीं था। दूसरी कठिनाई यह थी कि भारतवर्ष की पतित अवस्था के दिग्दर्शन में करुणरस के परिपाक द्वारा या तो पाठकों के मन में परिस्थिति की प्रबलता के सामने उनकी परवशता का भाव उत्पन्न किया जाता या जिनके कारण वह परिस्थिति सामने है उनके प्रति रोष का संचार होता। भारत के सम्बन्ध में जिस उत्साह की सृष्टि हमारे कवियों ने की वह स्वभावतः अपने क्रिया-कलाप के लिए उपयुक्त क्षेत्र ढूँढ़ने लगा। परन्तु तुकबन्दी ही को कविता समझने वाले अथवा भाषा-विकास ही के प्रयत्न में अपनी सम्पूर्ण शक्ति को व्यय करने वाले कवियों ने गम्भीर कला के उपकरणों को समझने की ओर ध्यान नहीं दिया। पं० श्रीधर पाठक में अच्छी कविता करने की शक्ति थी; पं० बदरीनारायण चौधरी, पं० प्रतापनारायण मिश्र, पं० विजयानन्द त्रिपाठी, पं० अम्बिकादत्त व्यास आदि की अपेक्षा उन्हें खड़ी बोली, जिसमें भावी महत्ता के समस्त लक्षण स्पष्ट रूप में दिखायी पड़ रहे थे, अधिक परिमार्जित और सरस रूप में भी मिली

थी। किन्तु सरकारी नौकरी से पेंशन लेने पर वे भारत-गीतों की झाड़ी में ऐसे उलझे कि उससे उनका अन्त समय तक उद्धार नहीं हो सका; उनका ध्यान देशवासियों के हृदयों में नव-जात स्फूर्त्ति को कला का सहारा देकर अधिक प्रगाढ़ और शक्तिमती बनाने की ओर नहीं गया। ऐसी स्थिति में इसके अभाव से व्याकुल हिन्दी की भारत-सम्बन्धिनी संतप्त कविताएँ अस्थि-पञ्जरावशिष्ट शरीर की भाँति अपनी दयनीयता की कहानी आप ही कह रही थीं।

जिस समय हिन्दी-भाषी समाज के सम्मुख यह संकट-काल उपस्थित था, जब साहित्य के क्षेत्र में उसकी साख के सदा के लिए नष्ट हो जाने का भय विकट रूप धारण कर रहा था उसी समय उसके सूखते शरीर में रस की संचारिका किसी श्याम घटा का संदेश लेकर शीतल पवन ने प्रवेश किया। इस शीतल पवन का प्रवाहन-कार्य्य हरिऔध जी ने किया। रस-कलस की कविताओं में श्रीकृष्ण का जो चित्र अंकित हुआ है उसे दृष्टि में रखकर मैं ऐसा नहीं कह रहा हूँ, यहाँ मेरा संकेत 'प्रिय-प्रवास' में अंकित श्रीकृष्ण की ओर है। फिर भी प्रसंगवश यहाँ इतना कह देना आवश्यक है कि 'रस-कलस' की समस्त कविताओं में राधा और कृष्ण का नाम नहीं आया है; कहीं कहीं ही हरिऔधजी अपने पूर्ववर्त्ती कवियों का अनुकरण करते देख पड़ते हैं, और इनमें से अनेक स्थल तो नाममात्र के लिए नायिका-भेद विषयक ग्रन्थ की सर्वांग-पूर्ति ही के उद्देश्य से आये हैं। अतएव यदि हम इन्हें अपवाद रूप में ग्रहण कर लें तो 'रस-कलस' की लोक-प्रेमिका, देश-प्रेमिका, जाति-प्रेमिका और परिवार-प्रेमिका, नायिकाएँ ठेठ हिन्दी का ठाट की देवबाला और अधखिला फूल की देवहूती की श्रेणी में आकर अनायास ही प्रिय-प्रवास की राधा का स्वागत करने के लिए तैयार हो जाती हैं। कुछ ऐसा संयोग हुआ कि ब्रह्मसमाज और आर्य-समाज द्वारा उत्पन्न किये हुए बौद्धिक वातावरण ने हरिऔध जी को श्रीकृष्ण के प्रति अपनी पूर्व प्रवृत्ति में रहा-सहा संशोधन स्वीकार करने के लिए प्रेरित किया और वे उन्हें न परब्रह्म

के रूप में अंकित करने के पक्ष में रह गये और न परकीया नायिका के उपपति के रूप में। निस्सन्देह, उन्होंने अपने अनेक पूर्ववर्त्ती तथा समस्त समकालीन कवियों की अपेक्षा श्रीकृष्ण का अधिक सुन्दर चित्र अंकित किया, नारी-सौन्दर्य्य के विकार-ग्रस्त, तथा देशभक्ति के नीरस चित्रों को निष्प्रभ कर दिया, और सरल कल्पना-द्वारा श्रीकृष्ण के अति रंजित देव-जीवन का मानवता के साथ सामंजस्य किया। किन्तु यह तो निर्विवाद है कि तुलसीदास ने श्रीरामचन्द्र का जैसा रूप अंकित किया है, उससे हरिऔध जी के श्रीकृष्ण का स्थान भिन्न प्रकार का है। यहाँ इतना ही कथन पर्य्याप्त है कि हरिऔध जी ने देश-जाति-हित के तत्कालीन भावों को हृदयंगम कर इस शताब्दी के आरम्भ काल में उन्हें कलात्मक अभिव्यक्ति प्रदान की चेष्टा की। उनका यह मानसिक परिवर्तन स्पष्ट करने के लिए मैं नीचे उनकी लिखी, कतिपय पंक्तियाँ उद्धृत करता हूँ, जो मेरे पास आये हुए उनके एक पत्र से ली गयी हैं :—

"काल पाकर मेरी दृष्टि व्यापक हुई, मैं स्वयं सोचने विचारने और शास्त्र के सिद्धान्तों को मनन करने लगा। उसीके फलस्वरूप मेरे पश्चाद्वर्त्ती और आधुनिक काव्य हैं। भगवान् कृष्णचन्द्र में अब भी मुझको श्रद्धा है, किन्तु वह श्रद्धा अब संकीर्णता, एकदेशिता और अकर्मण्यता-दोष-दूषिता नहीं है। ईश्वर एकदेशीय नहीं है, वह सर्व-व्यापक और अपरिच्छिन्न है, उसकी सत्ता सर्वत्र वर्तमान है, प्राणिमात्र में उसका विकास है—सर्वं खल्विदं ब्रह्म नेह ना नास्ति किंचन, जिस प्राणी में उसका जितना विकास है, वह उतना ही गौरवगरिष्ट है, उतना ही महिमामय है, उसमें उतनी ही अधिक उसकी सत्ता विराज-मान है। मानव प्राणी-समूह का शिरोमणि है, उसमें ईश्वरीय सत्ता समस्त प्राणियों से समधिक है। इसलिए वह प्राणि-श्रेष्ठ है, 'अशरफुल मख़लूक़ात है'। अतएव मानवता का चरम विकास ही ईश्वरत्व की प्राप्ति है—यही अवतारवाद है। भगवद्गीता का वचन है :—

'प्रियप्रवास' के श्रीकृष्ण

'प्रियप्रवास' में हरिऔध जी ने श्रीकृष्ण का जैसा चित्रण किया है उससे हिन्दी के पूर्ववर्त्ती साहित्य के एक बहुत बड़े अभाव की पूर्त्ति हो जाती है। यद्यपि मैं यह कह आया हूँ कि बुद्धिवाद के प्रभाव से हरिऔध जी की अन्तर्दृष्टि के सामने श्रीकृष्ण का वह स्वरूप नहीं रहने पाया जिसे हमारी आध्यात्मिक संस्कृति ने शताब्दियों से हिन्दू-समाज को प्रदान कर रक्खा था, तथापि जिस आदर्श महापुरुष की कल्पना और जीवन में शक्ति तथा माधुर्य्य भरने वाली सौन्दर्य्य-सृष्टि की प्रतीक्षा समाज शताब्दियों से कर रहा था, उसे प्रसव कर हरिऔध जी की प्रतिभा ने वास्तव में जननी का काम किया। कवियों द्वारा अंकित कृष्ण-चरित्र की असंगतियों से, बहेलिये को देख कर डरे हुए पक्षी की तरह, जहाँ चित्त घबराने लगता है, उसे वहाँ हरिऔध जी के श्रीकृष्ण का दर्शन करके शान्ति और विश्राम का भवन अथवा घोंसला न सही, फुदकने और जी बहलाने के लिए किसी सम्राट् की विहार-वाटिका के किसी पेड़ की डाली तो मिल ही जाती है।

हरिऔध जी ने श्रीकृष्ण की मनोहारिणी आकृति का इस प्रकार वर्णन किया है :—

'अतसि पुष्प अलंकृत कारिणी।
सुछवि नील सरोरुह वर्द्धिनी।
नवल सुन्दर श्याम शरीर की।
सजल नीरद सी कल कान्ति थी।
अति समुत्तम अंग-समूह था।
मुकुर मंजुल औ मन भावना।

सतत थी जिसमें सुकुमारता।
सरसता प्रतिबिम्बित हो रही।
विलसता कटि में पट पीत था।
रुचिर वस्त्र-विभूषित गात था।
लस रही उर में बनमाल थी।
कल दुकूल अलंकृत कंध था।
मकर-केतन के कल केतु से।
लसित थे वर कुण्डल कान में।
घिर रही जिनके सब ओर थी।
विविध भावमयी अलकावली।
मुकुट था शिर का शिखि पुच्छ का।
अति मनोहर मंडित माधुरी।
असित रत्न समान सुरंजिता।
सतत थी जिसकी वर चन्द्रिका।
विशद उज्वल उन्नत भाल में।
विलसती कल केसर खौर थी।
असित पंकज के दल में लसे।
रज सुरंजित पीत सरोज ज्यों।
मधुरिमा मय था मृदु बोलना।
अमिय-सिंचित सी मुसुकानि थी।
समद थी जन-मानस मोहती।
कमल लोचन की कमनीयता।
सबल जानु बिलम्बित बाहु थी।
अति सुपुष्ट समुन्नत वक्ष था।
वय किशोर कला लसितांग था।
मुख प्रफुल्लित पद्म समान था।

सरस राग समूह सहेलिका ।
सहचरी सब मोहन मंत्र की ।
रसिकता-जननी कल नादिनी ।
मुरलि थी कर में मधु वर्षिणी ।

छलकती मुख पै छविपुंजता ।
छिटिकती छिति पै तन की छटा ।
बगरती बर दीप्ति दिगन्त में ।
छितिज की छनदाकर कान्ति सी ।"

इस शारीरिक सौन्दर्य्य के अतिरिक्त उनका हृदय अनेक महान् गुणों का निवास-स्थान था:—

"बातें बड़ी सरस थे कहते बिहारी ।
छोटे बड़े सकल का हित चाहते थे ।
अत्यन्त प्यार सँग थे मिलते सबों से ।
वे थे सहायक बड़े दुख के दिनों में ।

वे थे विनम्र बन के मिलते बड़ों से ।
थे बातचीत करते बहु शिष्टता से ।
बातें विरोधकर थीं उनको न प्यारी ।
वे थे न भूल कर भी अप्रसन्न होते ।

थे प्रीति साथ मिलते सब बालकों से ।
थे खेलते सकल खेल विनोदकारी ।
नाना अपूर्व फल फूल सदा खिला के ।
वे थे विनोदित महा उनको बनाते ।

जो देखते कलह शुष्क विवाद होता ।
तो शान्त श्याम उसको करते सदा थे ।
कोई बली निबल को यदि था सताता ।
तो वे तिरस्कृत किया करते उसे थे ।

होते प्रसन्न, यदि वे यह देखते थे।
कोई स्वकृत्य करता अति प्रीति से है।
यों ही विशिष्ट पद-गौरव की उपेक्षा।
देती नितान्त उनके चित्त को व्यथा थी।
माता पिता गुरुजनों वय में बड़ों को।
होते निरादृत कहीं यदि देखते थे।
तो खिन्न हो, दुखित हो लघु को सुतों को।
शिक्षा-समेत बहुधा बहु शास्ति देते।
थे राजपुत्र उनमें मद था न तो भी।
वे दीन के सदन थे अधिकांश जाते।
बातें मनोरम सुना दुख जानते थे।
औ थे विमोचन उसे करते कृपा से।
रोगी, दुखी, विपद आपद में पड़े को।
सेवा अनेक करते निज हस्त से थे।
ऐसा निकेत व्रज में न मुझे दिखाया।
कोई जहाँ दुखित हो पर वे न होवें।
थोड़ी अभी यदपि है उनकी अवस्था।
तो भी नितान्त रत वे इस कर्म्म में हैं।"

महावृष्टि के कारण जब व्रज पर बड़ी भारी विपत्ति आयी थी, उस समय उन्होंने स्वयंसेवक का काम किया था—

"पहुँचते वह थे उस गेह में।
जन अकिंचन थे रहते जहाँ
कर सभी सुविधा बहु भाँति की।
वह उन्हें रखते गिरि अंक में
परम वृद्ध असम्बल लोक को।
दुखमयी विधवा रुज ग्रस्त को।

वन सहायक थे पहुँचा रहे।
गिरि सुगह्वर में बहु यत्न से।

× × ×

परम सिक्त हुआ वपु वस्त्र था।
गिर रहा शिर ऊपर वारि था।
लग रहा अति उग्र समीर था।
पर विराम न था ब्रजबन्धु को।
पहुँचते वह थे शर वेग से।
विपद संकुल आकुल ओक में।
तुरत थे करते वह नाश भी।
प्रथित वीर समान विपत्ति का।

× × ×

प्रकृति सात दिनों तक क्रुद्ध थी।
कुछ प्रभेद हुआ न प्रकोप में।
पर सयत्न रहे वह पूर्व लौं।
तनिक क्लान्ति हुई न ब्रजेन्द्र को।

यमुना में से भुजंग निकालने के लिए उन्होंने संकल्प किया था :—

"अतः करूँगा यह कार्य्य मैं स्वयं।
स्वहस्त में प्राण स्वकीय को लिए।
स्वजाति औ जन्म धरा निमित्त मैं।
न भीत हूँगा इस काल सर्प से।
सदा करूँगा अपमृत्यु सामना।
सभीत हूँगा न सुरेन्द्र वज्र से।
कभी करूँगा अवहेलना न मैं।
प्रधान धर्म्मांग परोपकार को।

प्रवाह होते तक शेष श्वास के।
सरक्त होते तक एक भी शिरा।
सशक्त होते तक एक लोम के।
किया करूँगा हित भूत मात्र का।"

अग्नि की ज्वाला में ग्वालों को भस्म होते देख कर उन्होंने जातीय प्रेम के भावों को जगाया था :—

"विपत्ति से रक्षण सर्व भूत का।
सहाय होना असहाय जीव का।
उबारना संकट से स्वजाति का।
मनुष्य का सर्व प्रधान कृत्य है।
बिना न त्यागे ममता स्वप्राण की।
बिना न जोखों ज्वलदग्नि में पड़े।
न हो सका विश्व महान कार्य्य है।
न सिद्ध होता भव जन्म हेतु है।

× × ×

बढ़ो करो वीर स्वजाति का भला।
अपार दोनों विध लाभ है हमें।
किया स्वकर्त्तव्य उबार जो लिया।
सुकीर्त्ति पायी यदि भस्म हो गये।
शिखाग्नि से वे सब ओर हैं घिरे।
बचा हुआ एक दुरूह पन्थ है।
परन्तु होगी यदि स्वल्प देर तो।
अगम्य होगा यह शेष पन्थ भी।
अतः न है और विलम्ब में भला।
प्रवृत्त हो शीघ्र स्वकार्य में लगो।

वन सहायक थे पहुँचा रहे।
गिरि गुहा र में बहु यत्न से।

× × ×

परम सिक्त हुआ वपु वस्त्र था।
गिर रहा शिर ऊपर वारि था।
लग रहा अति उग्र समीर था।
पर विराम न था ब्रजबन्धु को।
पहुँचते वह थे शर वेग से।
विपद संकुल आकुल ओक में।
तुरत थे करते वह नाश भी।
प्रथित वीर समान विपत्ति का।

× × ×

प्रकृति सात दिनों तक क्रुद्ध थी।
कुछ प्रभेद हुआ न प्रकोप में।
पर सयत्न रहे वह पूर्व लौं।
तनिक क्लान्ति हुई न ब्रजेन्द्र को।

यमुना में से भुजंग निकालने के लिए उन्होंने संकल्प किया था :—

"अतः करूँगा यह कार्य्य मैं स्वयं।
स्वहस्त में प्राण स्वकीय को लिए।
स्वजाति औ जन्म धरा निमित्त मैं।
न भीत हूँगा इस काल सर्प से।
सदा करूँगा अपमृत्यु सामना।
सभीत हूँगा न सुरेन्द्र वज्र से।
कभी करूँगा अवहेलना न मैं।
प्रधान धर्मांग परोपकार की।

प्रवाह होते तक शेष श्वास के।
सरक्त होते तक एक भी शिरा।
सशक्त होते तक एक लोम के।
किया करूँगा हित भूत मात्र का।"

अग्नि की ज्वाला में ग्वालों को भस्म होते देख कर उन्होंने जातीय प्रेम के भावों को जगाया था:—

"विपत्ति से रक्षण सर्व भूत का।
सहाय होना असहाय जीव का।
उबारना संकट से स्वजाति का।
मनुष्य का सर्व प्रधान कृत्य है।
बिना न त्यागे ममता स्वप्राण की।
बिना न जोखों ज्वलदग्नि में पड़े।
न हो सका विश्व महान कार्य्य है।
न सिद्ध होता भव जन्म हेतु है।

× × ×

बढ़ो करो वीर स्वजाति का भला।
अपार दोनों विध लाभ है हमें।
किया स्वकर्त्तव्य उबार जो लिया।
सुकीर्ति पायी यदि भस्म हो गये।
शिखाग्नि से वे सब ओर हैं घिरे।
बचा हुआ एक दुरूह पन्थ है।
परन्तु होगी यदि स्वल्प देर तो।
अगम्य होगा यह शेष पन्थ भी।
अतः न है और विलम्ब में भला।
प्रवृत्त हो शीघ्र स्वकार्य में लगो।

सधेनु के जो न इन्हें बचा सके।
धरा रहेगी अपकीर्त्ति तो सदा।

× × ×

स्व-साथियों की यह देख दुर्दशा।
प्रचण्ड दावानल में प्रवीर लौं।
स्वयं धँसे श्याम दुरन्त वेग से।
चमत्कृता सी बन मेदिनी बना।

स्वजाति की देख अतीव दुर्दशा।
विगर्हणा देख मनुष्य मात्र की।
विचार के प्राणि समूह कष्ट को।
हुए समुत्तेजित वीर केशरी।

हितैषणा से निज जन्म-भूमि की।
अपार आवेश हुआ ब्रजेश को।
बनीं महा बंक भवें गँठी हुईं।
नितान्त विस्फारित नेत्र हो गये।"

श्रीकृष्ण जंगल में किस उद्देश्य से जाते थे यह भी सुनिए :—

"मुकुन्द थे पुत्र ब्रजेश नन्द के।
गऊ चराना उनका न कार्य्य था।
रहे जहाँ सेवक सैकड़ों वहाँ।
उन्हें भला कानन कौन भेजता।

परन्तु आते वन में समोद वे।
अनन्त ज्ञानार्जन के लिये स्वयं।
तथा उन्हें वांछित थी नितान्त ही।
वनान्त में हिंसक जन्तु-हीनता।

× × ×

मुकुन्द आते जब थे अरण्य में।
प्रफुल्ल हो तो करते विहार थे।
विलोकते थे सुविलास वारिका।
कलिन्दजा के कल कूल पै खड़े।
समोद बैठे गिरि · सानु पै कभी।
अनेक थे सुन्दर दृश्य देखते।
बने महा उत्सुक वे कभी छटा।
विलोकते निर्झर नीर की रहे।
सुवीथिका में कल कुञ्ज पुञ्ज में।
शनैः शनैः थे सविनोद घूमते।
विमुग्ध हो हो वह थे विलोकते।
लता सुपुष्पा मृदुमन्द दूलिता।"

जब श्रीकृष्ण गाय चरा कर घर की ओर लौटते थे तब जिन्होंने उन्हें दिन भर से देखा न था वे दर्शन के लिए व्याकुल होकर बाहर निकलते थे।

"ककुभ-शोभित गोरज बीच से।
निकलते व्रज-वल्लभ यों लसे।
कदन ज्यों करके दिशि कालिमा।
गगन में नलिनी पति राजता।
सुन पड़ा स्वर ज्यों कल वेणु का।
सकल ग्राम समुत्सुक हो उठा।
हृदय-यंत्र निनादित हो गया।
तुरत ही अनियंत्रित भाव से।
बहुयुवा युवती गृह बालिका।
सकल बालक वृद्ध वयस्क भी।
विवश से निकले निज गेह से।
स्वदृग का दुख मोचन के लिए।"

यह नित्य ही का कार्य-क्रम था। परन्तु जैसे प्रत्येक कार्य-क्रम का अन्त निश्चित है वैसे ही इस कार्य-क्रम का अन्त भी आ गया। अक्रूर ने आकर इस लोकोत्तोर आनन्द में विघ्न डाल दिया। कृष्ण जी को साथ लेकर नन्द को कंस की सेवा में उपस्थित होना पड़ा। कृष्ण जी के जाने का दृश्य बड़ा ही हृदय-स्पर्शी था। यद्यपि वे अभी दो ही तीन दिनों के लिए जा रहे थे तथापि कंस की दूषित प्रकृति की धारणा ने सभी के हृदय को नाना प्रकार की आशंकाओं से आन्दोलित कर दिया था और कोई भी यह नहीं चाहता था कि कृष्ण जी जायँ। रात्रि में नन्द की वेदना का पार न था। वे न तो जाना चाहते थे, न कंस की आज्ञा का खुल्लमखुल्ला उल्लंघन ही कर सकते थे—

"सित हुए अपने मुख लोम को।
कर गहे दुख व्यंजक भाव से।
विषम संकट बीच पड़े हुए।
बिलखते चुपचाप व्रजेश थे।
जब कभी बढ़ती उर की व्यथा।
छत कभी वह थे अवलोकते।
टहलते फिरते सविषाद थे।
वह कभी निज निर्जन कक्ष में।"

यशोदा भी विलाप कर रही थीं। उनका विलाप इतना करुण था कि स्वयं रात्रि भी ओस के बहाने चुपचाप आँसू बहा रही थी :—

"विकलता लख के व्रजदेवि की।
रजनि भी करती अनुताप थी।
निपट नीरव ही मिस ओस के।
नयन से गिरता बहु वारि था।"

राधा तथा अन्य गोपियों का भी यही हाल था। वे श्रीकृष्ण को अपना प्रणय-पात्र बना चुकी थीं। राधा ने अपनी सखी से व्याकुल हो कहा :—

"यह सकल दिशाएँ आज रो सी रही हैं।
यह सदन हमारा है हमें काट खाता।
मन उचट रहा है चैन पाता नहीं है।
सघन विपिन में है भागता सा दिखाता।

यह ध्वनि करुणा की फैल सी क्यों गई है।
सब तरु मन मारे आज क्यों यों खड़े हैं।
अवनि अति दुखी सी क्यों हमें है दिखाती।
नभ पर दुख छाया पात क्यों हो रहा है।

सब नभ तल तारे जो उगे दीखते हैं।
यह कुछ ठिठके से सोच में क्यों पड़े हैं।
ब्रज दुख लख के ही क्या हुए हैं दुखारी।
कुछ व्यथित बने से या हमें देखते हैं।"

सवेरा होने पर जब श्रीकृष्ण के प्रयाण की तैयारी हो गयी तब एक वृद्ध ने आकर अक्रूर से कहा :—

"सच्चा प्यारा सकल ब्रज का वंश का है उजाला।
दीनों का है परम धन औ वृद्ध का नेत्र तारा।
बालाओं का प्रिय स्वजन औ बन्धु है बालकों का।
ले जाते हैं सुरतरु कहाँ आप ऐसा हमारा।"

एक वृद्धा बोली :—

"जो रूठेगा नृपति ब्रज का वास ही छोड़ दूँगी।
ऊँचे ऊँचे भवन तज के जंगलों में बसूँगी।
खाऊँगी फूल फल दल को व्यञ्जनों को तजूँगी।
मैं आँखों से अलग न तुझे लाल मेरे करूँगी।
जो लेवेगा नृपति मुझ से दण्ड दूँगी करोड़ों।
लोटा थाली सहित तन के वस्त्र भी बेच दूँगी।

जो माँगेगा हृदय वह तो काढ़ दूँगी उसे भी।
बेटा तेरा गमन मथुरा मैं न आँखों लखूँगी।"

गायें भी जान गयीं कि वृन्दावन की वीथियों में वंसी वजाता फिरने वाला हमारा साँवला सलोना रखवाला कहीं चला जा रहा है। वे

"दौड़ी आयीं निकट हरि के पूँछ ऊँचा उठाये।
खिन्ना दीना विपुल वह थीं वारि था नेत्र लाता।
ऊँची आँखों कमल मुख थीं देखती शंकिता हो।"

काका तूआ को भी पता चल गया कि व्रज अंधकारमय हो जाने वाला है:—

"काका तूआ महर गृह के द्वार का भी दुखी था।
भूला जाता सकल स्वर था उन्मना हो रहा था।
चिल्लाता था अति विकल था औ यही बोलता था।
यों लोगों को व्यथित करके लाल जाते कहाँ हो।"

अन्त में हुआ वही जिसकी लोगों को आशंका थी। कृष्ण जी व्रज को नहीं लौटे, बेचारे नन्द और उनके साथी कृष्ण की बाँसुरी आदि लेकर मन मारे हुए लौटे। कंस तो मारा गया, परन्तु व्रज के निर्धन लोगों का जीवनधन मथुरा की राजनीति रूपी नये कंस के चक्कर में बुरी तरह उलझ गया। श्रीकृष्ण के सामने एक विकट समस्या खड़ी हो गयी। मथुरा के राजनीतिक मामलों में भाग लेना लोक-हित की दृष्टि से अत्यन्त आवश्यक था; उधर व्रज की याद जी से नहीं जाती थी। इन दोनों में किसे स्वीकार करें? उन्होंने व्यक्तिगत सुखों की लालसा को लोक-हित की वेदी पर बलिदान कर दिया। वास्तव में कृष्ण जी 'प्रिय-प्रवास' के जन्मदाता हैं: उसकी कथा रूपी नौका को खेने वाले कर्णधार हैं। जिस दिन उनकी अलौकिकता का परिचय व्रजवासियों को मिला, और जिस दिन वे कृष्ण ऐसा अनमोल रत्न पाकर फूले न समाये, उसी

दिन उन्हें उनके कारण अपार भावी संताप के लिए भी तैयार हो जाना चाहिए था। बात यह है कि 'प्रिय-प्रवास' का आधार न तो कृष्ण का शारीरिक सौन्दर्य है और न ग्रामवासियों को विमुग्ध करने वाली उनकी विचित्र उपकारशीलता और उदारता बल्कि उनकी प्रकृति की उस विस्तारशीलता की प्रवृत्ति जो व्रज के परिमित क्षेत्र में तो व्रज-वासियों के लिए आनन्दवर्द्धक थी और जो उनकी वहाँ की कार्यावली की भी जननी थी, किन्तु जिसकी उत्तरोत्तर प्रगति में उनका दुर्भाग्य अमिट अक्षरों में अंकित सा था। यदि श्रीकृष्ण ने ग्राम-हित से संतोष कर लिया होता तो उन्हें ऐसी कठिनाइयों में न पड़ना पड़ता जिनके कारण वे इच्छा रहते हुए भी व्रज में न आ सकें। यदि उनकी आकांक्षाएँ ग्राम-हित ही तक परिमित रहतीं तो उस अवस्था में भी युवती कुमारियों का उन पर मुग्ध होना संभव था और जिस प्रकार वे व्रज का अनेक आपदाओं से त्राण करते रहे उसे देख कर उन्हें अपना हृदयधन बनाने की उनकी कामना स्वाभाविक ही होती। निस्सन्देह उस कल्पित परिस्थिति में भी राधा और कृष्ण का प्रणय-विकास ज्यों का त्यों हो सकता था, और फिर भी 'प्रिय-प्रवास' की उत्पत्ति की संभावना न रहती। परन्तु यहाँ तो बात ही और थी। जीवन का उद्देश्य ही कुछ और था। गोपियों का प्रबोध करते हुए ऊधो ने श्रीकृष्ण की इस प्रकृति का परिचय इन शब्दों में दिया था—

"वे जी से हैं जगत जन के सर्वथा श्रेय कामी।
प्राणों से है अधिक उनको विश्व का प्रेम प्यारा।
स्वार्थों को औ विपुल सुख को तुच्छ देते बना हैं।
जो आ जाता जगत-हित है सामने लोचनों के।
हैं योगी लौं दमन करते लोक-सेवा निमित्त।
प्यारी प्यारी हृदय-तल की सैकड़ों लालसा...

'प्रिय-प्रवास' के श्रीकृष्ण में मानवता का समावेश यथेष्ट मात्रा में हुआ है। जगत-हित के कार्य्यों में लगे रहने पर भी वे अपने भूतकालीन

ग्रामीण जीवन की ओर स्नेह-पूर्ण और लालसामय दृष्टिपात्त करते पाये जाते हैं। उनके सम्बन्ध में कुछ कहने के लिए ऊद्धव से अधिक प्रामाणिकता और किसी में सम्भव नहीं, क्योंकि मथुरा में ऊद्धव उनके परम विश्वास-पात्र सखा थे। अतएव ऊद्धव के मुख से ही उनकी इस स्थिति का वर्णन सुनिए। श्रीकृष्ण ने उनसे कहा था :—

"शोभा संभ्रम शालिनी ब्रजधरा प्रेमास्पदा गोपिका।
माता प्रीति-मयी प्रतीति-प्रतिमा वात्सल्य धाता पिता।
प्यारे गोप कुमार प्रेम-मणि के पाथोधि से गोप वे।
भूले हैं न सदैव याद उनकी देती व्यथा है महा।

× × ×

जी में बार अनेक बात यह थी मेरे उठी मैं चलूँ।
प्यारी भावमयी सुभूमि ब्रज में दो ही दिनों के लिए।

× × ×

जो राधा वृषभानु भूप तनया स्वर्गीय दिव्यांगना।
शोभा हैं ब्रजप्रान्त औ अवनि की स्त्री जाति की वंश की।
होगी हा! वह देवि मग्न अति ही मेरे वियोगाब्धि में।
जो हो सम्भव तात पोत बन के तो त्राण देना उसे।

ऊद्धव भी श्रीकृष्ण के इस कथन का अनुमोदन करते हैं :—

"प्यारा वृन्दा-विपिन उनको आज भी पूर्व सा है।
वे भूले हैं न प्रिय जननी औ न प्यारे पिता को।
वैसे ही हैं सुरति करते श्याम गोपांगना की।
वैसी ही है प्रणय-प्रतिमा बालिका याद आती।
प्यारी बातें कथन करके बालिका बालकों की।
माता को औ प्रिय जनक की गोप गोपांगना की।
मैंने देखा अधिकतर है श्याम को मुग्ध होते।

उच्छ्वासों से व्यथित उर के नेत्र में वारि लाते।
सायं प्रातः प्रति पल घटी है उन्हें याद आती।
सोते में भी अवनि व्रज का स्वप्न वे देखते हैं।
कुंजों में ही मन मधुप सा सर्वदा घूमता है।
देखा जाता तन भर वहाँ मोहनी मूर्त्ति का है।"

श्रीकृष्ण के हृदय और मस्तिष्क का, मनोविकारों और बुद्धि का, अनुराग और विवेक का यह संघर्ष बड़ा ही मुग्धकर है, और उससे भी अधिक आनन्दप्रद, यद्यपि उतना ही कठोर है, श्रीकृष्ण का अपनी मानवोचित दुर्बलता पर विजय लाभ।

पिछले अध्यायों में हमने 'देवनन्दन' और 'देवस्वरूप' नामक चरित्रों की सृष्टि का अध्ययन किया है। प्रियप्रवास के श्रीकृष्ण का अध्ययन करते समय यदि हम इन दोनों चरित्रों की विशेषताओं को भी स्मरण रखेंगे तो यह स्पष्ट हो जायगा कि हरिऔध जी के व्यक्तित्व विकास में कोई विलक्षण क्रान्ति हुए विना यह संभव नहीं था कि श्रीकृष्ण का स्वरूप उससे कुछ भिन्न होता। जिसे यहाँ पाठक देख रहे हैं।

'प्रिय-प्रवास' में नारी-चित्र

१—यशोदा

'प्रिय-प्रवास' में यशोदा का चित्र बड़ा ही मर्म्मस्पर्शी है, उनके भग्न हृदय की वेदना का अनुमान करना सरल नहीं है। जिस भवन का आधार-स्तम्भ टूट गया हो, जिस वृद्धा की लकड़ी किसी ने छीन ली हो, जिसकी आँख का तारा, जीवन का सहारा अचानक अनायास ही लुट गया हो, उसकी दशा पर दृष्टिपात करने के लिए बहुत पोढ़े कलेजे की आवश्यकता है। यशोदा न जगत-हित समझती हैं, और न लोक-सेवा की प्रेरणा का मर्म्म हृदयंगम कर सकती हैं। वे एक सीधी-सादी माँ हैं, जिसे अपने प्राणों से प्यारे दुलारे लड़के से मतलब है। जिस समय श्रीकृष्ण जी को लिवा जाने के लिए अक्रूर आया उसी समय उनका स्नेह-कातर, शंकालु हृदय भविष्य अनर्थ की आशंका से काँप उठा था। अन्त में बहुत कुछ आगा-पीछा सोचकर उन्होंने श्रीकृष्ण को जाने भी दिया तो पति को उनकी रक्षा के लिए छोटी से छोटी बातों के सम्बन्ध में भी हिदायत कर दी :—

"सब पथ कठिनाई नाथ हैं जानते ही।
अब तक न कहीं भी लाड़िले हैं सिधारे।
मधुर फल खिलाना दृश्य नाना दिखाना।
कुछ पथ दुख मेरे बालकों को न होवे।
पग चलन सतावे लाड़िलों को न घेरे।
दिनकर किरणों की ताप से भी बचाना।
यदि उचित जँचे तो छाँह में भी बिठाना।
मुख सरसिज ऐसा म्लान होने न पावे।

विमल जल मँगाना देख प्यासा पिलाना।
कुछ क्षुधित हुए ही व्यंजनों को खिलाना।
दिन वदन सुतों का देखते ही बिताना।
विकसित अधरों को सूखने भी न देना।"

किन्तु जिसके दो दिन के वियोग के लिए उन्हें इतनी अधीरता थी वह अनिश्चित-काल के लिए उनकी गोद से अलग हो ही गया। नंद के अकेले लौटने पर उन्होंने व्याकुल होकर पूछा :—

"प्रिय पति वह मेरा प्राण प्यारा कहाँ है?
दुख जलनिधि मग्ना का सहारा कहाँ है?
लख मुख जिसका मैं आज लौं जी सकी हूँ।
वह हृदय हमारा नेत्र तारा कहाँ है?
मुझ विजित जग का एक आधार जो है।
वह परम अनूठा रत्न-सर्वस्व मेरा।
धन मुझ निधनी का लोचनों का उँजाला।
सजल जलद की सी कान्तिवाला कहाँ है?
पल पल जिसके मैं पंथ को देखती थी।
निशि दिन जिसके ही ध्यान में थी बिताती।
उर पर जिसके है सोहती मुक्त माला।
वह नव नलिनी से नेत्र वाला कहाँ है?
प्रति दिन जिसको मैं अंक में नाथ लेके।
विधि लिखित कुअंकों की क्रिया कीलती थी।
अति प्रिय जिसको है वस्त्र पीला निराला।
वह किशलय के से अंग वाला कहाँ है?
वर वदन विलोके फुल्ल अंभोज ऐसा।
करतल गत होता व्योम का चन्द्रमा था।

मृदु रव जिसका है रक्त सूखी नसों का।
वह मधुमय कारी मानसों का कहाँ है?

ममता बड़ी बुरी बला है। इसके कारण मनुष्य निराश होकर भी आशा के बंधन में बँधा पड़ा रहता है। इसकी बदौलत वह चाँद के पृथ्वी पर उतर आने में विश्वास करता है, पश्चिम से सूर्य्य के उदित होने का स्वप्न देखता है, बालू की भीत खड़ी करके महल बनाने की कल्पना करता है। यशोदा का भी यही हाल था। उनकी इस अवस्था में कितनी करुणा, कितनी वेदना भरी पड़ी है, इसका कुछ अनुमान नीचे की पंक्तियाँ देख कर पाठक शायद कर सकें :—

"प्रति दिन वह आके द्वार पै बैठती थीं।
पथ दिशि लखते ही बार को थीं बिताती।
यदि पथिक दिखाता तो यही पूछती थीं।
प्रिय सुत गृह आता क्या कहीं था दिखाया।
अति अनुपम मेवे औ रसीले फलों को।
बहु मधुर मिठाई दुग्ध को व्यंजनों को।
पथ श्रम निज प्यारे पुत्र का मोचने को।
वह नित रखती थीं भाजनों में सजा के।

× × ×

प्रति दिन कितने ही देवता थीं मनाती।
बहु यजन कराती विप्र के वृन्द से थीं।
नित घर पर नाना ज्योतिषी थीं बुलाती।
निज प्रिय सुत आना पूछने को यशोदा।
सदन दिग कहीं जो पत्र भी डोलता था।
निज श्रवण उठाती थीं सशंकिता हो।
सुन रव उठती तो पंथ के ओर थीं ही।
तब स्वपुर दृगों को ले उसे देखती थीं।

गृह दिशि यदि कोई शीघ्रता साथ आता।
तब उभय करों से थामतीं वे कलेजा।
जब वह दिखलाता दूसरी ओर जाता।
तज हृदय करों से ढाँपती थीं दृगों को।

मधुबन दिशि से वे तीव्रता साथ आता।
यदि नभ तल में थीं देख पाती पखेरू।
उस पर कुछ ऐसी दृष्टि तो डालती थीं।
लख कर जिसको था भग्न होता कलेजा।

बहुत दिन बीत गये। कृष्णजी न आये। आया भी तो उनका संदेश। उद्धव इस संदेश के वाहक थे। यशोदा का ध्यान अपने दुःख की ओर नहीं है, वे यह नहीं पूछतीं कि कृष्ण क्यों नहीं आये। सब से पहले वे उद्धव से पूछती हैं कि मेरा प्यारा बेटा आराम से तो है?

"मेरे प्यारे सकुशल सुखी और सानन्द तो हैं?
कोई चिन्ता मलिन उनको तो नहीं है बनाती?
ऊधो छाती वदन पर है म्लानता भी नहीं तो?
हो जाती हैं हृदय-तल में तो नहीं वेदनाएँ?

मीठे मेवे मृदुल नवनी और पक्वान्न नाना।
उत्कण्ठा के सहित सुत को कौन होगी खिलाती।
प्रातः पीता सुपय कजरी गाय का चाव से था।
हा! पाता है न अब उसको प्राण प्यारा हमारा।

संकोची है अति सरल है धीर है लाल मेरा।
लज्जा होती अमित उसको माँगने में सदा थी।
जैसे लेके सरुचि सुत को अंक में मैं खिलाती।
हा! वैसे ही अब नित खिला कौन कान्ता सकेगी।"

निम्नलिखित पंक्तियों में यशोदा की वेदना का वर्णन करके हरिऔध जी ने कमाल कर दिया है। वंचिता माता कहती है :—

"मेरी आशा नवल लतिका थी बड़ी ही मनोज्ञा।
नीले पत्ते सकल उसके नीलमों के बने थे।
हीरे के थे कुसुम फल थे लाल गोमेदकों के।
पन्नों द्वारा रचित उसकी सुंदरी डंठियाँ थीं।
उद्विग्ना औ विपुल विकला क्यों न सो धेनु होगी।
प्यारा लैरू विलग जिसकी आँख से हो गया है।
ऊधो कैसे व्यथित फणि सो जी सकेगा बता दो।
जीवोन्मेषी रतन जिसके शीश का खो गया है।
छीना जावे लकुट न कभी वृद्धता में किसी का।
ऊधो कोई न कल छल से लाल ले ले किसी का।
पूँजी कोई जनम भर की गाँठ से खो न देवे।
सोने का भी सदन न बिना दीप के हो किसी का।
पत्रों पुष्पों रहित विटपी विश्व में हो न कोई।
कैसी ही हो सरस सरिता वारि शून्या न होवे।
ऊधो सीपी सदृश न कभी भाग फूटे किसी का।
मोती ऐसा रतन अपना आह! कोई न खोवे।"

रेखाङ्कित पंक्तियों में देवकी के प्रति कितना हृदय-भेदी संकेत है! ये इस भाव को और भी स्पष्ट कर देती हैं। प्रायः स्पष्टता आहत हृदयों को संतोषकारी होती है, क्योंकि विपक्षी के हृदय पर उसका पूरा प्रभाव पड़ने में सन्देह नहीं रह जाता। ये कहती हैं :—

"[illegible] हूँ [illegible] सुनती [illegible] यों कभी हूँ।
[illegible] भी [illegible] है।"

[illegible] कृष्ण फिर ब्रज में आ जायें, यशोदा की यही [illegible] है :—

"जो आँखें हैं उमग खुलती ढूँढ़ती श्याम को हैं।
लौ कानों को मुरलिधर की तान ही की लगी है।
होती सी है यह ध्वनि सदा गात रोमावली से।
मेरा प्यारा सुअन ब्रज में एकदा और आवे।"

परन्तु क्या यह आशा कभी पूरी होगी ? क्या कृष्ण ब्रज में फिर आ सकेंगे। जो हो वे आवें, या न आवें उनके आने की आशा भले ही मृग-मरीचिका सिद्ध हो, किन्तु उसने शून्य की कठोर जीवन-शोषिणी विडम्बना से तो उनकी रक्षा अवश्य ही की है। वे कहती हैं :—

"लोहू मेरे युगल दृग से अश्रु की ठौर आता।
रोएँ रोएँ सकल तन के दग्ध हो छार होते।
आशा होती न यदि मुझको श्याम के लौटने की
मेरा सूखा हृदय-तल तो सैकड़ों खण्ड होता।"

यशोदा परिस्थिति की गंभीरता न समझ रही हों, सो वात नहीं। मन ही मन वे देवकी का कृष्ण पर विशेष अधिकार होना स्वीकार सी करती दिखायी पड़ती हैं। निम्नलिखित पंक्तियों में जो प्रश्न उन्होंने उद्धव से किये हैं वे न जाने कितने वार उनके अदृष्ट मानसिक जगत् में आन्दोलन मचा कर उक्त स्वीकृति के सागर ही में निमज्जित होते रहे हैं। कृष्ण किसके लड़के हैं,? इसके उत्तर में जहाँ उनकी ममता अपनी टेक पर अड़ी रही है वहाँ कृष्ण के प्रति ब्रज के सारे वंधनों की, सारे प्रलोभनों की प्रभाव-शून्यता को देख-देख कर वे सशंक और निराश भी होती रही हैं। एक वार फिर व्याकुल होकर वे उद्धव से पूछती हैं :—

"कैसे भूलीं सरस खनि सी प्रीति की गोपिकाएँ।
कैसे भूले सुहृदपन के सेतु से गोप-ग्वाले।
शान्ता धीरा मधुर हृदया प्रेम रूपा रसज्ञा।
कैसे भूली प्रणय-प्रतिमा राधिका मोद मग्ना।

> कैसे वृन्दा विपिन विगत क्यों लता वेलि भूली।
> कैसे जी से उतर सिगरी कुञ्ज पुंजें गयी हैं।
> कैसे फूले विपुल फल से नम्र भूजात भूले।
> कैसे भला विकच तरु सो भानुजा कूल वाला।"

उद्धव के पास भी इन प्रश्नों का कोई संतोषजनक उत्तर नहीं है। ऐसी दशा में यशोदा की ममता कब तक कृष्ण को 'मेरा प्यारा सुअन' कहने का प्रलोभन देती रहेगी? हार कर, परिस्थिति की भीषणता में छिपे सत्य की अवहेलना करने में असमर्थ होकर यशोदा 'धाई' ही कहला कर संतुष्ट हैं, यदि श्रीकृष्ण एक बार आकर व्रज में अपना प्यारा मुखड़ा दिखला जायँ। इस भावना ने यशोदा को देवकी के प्रति उदार भी बना दिया। वे कहती हैं :—

> "मैं रोती हूँ हृदय अपना कूटती हूँ सदा ही।
> हा! ऐसी ही व्यथित अब क्यों देवकी को करूँगी।
> प्यारे जीवें प्रमुदित रहें औ बनें भी उन्हीं के।
> धाई नाते वदन दिखला जायँ वारेक और।"

यशोदा की स्थिति कितनी करुण है!

२—राधा

यशोदा के अतिरिक्त और, मर्मस्पर्शिता में उसीके समकक्ष, एक और नारी-चित्र प्रियप्रवास में अंकित है—वह है कृष्ण को प्यार करने वाली वियोगिनी राधा का। वास्तव में राधा 'प्रियप्रवास' के अस्तित्व के लिए जितनी आवश्यक हैं उतनी आवश्यक यशोदा नहीं हैं। कृष्ण यदि 'प्रियप्रवास' की रीढ़ की हड्डी हैं तो राधा अस्थि-पंजर को भी जीवित प्राणी के रूप में प्रस्तुत करने वाली प्राण-वायु हैं, जिसके अभाव में काव्य का सारा सौन्दर्य कपूर की तरह उड़ जाता। निस्सन्देह यशोदा के [illegible]

परिचय दिया है, नन्द की वृद्धावस्था की ओर हमारी सहानुभूति आप से आप हो जाती है, और जितना ही वे पुरुषोचित हृदय-नियन्त्रण दिखलाते हैं, उतनी ही हमें अधीरता उत्पन्न होती है, और यह भी ठीक है कि यदि 'प्रियप्रवास' की कुंज में से गोप और गोपिकाएँ निकाल दी जायँ, तो उसमें कुछ फूलों और लताओं की कमी जरूर हो जायगी। यह निर्विवाद है कि उसकी शोभा-वृद्धि के लिए यह अत्यन्त आवश्यक है कि उसमें नन्द, यशोदा, गोप, गोपी सभी रहें। परन्तु यह स्मरण रखना चाहिए कि वे शोभा-वृद्धि के ही लिए आवश्यक हैं, जैसा कि निवेदन किया जा चुका है, उसकी जीवन-रक्षा के लिए नहीं।

'प्रियप्रवास' के सूत्रधार हैं कृष्ण और राधा। यह सम्भव है कि कृष्ण को अनेक ब्रजांगनाएँ राधा से भी अधिक प्यार करती रही हों, परन्तु यह स्पष्ट है कि कृष्ण का झुकाव राधा ही की ओर विशेष था, और सम्पूर्ण ग्रंथ की समीक्षा करने पर यह सारी कथा केवल एक विस्तारशील प्रगतिशील व्यक्तित्व के विकास के कारण उत्पन्न होने वाले वियोग से व्यथित अन्य अल्प विकासमय हृदय की पीड़ा तथा प्रथम व्यक्तित्व की प्रबलता के कारण अन्य के भी घसीट उठने और उसके भी येन केन प्रकारेण अपनी दुर्बलता पर विजय प्राप्त करके उसी मार्ग पर प्रवृत्ति होने का दिग्दर्शन मात्र है। इस कथन को स्पष्ट करने के लिए मैं राधा के चित्र पर विस्तारपूर्वक दृष्टिपात करूँगा।

राधा और कृष्ण के प्रणय-विकास का सूत्रपात किस प्रकार हुआ, यह निम्नलिखित पंक्तियों से ज्ञात होगा :—

"जब नितान्त अबोध मुकुन्द थे।
बिलसते जब केवल अंक में।
वह तभी वृषभानु-निकेत में।
अति समादर साथ गृहीत थे।
छविवती दुहिता वृषभानु की।
निपट थी जिस काल पयोमुखी।

वह तभी व्रजभूप कुटुम्ब की।
परम कौतुक पुत्तलिका रही।

यह अलौकिक बालक बालिका।
जब हुए कल-क्रीड़न योग्य थे।

परम तन्मय हो बहु प्रेम से।
तब परस्पर थे वह खेलते।

कलित क्रीड़न से इनके कभी।
ललित हो उठता गृह नन्द का।

उमड़ सी पड़ती छवि थी कभी।
वर निकेतन में वृषभानु के।"

राधा बड़ी ही सुन्दरी और आरम्भ ही से सहृदय बालिका थीं।

"रूपोद्यान प्रफुल्ल प्राय कलिका राकेन्दु बिम्बानना।
तन्वंगी कल हासिनी सुरसिका क्रीड़ा कला पुत्तली।

शोभा वारिधि की अमूल्य मणि सी लावण्य लीला मयी।
श्री राधा मृदु भाषिणी मृगदृगी माधुर्य्य की मूर्त्ति थीं।

फूले कंज समान मंजु दृगता थी मत्तता कारिणी।
सोने सी कमनीय कान्ति तन की थी दृष्टि उन्मेषिनी।

राधा की मुसकान की मधुरता थी--मुग्धता मूर्त्ति सी।
काली कुंचित लम्बमान अलकें थीं मानसोन्मादिनी।

नाना भाव-विभाव हाव कुशला आमोद आ पूरिता।
लीला लोल कटाक्ष पात निपुणा भ्रूभंगिमा पंडिता।

वादित्रादि समोद वादन परा आभूषणाभूषिता।
राधा थी सुमुखी विशाल नयना आनन्द आन्दोलिता।

लाली थी करती सरोज पग की भूपृष्ठ को भूषिता।
बिम्बा विद्रुम को अकान्त करती थी रक्तता ओष्ठ की।

हर्षोत्फुल्ल मुखारविन्द गरिमा सौन्दर्य्य आधार थी।
राधा की कमनीय कान्त छवि थी कामांगना मोहिनी।"

यौवन काल आने पर स्वभावतः विचित्र सौन्दर्य्यशाली कृष्ण के प्रति सौन्दर्य-रसिका राधा के हृदय में पहले आकर्षण और फिर प्रणय का संचार हुआ। वह अपने कोमल हृदय को तो श्रीकृष्ण के चरणों में अर्पित कर ही चुकी थीं, विधिपूर्वक पति-रूप में उनको वरण करने की भी उनकी कामना थी। किन्तु इस कामना-लता पर असमय ही तुषारपात हो गया; अक्रूर ने आकर रंग में भंग कर दिया। बेचारी वालिका का उल्लास-कुसुम विदलित हो गया। उसका वश चलता तो वह कृष्ण को न जाने देती, परन्तु एक तो अवधि कम, दूसरे कृष्णजी ऐसे मानने वाले कब के? वे तो संकटों का आह्वान करने वाले ठहरे! लाचार होकर राधा किसी सखी के साथ रात्रि में अपने आँसुओं की धारा से धरती की गोद को भिगोती रहीं। आतुर होकर उन्होंने यह भी चाहा कि सवेरा ही न हो। परन्तु प्रकृति के निष्ठुर नियम कब किसी पीड़िता वालिका पर दया करते हैं; वे तो उस नियति से भी कठोर हैं, जिसने उनकी सृष्टि की है। अन्त में प्रभात हुआ और व्रजधरा को भस्म कर देने वाला वह सूर्य्य निकला, जिसे व्यथिता राधा आग का गोला बता रही थीं और जिसके दिखायी पड़ने की भावना ही से वह इतनी भयभीत थीं। उसके कुछ ही समय बाद श्रीकृष्ण व्रज से चले गये। राधा का जी मसोस कर रह गया।

कुछ दिनों के बाद राधा को मालूम हुआ कि लोकहित के भावों से प्रेरित होकर श्रीकृष्ण को मथुरा में रह जाना पड़ा है। राधा स्वयं उपकारशील वालिका थीं। उनके सौन्दर्य्य-वर्णन-सम्बन्धी पंक्तियाँ पाठकों को स्मरण होंगी :—

"रोगी वृद्ध जनोपकार निरता सच्छास्त्र चिन्ता परा।
राधा थीं सुमुखी विशाल-हृदया स्त्री-जाति-रत्नोपमा।"

ये पंक्तियाँ राधा के सहृदयतापूर्ण व्यक्तित्व का परिचय देती हैं। इनसे पता चलता है कि उनके स्वभाव में त्याग का अंकुर विद्यमान है। फिर भी अभी यह अंकुर ही है। अंकुर में कितनी शक्ति है, इसका अनुमान तो तभी लग सकता है जब हवा और बादल कोई उपद्रव उपस्थित करें।

राधा की सहृदयता का परिचय निम्नलिखित पंक्तियों से भी मिलता है, जिनमें श्रीकृष्ण के पास हवा के द्वारा अपना संदेश भेजते हुए उन्होंने उसे मार्ग में उपद्रव-शून्य और सहायतामयी होकर जाने का उपदेश दिया है :—

'संलग्ना हो सुखद जल के श्रान्तिहारी कणों से।
ले के नाना कुसुम कुल का गंध आमोदकारी।
निर्धूली हो गमन करना उद्धता भी न होना।
आते जाते पथिक जिससे पथ में शान्ति पावें।
लज्जाशीला युवति पथ में जो कहीं दृष्टि आवे।
होने देना विकृत बसना तो न तू सुन्दरी को।
जो थोड़ी भी श्रमित वह हो गोद ले श्रान्ति खोना।
होठों की औ कमल मुख की म्लानताएँ मिटाना।
जो पुष्पों के मधुर रस को साथ सानन्द बैठे।
पीते होवें भ्रमर भ्रमरी सौम्यता तो दिखाना।
थोड़ा सा भी न कुसुम हिले और न उद्विग्न वे हों।
क्रीड़ा होने न कलुषमयी केलि में हो न बाधा।
प्यारे प्यारे तरु किशलयों को कभी जो हिलाना।
तो तू ऐसी मृदुल बनना टूटने वे न पावें।
शाखा-पत्रों सहित जब तू केलि में मग्न होना।
तो थोड़ा भी दुख न पहुँचे पक्षि के शावकों को।

तेरी जैसी मृदु पवन से सर्वथा शान्ति कामी।
कोई रोगी पथिक पथ में जो कहीं भी पड़ा हो।
तो तू मेरे विपुल दुख को भूल के धीर होके।
खोना सारा कलुष उसका शान्ति सर्व्वांग होना।
कोई क्लान्ता कृषक ललना खेत में जो दिखावे।
धीरे धीरे परस उसको गात की क्लान्ति खोना।
जाता कोई जलद यदि हो व्योम में तो उसे ला।
छाया द्वारा सुखित करना तप्तभूतांगना को।
कुञ्जों बागों विपिन यमुना कूल या आलयों में।
सद्गन्धों से सनित मुख-की वास सम्बन्ध से आ।
कोई भौंरा विकल करता हो किसी कामिनी को।
तो सद्भावों सहित उसको ताड़ना दे भगाना।

राधा की उदारता में कोई सन्देह नहीं, परन्तु थोड़ा ही ध्यान देने पर यह अवगत हुए बिना नहीं रहेगा कि यहाँ, जहाँ उन्होंने परोपकार की ओर अपनी प्रवृत्ति का परिचय दिया है, उनके स्वार्थों का संघर्ष नहीं उपस्थित था। उनका संदेश लेकर यदि हवा मथुरा की ओर जा रही है और अपने जाने में कोई विशेष बाधा न डाल कर वह किसी थके माँदे क्लान्त प्राणी के चित्त को शीतल कर देती है, किसी लज्जाशीला श्रमित ललना के कुम्हलाये हुए मुँह को थोड़ा ताजगी दे देती है तो उससे राधा का क्या हर्ज, वास्तव में राधा की परीक्षा तो वहाँ होगी जहाँ उनके प्रधान स्वार्थों के बलिदान का प्रश्न खड़ा होगा।

श्रीकृष्ण को राधिका प्राणों से अधिक चाहती थीं। अतः उनका जितना स्वार्थ श्रीकृष्ण के सम्बन्ध पर अवलम्बित होगा, उतना अन्य विषय पर नहीं हो सकता। राधा के हृदय को यहीं टटोल कर हमें देखना चाहिए कि उनकी लोक-हित-प्रवृत्ति में कितना दम है। इस परीक्षा में रत होकर हम राधा को एक दुर्बल नारी ही पाते हैं। यह

जानते हुए भी कि श्रीकृष्ण मथुरा में लोक-हित के कार्य्यों में फँस कर ही रुक गये हैं, राधा भ्रमर को उलाहना दिये बिना नहीं रहतीं। वे उससे कहती हैं :—

"अय अलि तुझ में भी सौम्यता हूँ न पाती।
मम दुख सुनता है ध्यान देके नहीं तू।
अति चपल बड़ा ही ढीठ औ कौतुकी है।
थिर तनिक न होता है किसी पुष्प में भी।

मधुकर सुन तेरी श्यामता है न वैसी।
अति अनुपम जैसी श्याम के गात की है।
पर जब जब आँखें देख लेती तुझे हैं।
तब तब सुधि आती श्यामली मूर्त्ति की है।

नव नव कुसुमों के पास जा मुग्ध हो हो।
गुन गुन करता है चाव से बैठता है।
पर कुछ सुनता है तू न मेरी व्यथाएँ।
मधुकर इतना क्यों हो गया निर्दयी है।

नहिं टल सकता था श्याम के टालने से।
मम मुख दिशि आता था स्वयं-मत्त हो के।
एक दिन वह था औ एक है आज का भी।
जब मुख दिशि मेरे ताकता भी नहीं तू।

जब हम व्यथिता हैं ईदृशी तो मुझे क्या।
कुछ सदय न होना चाहिए श्याम बन्धो।
प्रिय निठुर हुए हैं दूर हो के दृगों से।
मत बन निरमोही नैन के सामने तू।

एक जगह तो दबी जुबान से नहीं बल्कि साफ़ साफ़ कह देती हैं :—

"निर्लिप्ता औ यदपि अति ही संयता नित्य मैं हूँ।
तो भी होती व्यथित अति हूँ श्याम की याद आते।

वैसी वांछा जगत-हित की आज भी है न होती।
जैसी जी में लसित-प्रिय के लाभ की लालसा है।"

ठीक है, राधा का सुकुमार हृदय इतना भार तो नहीं उठा सकता, उसमें ममता है, मोह है, आसक्ति है, फिर भला जगत-हित का कठोर और नीरस स्वरूप जिसमें उसके प्रणय पात्र प्राण-वल्लभ का वियोग नेहित है, उसे कैसे रुचिकर लग सकता है ? क्या राधा की यह दुर्बलता उचित है ? क्या कृष्ण ऐसे महापुरुष की प्रणय-पात्री राधा के लिए जगत-हित की उपेक्षा करके अपने ही स्वार्थ को महत्त्व प्रदान करना संगत है ?

जो हो, राधा की यह दुर्बलता ही 'प्रिय-प्रवास' के जीवन की सामग्री है। इसी दुर्बलता के वातावरण में जन्म ग्रहण करके वह विकसित होता है। यह स्मरण रखना चाहिए कि 'प्रिय-प्रवास' में राधा प्रेमिका हैं, कृष्ण प्रेमपात्र हैं। यदि राधा प्रेमपात्री होतीं और कृष्ण प्रेमिक होते तो प्रिय-प्रवास का दम ही घुट जाता, क्योंकि फिर तो कृष्ण के व्रज में चले आने में कोई कठिनता ही न रह जाती। वास्तव में राधा की प्रेमिकता और परिस्थिति-जन्य परवशता ने कृष्ण की निष्ठुरता—यह निष्ठुरता चाहे जिस कारण उत्पन्न हुई हो, यहाँ यह प्रश्न नहीं है—के साथ संयुक्त होकर अपूर्व विरह-वेदना की सृष्टि की है जो महाकाव्य का उपयुक्त विषय हो सकता है। ऐसी अवस्था में यदि कवि ने राधा को दुर्बल हृदय न बनाया होता तो उसके काव्य-शकट के आगे अनिवारणीय पाषाण-खण्ड प्रस्तुत हो जाता।

दुर्बल-हृदया और मोह-मग्ना राधा अपनी दुर्बलता की कहानी उद्धव से कहती हैं :—

"मेरे प्यारे पुरुष पुहुमी-रत्न औ शान्त धी हैं।
संदेशों में तदपि उनकी वेदना व्यंजिता है।
मैं नारी हूँ तरल-उर हूँ प्यार से वंचिता हूँ।
जो होती हूँ विकल, विमना, व्यस्त वैचित्र्य क्या है ?

जैसे वीची सहज उठती वारि में वायु से है।
त्यों ही होता चलित चित है कश्चिदावेग द्वारा।
आवेगों से व्यथित बनना बात स्वाभाविकी है।
हाँ ज्ञानी औ विबुध जन में मुह्यता है न होती।
पूरा पूरा परम प्रिय का मर्म्म मैं बूझती हूँ।
है जो वांछा विशद उर में जानती भी उसे हूँ।
यत्नों द्वारा प्रति दिन अतः संयता मैं महा हूँ।
तो भी देतीं विरह-जनिता वासनाएँ व्यथा हैं।
जो मैं कोई विहग उड़ता देखती व्योम में हूँ।
तो उत्कण्ठा-विवश चित में आज भी सोचती हूँ।
होते मेरे निबल तन में पक्ष जो पक्षियों से।
तो यों ही मैं समुद—उड़ती श्याम के पास जाती।
जो उत्कण्ठा अधिक प्रबला है किसी काल होती।
तो ऐसी है लहर उठती चित्त में कल्पना की।
जो हो जाती पवन गति पा वांछिता लोक-प्यारी।
मैं छू आती परम प्रिय के मंजु पादाम्बुजों को।

× × ×

ये आँखें हैं जिधर फिरतीं चाहतीं श्याम को हैं।
कानों को भी मुरलि-रव की आज भी लौ लगी है।
कोई मेरे हृदय-तल को पैठ के जो बिलोके।
तो पावेगा लसित उसमें कान्ति प्यारी उन्हीं की।"

राधा अपनी मोह-मग्नता को अवश्य ही स्वीकार करती हैं। परन्तु उनका कहना है कि मोह ही का नहीं श्रीकृष्ण के प्रति प्रणय का भी उनके हृदय में निवास है। वे उद्धव से कहती हैं :—

"नाना स्वार्थों विविध सुख की बासना मध्य डूबा।
आवेगों से वलित ममतावान है मोह होता।

× × ×

सद्यः होती फलित चित मे मोह की मत्तता है।
धीरे धीरे प्रणय बसता व्यापता है उरों में।
हो जाती हैं विवश अपरा वृत्तियाँ मोह-द्वारा।
भावोन्मेषी प्रणय करता सर्व सद्वृत्ति को है।
देखी जाती कुँवर वर के रूप में है महत्ता।
पायी जाती मुरलि स्वर में व्यापिनी दिव्यता है।
प्यारे प्यारे सुगुण गण के सात्विकी मूर्त्ति वे हैं।
कैसे व्यापी प्रणय उनका अन्तरों में न होगा।"

अन्य गोपिकाओं के सम्बन्ध में राधा कहती हैं :—

"जो धाता ने अवनि तल में रूप की सृष्टि की है।
तो क्यों ऊधो न वह नर के मोह का हेतु होगा।
माधो जैसे रुचिर जन का रूप न्यारा विलोके।
क्यों मोहेंगी न बहु सुमना सुन्दरी बालिकायें।
आसक्ता हैं अमित नलिनी एक छाया पती में।
प्रेमोन्मत्ता विमल विधु की हैं सहस्रों चकोरी।
जो बालायें विपुल हरि में रक्त हैं चित्र क्या है।
प्रेमी का ही हृदय गरिमा जानता प्रेम की है।
मैं मानूँगी अधिक उनमें हैं महा मोह-मग्ना।
तो भी प्रायः प्रणय-पथ की पंथिनी ही सभी हैं।"

इन्हीं गोपिकाओं में राधा ने अपनी भी गणना की है :—

"मेरी भी है कुछ गति यही श्याम को भूल दूँ क्यों?"

ये गोपिकाएँ कैसे संकट में पड़ी हैं, इसे राधा ही के मुख से सुनिए :—

"सर्वाङ्गों में लहर उठती यौवनाम्भोधि की है।
जो है घोरा परम प्रबला औ महोच्छ्वास शीला।

तोड़े देती प्रबल तरि जो ज्ञान औ बुद्धि की है।
घातों से है दलित जिसके धैर्य का शैल होता।
चक्री होते चकित जिससे काँपते हैं पिनाकी।
जो वज्री के हृदय-तल को क्षुब्ध देता बना है।

जो है पूरा व्यथित करता विश्व के देहियों को।
कैसे ऐसे रति रमण के बाण से वे बचेंगी?
जो हो के भी परम मृदु है वज्र का काम देता।
जो हो के भी कुसुम करता शैल की सी क्रिया है।

जो हो के भी मधुर बनता है महा दग्ध कारी।
कैसे ऐसे मदन-शर से रक्षिता वे रहेंगी।
हो जाते हैं भ्रमित जिसमें भूरि ज्ञानी मनीषी।
कैसे होगा सुगम पथ सो मन्द-धी नारियों को।

छोटे छोटे सरित सर में डूबती जो तरी है।
सो भू-व्यापी सलिल-निधि के मध्य कैसे तरेगी।"

गोपियों की यही कठिनाई राधा की भी कठिनाई है, यही व्यथा राधा की भी व्यथा है। बादलों को देख कर कृष्ण की याद आने से व्याकुल एक बालिका कहती है :–

"क्यों तू हो के परम प्रिय सा वेदना है बढ़ाता।
तेरी संज्ञा सलिल धर है और पर्जन्य भी है।
ठंढा मेरे हृदय-तल को क्यों नहीं तू बनाता।
तू केकी को स्वछवि दिखला है महा मोद देता।
वैसा ही क्यों मुदित तुझ से है पपीहा न होता।
क्यों है मेरा हृदय दुखता श्यामता देख तेरी।"

इन्हीं बालिकाओं की तरह स्वयं राधा चित्त-विकार से विवश होकर फूलों को, हवा को, तरह तरह के उलहने देतीं और उनके प्रति कटु शब्दों का भी प्रयोग कर रही थीं :—

"यह समझ प्रसूनों पास मैं आज आयी।
छिति तल पर ये हैं मूर्त्ति-उत्फुल्लता की।
पर सुखित करेंगे ये मुझे आह कैसे।
जब विविध दुखों में मग्न होते स्वयं हैं।

× × ×

तदपि इन सबों में ऐठ देखी बड़ी ही।
लख दुखित जनों को ये नहीं म्लान होते।
चित द्रवित न होता अन्य के कष्ट से है।
बहु भव-जनितों की वृत्ति ही ईदृशी है।

× × ×

प्यारी प्रात: पवन इतना क्यों मुझे है सताती।
क्या तू भी है कलुषित हुई काल की क्रूरता से।
कालिन्दी के कल पुलिन पै घूमती सिक्त होती।
प्यारे प्यारे कुसुम चय को चूमती गंध लेती।
तू आती है वहन करती वारि के सीकरों को।
हा पापिष्ठे फिर किस लिए ताप देती मुझे है।
क्यों होती है निठुर इतना क्यों बढ़ाती व्यथा है।
तू है मेरी चिर परिचिता तू हमारी प्रिया है।"

अन्त में अन्य व्रज-निवासियों की वेदनाओं के साथ ही साथ समय ने राधा का सन्ताप किस प्रकार हलका किया, यह निम्नलिखित पंक्तियों में देखिए :—

"कोई प्राणी सदुख कब लौं खिन्न होता रहेगा।
लावेगा नेत्रजल कब लौं थाम टूटा कलेजा।
जी को मारे नखत गिन के ऊब के दग्ध होके।
कोई होगा विरत कब लौं विश्व व्यापी सुखों से।

न्यारी आभा-निलय किरणें सूर्य्य की औ शशी की।
तारात्रों से खचित नभ की नीलिमा मेघ माला।

रूखों की औ ललित लतिका बेलियों की छटाएँ।
नाना क्रीड़ा सरित सर औ निर्भरों के जलों की।

मीठी तानें मधुर लहरें गान वाद्यादिकों की।
प्यारी बोली बिहग कुल की बालकों की कलाएँ।

सारी शोभा ऋतु सकल की पर्व की उत्सवों की।
वैचित्र्यों से बलित पृथिवी विश्व की सम्पदाएँ।

संतापों का विविध दुख से दग्ध का दृष्टि आना।
जो आँखों में कुटिल जग का चित्र सा खींचते हैं।

आख्यानों के सहित विविधा सान्त्वनाएँ सुधी की।
संतानों की सहज ममता पेट-धंधे सहस्रों—

हैं प्राणी के हृदय-तल को फेरते मोह लेते।
धीरे धीरे दुसह दुख का वेग भी हैं घटाते।

नाना भावों सहित अपनी व्यापिनी मुग्धता से।
वे हैं प्रायः व्यथित उर की वेदनाएँ हटाते।

गोपी गोपों जनक जननी बालिका बालकों का।
चित्तोन्मादी प्रबल दुख का वेग भी काल पाके।

धीरे धीरे बहुत बदला हो गया न्यून प्रायः।"

ठीक है। समय यही कार्य्य सबके जीवन में करता है। इसके अतिरिक्त, कोई दुखिया करेगा तो क्या करेगा? जब प्रफुल्ल कमल दिखाई पड़ेगा तब प्रेमपात्र का चेहरा याद आवेगा ही; जब उन्मत्त भौंरों की क़तार घूमेगी तब प्रियतम के मनोहर वालों की सुधि होगी ही; इसी प्रकार प्रकृति के अन्य पदार्थ जब जब दृष्टिगोचर होंगे तब प्राणवल्लभ के लिए प्राण छटपटाएँगे ही। इतने उद्दीपन, इतने दाह का भार किसी का हृदय कब तक सहन कर सकता है? विवश होकर

प्रणय के भयंकर, प्रखर, और दाहक स्वरूप का त्यागना तथा उनके शीतल, मनोहर और निर्माणात्मक रूप का आश्रय लेना पड़ेगा। राधा ने भी यही किया। मानसिक प्रवृत्ति-सम्बन्धी इस नव-जात परिवर्तन ने सम्पूर्ण प्रकृति को श्रीकृष्ण का प्रतिरूप ही बना दिया। इस विकास के बाद राधा का जैसे नूतन जन्म हो गया, प्राकृतिक पदार्थ राधा को विषाद देने के स्थान में आनन्दप्रद हो गये। वे कहती हैं:—

"जो होता है उदित नभ में कौमुदी कान्त आ के।
या जो कोई कुसुम-विकसा देख पाती कहीं हूँ।
लोने लोने-हरित दल के पादपों को विलोके।
प्यारा प्यारा विकच मुखड़ा है मुझे याद आता।

कालिन्दी के पुलिन पर जा या सजीले सरों में।
जो मैं फूले कमल कुल को मुग्ध हो देखती हूँ।
तो प्यारे के कलित कर की औ अनूठे पगों की।
छा जाती है सरस सुषमा वारि-स्रावी दृगों में।

जो ताराओं से खचित नभ को देखती हूँ निशा में।
या मेघों में मुदित बक की पंक्तियाँ देखती हूँ।
तो जाती हूँ उमग बँधता ध्यान ऐसा मुझे है।
मानो मुक्ता लसित उर है श्याम का दृष्टि आता।

छू देती है मृदु पवन जो पास आ गात मेरा।
तो हो जाती परस-सुधि है श्याम प्यारे करों की।
सद्गन्धों से सनित वह जो कुंज में डोलती है।
तो होती है सुरति मुख की वास की मंजुता की।

सन्ध्या फूली परम प्रिय की कान्ति सी है दिखाती।
मैं पाती हूँ रजनि-तन में श्याम का रंग छाया।
ऊषा आती प्रति दिवस है प्रीति से रंजिता हो।
पाया जाता वर बदन सा ओप आदित्य में है।

मैं पाती हूँ अलक सुषमा भृङ्ग की मालिका में।
हैं आँखों की सुछवि मिलती खंजनों औ मृगों में।
दोनों बाहें कलभ कर को देख हैं याद आती।
पायी शोभा रुचिर शुक के ठोर में नासिका की।
है दाँतों की झलक मुझको दीखती दाड़िमों में।
बिम्बाओं में बर अधर सी राजती लालिमा है।
मैं केलों में जघन युग की देखती मंजुता हूँ।
गुल्फों की सी ललित सुषमा है गुलों में दिखाती।
सायं प्रातः सरस स्वर से कूजते हैं पखेरू।
प्यारी प्यारी मधुर ध्वनियाँ मत्त हो हैं सुनाते।
मैं पाती हूँ मधुर ध्वनि में कूजने में खगों के।
मीठी तानें परम प्रिय की मोहिनी वंशिका की।"

सब मामला ही ख़तम हो गया। अब वियोग कहाँ रहा। श्याम का परिमित मानव स्वरूप तो नेत्रों से विलग भी हो सका था, किन्तु इस विचित्र श्याम-स्वरूप को कौन विलग कर सकेगा ? राधा के इस मानसिक विकास का यह परिणाम हुआ कि उनके दुखी होने का कोई कारण ही नहीं रह गया:—

"प्यारे आवें मृदु बयन कहें प्यार से अंक लेवें।
ठंढे होवें नयन दुख हों दूर मैं मोद पाऊँ।
ए भी हैं भाव मम उर के और ए भाव भी हैं।
प्यारे जीवें जग-हित करें गेह चाहे न आवें।

अन्त में राधा का लोकोपकारी रूप देख कर हम मुग्ध हो जाते हैं; उनके मुख पर चिन्ता का नहीं, शान्ति का भाव है; उनके हृदय से गरम आहें नहीं निकलतीं, अब वह स्थिर हैं; उनकी आँखों में

वेदना-जनित आँसू नहीं है, वल्कि सेवा के आनन्द से उत्पन्न होने वाला जलविन्दु है ; अव वे साधारण स्त्री नहीं हैं, देवी हैं।

अब वे अपने दुखों से नहीं, किन्तु औरों के दुखों से दुखी हैं:—

"मैं ऐसी हूँ न निज दुख से कष्टिता शोक-मग्ना।
हा जैसी हूँ व्यथित ब्रज के वासियों के दुखों से।
गोपी गोपों व्यथित ब्रज की वालिका वालकों को।
आके पुष्पानुपम मुखड़ा कृष्ण प्यारे दिखावें।"

जिस पथ से उन्होंने शान्ति पायी उसी का उपदेश वे अन्य गोप वालाओं को देने लगीं :—

"देखो प्यारी भगिनि भव को प्यार की दृष्टियों से।
जो थोड़ी भी हृदय-तल में शान्ति की कामना है।
ला देता है जलद दृग में श्याम की मंजु शोभा।
पुच्छाभासे मुकुट सुषमा है कलापी दिखाता।
पी का सच्चा प्रणय उर में आंकता है पपीहा।
ए बातें हैं सुखद इनमें भाव क्या है व्यथा का।"

राधा अब सम्पूर्ण विश्व की प्रेमिका हो गयी हैं :—

"आटा चींटी विहग गण थे वारि औ अन्न पाते।
देखी जाती सदय उनकी दृष्टि कीटादि में भी।
पत्तों को भी न तरु गण के वे वृथा तोड़ती थीं।
जी से वे थीं निरत रहतीं भूत सम्वर्द्धना में।
वे छाया थीं सुजन शिर की शासिका थीं खलों की।
कंगालों की परम निधि थीं औषधी पीड़ितों की।
दीनों की थीं भगिनि जननी थीं अनाथाश्रितों की।
आराध्या थीं अवनि ब्रज की प्रेमिका विश्व की थीं।

खो देती थीं कलह जनिता आधि के दुर्गुणों को।
धो देती थीं मलिन मन की व्यापिनी कालिमाएँ।
बो देती थीं हृदय-तल में बीज भावज्ञता का।
वे थीं चिन्ता विजित चित में शान्ति-धारा बहाती।
जैसा व्यापी दुसह दुख था गोप गोपांगना का।
वैसी ही थीं सदय-हृदया स्नेह की मूर्ति राधा।
जैसी मोहाकलित ब्रज में तामसी रात आयी।
वैसी ही वे लसित उसमें कौमुदी के समा थीं।"

निस्सन्देह क्रमशः विकास प्राप्त करके राधा मनुष्य से देवी हो गयीं। इसका मतलब ही यह है कि वे दुःख और सुख के अन्तर का अनुभव करने वाली अवस्था से मुक्त होकर उस अवस्था में पहुँच गयीं जहाँ विषाद और हर्ष में कोई भेद-भाव नहीं है।

यह सब होते हुए भी हम क्लेश का अनुभव किये बिना नहीं रह सकते, क्योंकि जिस पात्र के साथ हमारी सहानुभूति होती है, उसके दुःख में दुखी और सुख में सुखी हुए बिना हम नहीं रह सकते, विशेषकर उस दशा में जब उसे यह भी ज्ञात हो कि जिस सुख को पाने की इच्छा राधा को थी उसको न पाने पर ही उन्होंने लोक-सेवा स्वीकार की। यह कहा जा सकता है कि राधा के हृदय का सर्वथा स्वाभाविक विकास हुआ है; वेदना के पथ पर चलकर उन्होंने विश्व-प्रेम और ईश्वर-भक्ति के मंदिर में प्रवेश किया है। परन्तु, प्रश्न यह है कि जिस समय तक विश्व-प्रेम के देवालय में वे प्रविष्ट नहीं हुई थीं तब तक यदि बीच ही में वेदना के कारण-स्वरूप कृष्ण-विरह का अन्त हो जाता तो भी क्या वे उस मंदिर में प्रवेश करना पसंद करतीं अथवा प्रियतम के बाहु-पाश में स्वयं को बद्धकर सम्पूर्ण विश्व को भूल जातीं? कृष्ण के प्रति राधा के प्रेम का जैसा परिचय 'प्रिय-प्रवास' में मिलता है उससे तो यही आशा करनी चाहिए कि कृष्ण की मीठी मुस्कान और बाँसुरी की तान के नशे से वे अपना पिंड कभी न छुड़ा सकतीं। यह स्पष्ट है कि राधा

की प्रथम अवस्था दयनीय है, उन्होंने जो कुछ चाहा वह उन्हें नहीं मिला और अन्त में चाहे कुछ भी मिला हो, परन्तु कामना की वस्तु तो नहीं ही मिली। फिर हम दुखी क्यों न हों?

जो हो, इसका यह अर्थ नहीं कि अपनी परिपक्व अवस्था में भी राधा दयनीय ही बनी रहीं। यदि ऐसी बात होती तो इस काव्य का उद्देश्य ही न सिद्ध होता।

राधा के जीवन-विकास पर लक्ष्य रख कर हरिऔध जी के मानवतापूर्ण हृदय तथा ईश्वर-प्राप्ति-विषयक साधना का वह स्वरूप, जो उन्हें विशेष रूप से प्रिय है, हृदयंगम किया जा सकता है।

'प्रियप्रवास' में प्रकृति का चित्रण

'प्रियप्रवास' में प्रकृति अनेक रूपों में चित्रित की गयी है। इनमें से एक वह चित्र है जिसमें मनुष्य के विकार-ग्रस्त व्यक्तित्व अथवा दृष्टिकोण का प्रभाव स्पष्ट रूप से दिखायी पड़ता है। इसमें प्रकृति का यथार्थ अथवा अलंकृत रूप नहीं पाया जाता, बल्कि हमारे हृदय में जिस भाव की प्रधानता रहती है उसी की प्रतिक्रिया वह करती है। मानव हृदय के प्रधान भाव हैं रति, शोक, भय, घृणा, उत्साह, आश्चर्य्य आदि। 'प्रियप्रवास' में इन भावों से अभिभूत प्रकृति-चित्रण प्रचुर मात्रा में मिलता है।

'प्रियप्रवास' राधा और कृष्ण की प्रणय-कथा होने के कारण स्वभावतः उसमें प्रकृति के प्रति रति-भाव से अभिभूत प्रवृत्ति का प्राबल्य पाया जाना चाहिए और वह प्रचुर मात्रा में विद्यमान भी है। परन्तु यह प्रणय-कथा आदि से अन्त तक करुण है, इसलिए इसमें प्रकृति का उल्लासपूर्ण भाग दृष्टिगोचर नहीं होता। बेचारी राधा को कभी वह दिन नसीब ही नहीं हुआ, जब उसके आनन्द के उन्माद से संध्या अथवा उषा की लालिमा और भी गाढ़ी हो जाय; जब खगों के गान में स्वर्ग का संगीत विहार करने के लिए उतर आवे; जब पूर्ण चन्द्रमा उस शशिमुखी की प्रफुल्लता के प्रति ईर्ष्या के मारे ही क्षय रोग के शिकार होते जान पड़ें; जब उस गर्विता के रूप; माधुर्य्य, अंग सुकुमारता आदि को देख कर रात्रि को कमलिनी और दिन को कुमुदिनी लज्जा और संकोच-मग्न-सी बनी रहें। वह अबला तो अपने सौभाग्य-प्रभात की आशा ही में बैठी थी कि अचानक अन्धकार ने उस पर वज्रपात हो गया। अतएव जिस प्रवृत्ति का मैंने ऊपर उल्लेख किया है उसका करुण अंग ही 'प्रियप्रवास' में पुष्ट हुआ है। नीचे के

कतिपय पंक्तियाँ देखिए, राधा ब्रज से कृष्ण के प्रयाण का समाचार सुनकर व्याकुलतापूर्वक सखी से कह रही हैं :—

"यह सकल दिशाएँ आज रो सी रही हैं।
यह सदन हमारा है हमें काट खाता।
मन उचट रहा है चैन पाता नहीं है।
विजन विपिन में है भागता सा दिखाता। १।
कटु ध्वनि करुणा की फैल सी क्यों गई है।
तरुवर मन मारे आज क्यों यों खड़े हैं।
अवनि अति दुखी सी क्यों हमें है दिखाती।
नभ पर दुख छायापात क्यों हो रहा है। २।
सब नभ तल तारे जो उगे दीखते हैं।
यह कुछ ठिठके से सोच में क्यों पड़े हैं।
ब्रज दुख लख के ही क्या हुए हैं दुखारी।
कुछ व्यथित बने से या हमें देखते हैं। ३।
रह रह किरणें जो फूटती हैं दिखाती।
वह मिष इनके क्या बोध देते हमें हैं।
कर वह अथवा यों शान्ति का हैं बढ़ाते।
विपुल व्यथित जीवों की व्यथा मोचने को। ४।
दुख अनल शिखाएँ व्योम में फूटती हैं।
यह किस दुखिया का हैं कलेजा जलाती।
अहह अहह देखो टूटता है न तारा।
पतन दिलजले के गात का हो रहा है। ५।
सखि मुख अब तारे क्यों छिपाने लगे हैं।
वह दुख लखने की ताब क्या हैं न लाते।
परम विफल हो के आपदा टालने में।
वह मुख अपना हैं लाज से या छिपाते। ६।

× × ×

क्या बातें हैं मधुर इतना आज तू जो बना है।
क्या आते हैं व्रज अवनि में मेघ सी कान्ति वाले।
या कुंजों में अटन करते देख पाया उन्हें है।
या आ के है समुद परसा हस्त द्वारा उन्होंने। ७।

प्राकृतिक पदार्थों का सहज रूप ऐसा नहीं है कि वह मनुष्य के सुव्यवस्थित चित्त को अव्यवस्थित बनावे। किन्तु मानसिक-विकारों से आन्दोलित मन को और भी अधिक आन्दोलित बनाने की शक्ति उनमें है। जिस हृदय में कोई लालसा सो रही है, अथवा किसी प्रकार की दुर्वलता अपने विकृत रूप को प्रगट करने के लिए अवसर की खोज में है उसके लिए प्राकृतिक पदार्थ उद्दीपन का काम करते हैं। 'प्रियप्रवास' में कृष्ण-वियोग-मग्ना गोपिकाओं को बहुत अधिक समय तक प्रकृति इसी रूप में दृष्टिगोचर हुई है :—

"नीला प्यारा उदक सरिका देख के एक श्यामा।
बोली खिन्ना विपुल बन के अन्य गोपांगना से।
कालिन्दी का पुलिन मुझको उन्मना है बनाता।
प्यारी न्यारी जलद-तन की मूर्ति है याद आती।"

गोपियाँ ऊधो से कहती हैं :—

"ऐसी कुंजें व्रज अवनि में हैं अनेकों जहाँ जा।
आ जाती है युगल दृग के सामने मूर्ति प्यारी।
नाना लीला ललित जसुदा लाल ने की जहाँ हैं।
ऐसी ठौरों ललक दृग हैं आज भी लग्न होते। १।

फूली डालें सुकुसुम-मयी नीप की देख आँखों।
आ जाती है हृदय धन की मोहिनी मूर्ति आगे।
कालिन्दी के पुलिन पर आ देख नीलाम्बु न्यारा।
हो जाती है उदय उर में माधुरी अम्बुदों सी। २।

सूखे न्यारा सलिल सरि का दग्ध हों कुंज पुंजें।
फूटें आँखें हृदय-तल भी ध्वंस हो गोपियों का।
सारा वृन्दा विपिन उजड़े नीप निर्मूल होवे।
तो भूलेंगे प्रथित गुण के पुण्य पाथोधि माधो। ३।
आके तेरे निकट कुछ भी मोद पाती न मैं हूँ।
तेरी तीखी महँक मुझ को कष्टिता है बनाती।
क्यों होती है सुरभि सुखदा माधवी मल्लिका की।
क्यों तेरी है दुखद मुझ को पुष्प बेला बता तू। ४।"

राधा के हृदय को प्रकृति किस प्रकार और कितना उद्दीप्त करती है यह भी सुनिए :—

"जो मैं कोई विहग उड़ता देखती व्योम में हूँ।
तो उत्कण्ठा-विवश चित में आज भी सोचती हूँ।
होते मेरे निबल तन में पक्ष जो पक्षियों से।
तो यों ही मैं समुद उड़ती श्याम के पास जाती।"

प्रकृति के इन रूपों में भी अपने ढंग का अनूठा माधुर्य्य है। परन्तु मानसिक वृत्तियों में परिवर्तन होते ही यह कपूर की तरह उड़ जाता है। इसके अनन्तर प्रकृति को हम उसके साधारण रूप में देखने लगते हैं। प्रकृति का यह विशेषताशून्य रूप भी कम आकर्षक नहीं होता। ताजे खिले हुए फूल में, गुनगुन करने वाले भौंरे में, सन्ध्या और प्रभात में, तारागण तथा चन्द्रमा में, पक्षियों के कलरव में, नदियों के कलकल गान में, सांसारिक संघर्ष से थके-हारे मानव-हृदय को बहलाने की शक्ति पायी जाती है। 'प्रियप्रवास' में प्रकृति के इस रूप का चित्रण अधिकता के साथ किया गया है। वास्तव में कहा जा सकता है कि हरिऔध जी के प्रकृति-प्रेमिक हृदय ने बड़ी ही खूबी के साथ इस महाकाव्य में इस विशेषता का प्रदर्शन किया है। वृन्दावन का वर्णन इसके अनेक अच्छे उदाहरणों में से एक है। इसमें पाठक

देखेंगे कि किसी विशेष अलंकार की सहायता के बिना ही स्वभावतः कैसी सौन्दर्य्य-सृष्टि हो गयी है :—

"हरीतिमा का सुविशाल सिन्धु सा।
मनोज्ञता की रमणीय भूमि सा।
विचित्रता का शुभ सिद्ध-पीठ सा।
प्रशान्त वृन्दाबन दर्शनीय था। १।

कलोल कारी खग वृन्द कूजिता।
सदैव सानन्द मिलिन्द गुंजिता।
रहीं सुकुंजें बन में विराजिता।
प्रफुल्लिता पल्लविता लतामयी। २।

कई निराले तरु चारु अंक में।
लुभावने पल्लव लाल थे लसे।
सदैव वे थे करते विवर्द्धिता।
स्वलालिमा से वन की ललामता। ३।

प्रसून शोभी तरु पुञ्ज अंक में।
लता अनेकों लपटी प्रफुल्लिता।
जहाँ तहाँ थीं वन में विराजिता।
स्मिता समालिंगित कामिनी समा। ४।

सुदूलिता थी अति कान्त भाव से।
कहीं सएला लतिका लवंग की।
कहीं लसी थी महि मंजु अंक में।
सुलालिता सी नव माधवी लता। ५।

समीर संचालित मंद मंद हो।
कहीं दलों से करता सुकेलि था।
प्रसून वर्षा रत था कहीं हिला।

कहीं उठाता बहु मंजु वीचि यां।
कहीं खिलाता कलिका प्रसून की।
बड़े अनूठेपन साथ पास जा।
कहीं हिलाता कमनीय कंज था। ७।
असेत ऊदे अरुणाभ बैंगनी।
हरे अबीरी सित पीत संदली।
विचित्र वेशी बहु अन्य वर्ण के।
विहंग से थी लसिता वनस्थली। ८।

विकारमय व्यक्तित्व-जन्य मानव मनोवृत्ति प्रकृति का जो स्वरूप मनुष्य के सामने प्रस्तुत करती है वह उसे पूर्णता की ओर विकास के पथ पर अग्रसर नहीं करता। व्याकुलता की उत्पत्ति करके वह चित्त की चंचलता का प्रधान कारण हो जाता है। वृन्दावन के उक्त वर्णन में सरलता है, और इन त्रुटियों का सर्वथा अभाव है। परन्तु हृदय की जिस परिस्थिति की सूचना इस वर्णन में है निश्चेष्ट होकर बैठने वाली नहीं है, वह प्रकृति के साथ मनुष्य के सम्पर्क को अधिक स्वाभाविक और सरल बनाकर, दोनों के बीच में खड़े होने वाले व्यवधान का निवारण कर मनुष्य को प्रकृति के प्रति सहानुभूति के विकास का अवसर देता है। इस सहानुभूति की प्रथम अवस्था है, प्रकृति में मानवी गुणों का आरोप करना। निस्सन्देह पूर्वोक्त मनोवृत्ति में भी इस प्रवृत्ति का परिचय मिलता है, किन्तु उससे यह कुछ भिन्न है, उसका प्रभाव संहारात्मक होता है, और इसका रचनात्मक। उदाहरण के लिए नीचे की कतिपय पंक्तियाँ देखिए :—

"ऊँचा शीश सहर्ष शैल करके था देखता व्योम को।
या होता अति ही सगर्व वह था सर्वोच्चता दर्प से।
या वार्ता यह था प्रसिद्ध करता सामोद संसार में।
मैं हूँ सुन्दर मानदण्ड व्रज की शोभामयी भूमि का। १।

पुष्पों से परिशोभमान शतशः जो वृक्ष अंकस्थ थे।
वे उद्घोषित थे सदर्प करते उत्फुल्लता मेरु की।
या ऊँचा करके सपुष्प कर को फूले द्रुमों व्याज से।
श्री पद्मापति के सरोज पग को शैलेश था पूजता। २।

होता निर्भर का प्रवाह जब था सावर्त्त उद्भिन्न हो।
तो होती उसमें अपूर्व ध्वनि थी उन्मादिनी कर्ण की।
मानो यों वह था सहर्ष कहता सत्कीर्ति शैलेश की।
या गाता गुण था अचिन्त्य गति का सानन्द सत्कंठ से। ३।

गर्त्तों में गिरि कन्दरा निचय में जो वारि था दीखता।
सो निर्जीव मलीन तेजहत था उच्छ्वास से शून्य था।
पानी निर्भर का समुज्ज्वल महा उल्लास की मूर्ति था।
देता था गतिशील वस्तु गरिमा यों प्राणियों को बता। ४।

सद्भावाश्रयता, अचिन्त्यदृढ़ता, निर्भीकता, उच्चता।
नाना कौशल मूलता अटलता न्यारी क्षमा शीलता।
होता था यह ज्ञात देख उसकी शास्ता समा भंगिमा।
मानो शासन है गिरीन्द्र करता निम्नस्थ भूभाग का। ५।

ऊँचे दाड़िम से रसाल तरु थे औ आम्र से शिंशपा।
यों निम्नोच्च असंख्य पादप कसे वृन्दाटवी बीच थे।
मानों वे अवलोकते पथ रहे वृन्दावनाधीश का।
ऊँचा शीश उठा मनुष्य जनता के तुल्य उत्कण्ठ हो।" ६।

इस प्रथम अवस्था के बाद सहज रूप से द्वितीय अवस्था का विकास होता है। इसमें सहानुभूति अधिक सक्रिय रूप धारण कर लेती है और मनुष्य के दुःख से दुःखिता के रूप में अंकित की जाती है। नीचे की पंक्तियाँ इसका उदाहरण हैं:—

"देता था जल का प्रपात उर में ऐसी उठा कल्पना।
धारा है यह मेरु से प्रसवती स्वर्गीय आनन्द की।

या है भूधर सानुराग द्रवता अंकस्थितों के लिए।
आँसू है वह ढालता विरह से किम्वा व्रजाधीश के।

× × ×

कृष्ण के वियोग में—

"चिन्ता की सी कुटिल उठतीं अंक में जो तरंगें।
वे थीं मानो प्रगट करती भानुजा की व्यथाएँ।
धीरे धीरे मृदु पवन में चाव से थीं न डोलीं।
शाखाएँ भी सहित लतिका शोक से कम्पिता थीं। १।
सारा नीला सलिल सरि का शोक-छाया पगा था।
कंजों में से मधुप कढ़के घूमते थे भ्रमे से।
मानों खोटी विरह घटिका सामने देख के ही।
कोई भी थी अवनत मुखी कान्तिहीना मलीना। २।"

प्रकृति की इस सहानुभूति का काव्य में बहुत बड़ा मूल्य आँका जाता है। साधारण मनुष्य की दृष्टि में प्रकृति में चेतनता का अभाव है। ऐसी दशा में किसी के कष्ट से उसके द्रवित और दयार्द्र होने की आशा नहीं की जानी चाहिए। इसी असम्भव बात की सम्भावना की ओर पाठक का चित्त आकर्षित करके काव्य में काव्य के नायक अथवा नायिका के प्रति उसकी सहानुभूति बढ़ायी जाती तथा उनके कार्य्यों का समर्थन किया जाता है। किन्तु प्रकृति का केवल इतना ही उपयोग करना उसके वास्तविक स्वरूप से अनभिज्ञ होने का सूचक है। अँगरेज़ वर्डसवर्थ ने अपने कवि-जीवन के प्रथम चरण में प्रकृति के जड़ सौन्दर्य्य का दर्शन किया था। परन्तु क्रमशः यह सौन्दर्य्य उसकी तृप्ति नहीं कर सका। ज्यों-ज्यों उसके हृदय का विकास हुआ त्यों-त्यों वह प्रकृति में किसी ऐसी शक्ति का अनुभव करने लगा जो मनुष्य को उन्नत बनाती है; जो उसे कलुषित जीवन के वातावरण से मुक्त करती है।

'प्रियप्रवास' में भी प्रकृति के उन्नायक स्वरूप का दर्शन कराया गया है। इसी अनूठी छवि के प्रभाव ने यशोदा, राधा, तथा अन्य

गोप-गोपियों के चरित्रों को दुर्बलता से मुक्त करके विलक्षण सौन्दर्य्य प्रदान किया। यदि वे जीवन भर प्रकृति के उत्तेजक रूप को अथवा उस रूप को, जो उनकी विकृत भावना का प्रतिबिम्ब मात्र था, देखती रहतीं तो उनकी सम्पूर्ण जीवन-शक्ति का शोषण हो जाता, और बड़ी ही विडम्बना के साथ पार्थिव जगत से उनका लोप होता। साथ ही इसमें काव्य की कलात्मकता भी नष्ट हो जाती। मैं यहाँ यह नहीं कह रहा हूँ कि अपार व्याकुलता के समय प्रकृति ने राधा के कष्ट को बढ़ाने का जो कार्य्य किया था उसमें कहीं भी कला का समावेश हुआ ही नहीं; नहीं, जीवन-सरिता के प्रवाह में उत्थित और पतित प्रत्येक तरंग में सौन्दर्य्य है; राधा यशोदा की व्याकुल कल्पनाओं और पूर्व जीवन की विचलित कर देने वाली स्मृतियों में भी सौन्दर्य्य है। किन्तु इस सौन्दर्य्य को भी प्रवाहित होते रह कर उस परम सौन्दर्य्य-सागर के साथ संगम करना पड़ेगा, जिसकी ओर प्रगति करना उनके जीवन की चंचलता और जिसके साथ एकाकार उनकी चंचलता-जन्य क्लान्ति का, अमर आनंद प्रदान करने वाला, पुरस्कार है। यदि प्रकृति ने राधा की व्याकुलता को यह पुरस्कार न दिया होता तो राधा का जीवन तो असफल होता ही 'प्रियप्रवास' का जीवन भी असफल हो जाता। राधा की समस्या को हल करने वाले प्रकृति रूप का दर्शन कीजिए :—

> कंजों का या उदित शशिका देख सौंदर्य आँखों।
> कानों द्वारा श्रवण करके गान मीठा खगों का।
> मैं होती थी व्यथित अब हूँ शान्ति सानन्द पाती।
> प्यारे के पाँव मुख मुरली नाद जैसा उन्हें पा।"

प्रकृति ने अपने ही रूप में राधा को उनके प्रियतम का दर्शन करा दिया। इस दिव्य दर्शन से प्रकृति के नगण्य पदार्थ का महत्त्व बढ़ गया; राधा की दृष्टि में उसका अपरिमित मूल्य हो गया। किन्तु प्रकृति यहीं नहीं रुक गयी; उसने अपने रूप में प्रियतम ही का नहीं, विश्व-नियन्ता भगवान का भी दर्शन कराया।

'प्रियप्रवास' में, प्रकृति के सहयोग से, उसके माता के से वात्सल्य-मय अंक में, पोषण पाकर राधा का जैसा विकास किया गया है वह हरिऔध को सच्चे कलाकार के पद पर आसीन करता है। उनके इस अंकन का हिन्दी-साहित्य में कितना ऊँचा मूल्य आँका जाना चाहिए, इसकी विशेष चर्चा अन्यत्र की जायगी। यहाँ केवल इतना ही निवेदन है कि भौतिक दृष्टिकोण और आधुनिक युग की आत्मा को संतुष्ट करने वाला, 'मनुष्य प्रकृति', और परमात्मा का जैसा सुन्दर समन्वय 'प्रियप्रवास' में देख पड़ता है, वैसा हिन्दी-साहित्य में अन्यत्र देखने में नहीं आता।

'प्रियप्रवास' का संदेश

'प्रियप्रवास' राधा और कृष्ण की वियोगान्त प्रणय-कथा है। वियोग की सृष्टि द्वारा हरिऔध ने प्रणय का माधुर्य्यपूर्ण और उन्नायक स्वरूप पाठक को हृदयंगम कराने की चेष्टा की है। यदि वियोग का वातावरण निर्म्माण न किया गया होता, तो यशोदा और राधा के मनोहर व्यक्तित्व-विकास की छटा हमें कहाँ दृष्टिगोचर हो सकती ? वियोग सहज रूप से ही चित्ताकर्षक और हृदय-स्पर्शी होता है, फिर जब उसे एक कुशल कलाकार की हृदय-द्राविणी लेखनी का सहयोग प्राप्त हो तब उसके प्रभाव का क्या कहना !

हिन्दी-साहित्य के मध्यकालीन कृष्ण-काव्यकारों को राधा-कृष्ण का वियोग प्रस्फुटित करने में बड़ी सुविधा थी। वे कृष्ण को परब्रह्म मान कर चलते थे। गोपियाँ, जिनमें राधा भी शामिल थीं, मोह-मग्ना थीं ही। ऐसी अवस्था में यदि मथुरा से कृष्ण ने ज्ञान और योग का सन्देश भेज दिया तो कोई आश्चर्य्य की बात नहीं थी। परब्रह्म परमात्मा को तो प्रत्येक क्षण यही संदेश मानव-हृदय के सम्मुख प्रस्तुत करना ही चाहिए।

हरिऔध जी ने कृष्ण को परब्रह्म रूप में नहीं, मनुष्य रूप में अंकित किया है। उनके कृष्ण जाति-हितैषी हैं, त्यागशील भी हैं, परन्तु साथ ही प्रेमिक भी हैं। उन्होंने व्रज में गोपिकाओं के साथ जैसा प्रेमपूर्ण व्यवहार किया था उसे देखते हुए, उनकी मानवता को ध्यान में रखते हुए, यह स्वीकार करना पड़ेगा कि यदि उन्होंने उक्त कवियों के कृष्ण की भाँति ज्ञान और योग संदेश भेज दिया होता तो उनके लिए यह अस्वाभाविक और असंगत होता। इसलिए यह ठीक ही है कि कृष्ण जी गोपियों के सम्मुख अपनी कार्य्य-व्यस्तता और

विवशता का कारण पेश करें और प्रेम-मूर्ति राधा आदि को स्वार्थ-त्याग का संदेश दें। स्वभावतः कोई साधारण कारण न तो प्रभावशाली ही हो सकता है और न श्रीकृष्ण के महान् चरित्र के साथ संगत ही होगा। श्रीकृष्ण वास्तव में वसुदेव और देवकी के पुत्र थे। कंस के मारे जाने के बाद वसुदेव और देवकी के मार्ग का वह कंटक हट गया था, जो अब तक उनके पावों में गड़कर शूल उत्पन्न किया करता था। इस नवीन परिस्थिति में यदि वे श्रीकृष्ण को अपने पास रोक लें तो उनका यह कार्य्य स्वाभाविक ही था। साथ ही राज्य के नवीन अधिपति को कुछ राज्य-संगठन-सम्बन्धी सहायता देना भी उनके लिए आवश्यक हो सकता था। मथुरा के शासक के अच्छे या बुरे प्रबन्ध पर बहुत सी प्रजा का सुख-दुःख निर्भर हो सकता था और ब्रजवासियों पर भी उसका प्रभाव पड़ सकता था। अतएव कृष्ण के ब्रज में न जा सकने का यह एक सबल कारण था। इसके लिए श्रीकृष्ण ने यदि स्वार्थ-त्याग किया और गोपियों को भी वैसा ही करने के लिए प्रेरित किया तो यह सर्वथा प्रशंसनीय है। उनका चिन्तित हृदय और खिन्न मनोभाव नीचे के पद्यों में प्रतिबिम्बित है:—

"प्राणी है यह सोचता समझता मैं पूर्ण स्वाधीन हूँ
इच्छा के अनुकूल-कार्य्य सब मैं हूँ साध लेता सदा।
ज्ञाता हैं कहते मनुष्य वश में है काल कर्म्मादि के।
होती है घटना-प्रवाह-पतिता स्वाधीनता-यंत्रिता। १।

देखो यद्यपि है अपार ब्रज के प्रस्थान की कामना।
होता मैं तब भी निरस्त नित हूँ नाना द्विधा में पड़ा।
ऊधो दग्ध वियोग से ब्रजधरा है हो रही नित्यशः।
जाओ सिक्त करो उसे सदय हो आमूल ज्ञानाम्बु से। २।

मेरे हो तुम बंधु विज्ञवर हो आनन्द की मूर्ति हो।
क्यों मैं जा ब्रज में सका न अब लौं हो जानते भी इसे।
कैसी हैं अनुरागिनी हृदय से माता पिता गोपिका।
प्यारे है यह भी छिपी न तुम से जाओ अतः प्रात ही। ३।

जैसे हो लघु वेदना हृदय की औ दूर होवे व्यथा।
पावें शान्ति समस्त लोग न जलें मेरे वियोगाग्नि में।
ऐसे ही वर ज्ञान तात ब्रज को देना बताना क्रिया।
माता का सविशेष तोष करना औ वृद्ध गोपेश का" ।४।

'प्रियप्रवास' की कथा का विकास भी आकर्षक है। आरम्भ ही में हमें श्रीकृष्ण का एक मनोहर चित्र देखने को मिलता है; वे संध्या समय ग्वालों और गायों के साथ वृन्दावन से ब्रज की ओर लौटते हुए अंकित किये जाते हैं। उस अनुपम शोभा का रसास्वादन करने वाले ब्रजवासियों के सुख से हमें ईर्ष्या होने लगती है। परन्तु, खेद है, यह ईर्ष्या चिरजीवनी नहीं हो पाती, प्रथम सर्ग के अन्त में निम्नलिखित पंक्तियों को पढ़ कर वह शोक के रूप में परिणत हो जाती है :—

"विशद चित्रपटी ब्रज भूमि की।
रहित आज हुई वर चित्र से।
छवि यहाँ पर अंकित जो हुई।
अहह लोप हुई सब काल को।"

विषाद की छाया क्रमशः प्रगाढ़ ही होती जाती है। ज्यों-ज्यों हम आगे बढ़ते हैं त्यों-त्यों शोक-सामग्री की प्रचुरता ही दिखायी पड़ती है :—

"तिमिर था घिरता बहु नित्य ही।
पर घिरा तम जो निशि आज की।
वह विषाद-तमिस्र अहो कभी।
रहित हो न सका ब्रज भूमि से। १।
ब्रज धरा जन के उर आल जो।
विरह-जात लगी यह कालिमा।
तनिक धो न सका उसको कभी।
नयन का बहु वारि-प्रवाह भी। २।

सुखद थे यहु जो जन के लिए।
फिर नहीं ब्रज के दिन वे फिरे।
मलिनता न समुज्वलता हुई।
दुख निशा न हुई सुख की निशा। ३।

कवि की इन पूर्व सूचनाओं के कारण हम चिन्तापूर्ण उत्कण्ठा के साथ राधा-कृष्ण के प्रेम-परिणाम का पता पाने के लिए बढ़ते हैं। यद्यपि शब्द और पद के अर्थ को उलटा समझना पाठक ही की मूर्खता है, पर घबराहट और सहानुभूति ऐसी वस्तुयें हैं कि वे बुद्धिमान को भी मूर्ख बना डाला करती हैं। इस दशा में कवि का निश्चित संकेत होने पर भी, उसके साफ़ साफ़ कहने पर भी यदि पाठक के हृदय में यह आशा बनी ही रहे कि कृष्ण जी ब्रज में भले ही न आवें, प्रथम सर्ग में वर्णित दृश्य सर्वदा के लिए भले ही लोप हो जाय, किन्तु यह हो नहीं सकता कि राधा और कृष्ण फिर जीवन में कभी मिले ही न हों, परन्तु वही होता है जिसका होना पाठक नहीं चाहता। नवम सर्ग में जब कृष्ण जी उद्धव को बुला कर उन्हें गोपियों को ज्ञान देने के लिए भेजते हैं, तभी से निराशा उत्पन्न होने लगती है। किन्तु सत्रहवें सर्ग में जब हम पढ़ते हैं कि—

'उत्पातों से मगधपति के श्याम ने व्यग्र हो के।
त्यागा प्यारा नगर मथुरा जा बसे द्वारिका में।'

और जब अन्तिम सर्ग के अन्त में कवि की यह सूचना मिलती है :—

तो भी आई न वह घटिका औ न वे वार आये।
वैसी सच्ची सुखद ब्रज में वायु भी आ न डोली।
वैसे छाये न घन रस की स्रोत सी जो बहाते।
वैसे उन्माद कर स्वर से कोकिला भी न बोली।

(तब)

'जैसे बीते शरद ऋतु है घेर लेती निराशा।
स्वाती सेवी अतिशय तृषा से तचे चातकों को।

वैसे ही हम भी हताश हो जाते हैं।

अब विचारणीय यह है कि 'प्रियप्रवास' के द्वारा हरिऔध जी ने पाठकों के सामने कौनसा संदेश प्रस्तुत किया है? उसमें क्या नूतनता है?—इस प्रश्न पर भी कुछ विचारना आवश्यक है। यह निर्विवाद है कि पूर्णत्व की ओर मानव व्यक्तित्व के अग्रसर होने की समस्या ही उसमें हल की गयी है; मोह-मग्ना राधा के हृदय ने किस प्रकार ईश्वरानुभूति का प्रकाश पाया इसी की कहानी उसमें कही गयी है। श्रीकृष्ण स्वयं भी इसी पूर्णता की ओर प्रगतिशील होने के निमित्त अपनी प्रिय इच्छाओं का दमन करके मानव-हित में संलग्न और त्यागशील देखे जाते हैं। वे अपने आँसुओं को पोंछ कर, आहों को दबा कर देश-सेवा करते हैं। मानव-हित के निमित्त अधिक से अधिक अनासक्ति, कष्ट-सहन-तत्परता भी सत्य की आराधना के लिए एक सुन्दर मार्ग है; 'प्रियप्रवास' का एक संदेश तो यही है।

राधा की ईश्वरानुभूति इस पथ से नहीं आयी। वे स्वयं कहती हैं:—

"पायी जाती विविध जितनी वस्तुयें हैं सबों में।
मैं प्यारे को अमित रँग औ रूप में देखती हूँ।
तो मैं कैसे न उन सब को प्यार जी से करूँगी।
यों है मेरे हृदय-तल में विश्व का प्रेम जागा। १।
जो जाने से हृदय-तल का भाव ऐसा निराला।
मैंने न्यारे परम गरिमावान दो लाभ पाये।
मेरे जी में अनुपम महा विश्व का प्रेम जागा।
मैंने देखा परम प्रभु को स्वीय प्राणेश ही में"। २।

विश्व-रूप परम प्रभु के सम्बन्ध में उनके विचार निम्नलिखित पंक्तियों में मिलते हैं:—

शास्त्रों में है कथित प्रभु के शीश औ लोचनों की।
संख्याएँ हैं अमित पग औ हस्त भी हैं अनेकों।
सो हो के भी रहित मुख से नेत्र नासादिकों से।
छूता खाता श्रवण करता देखता सूँघता है। १।

जो आता है न मन चित में जो परे बुद्धि के है।
जो भावों का विषय नहिं है नित्य अव्यक्त जो है।
है वेदों की न गति जिसमें इन्द्रियातीत जो है।
सो क्या है मैं अबुध अबला जान पाऊँ उसे क्यों। २।

ज्ञाताओं ने विशद इसका मर्म्म यों है बताया।
सारे प्राणी अखिल जग के मूर्तियाँ हैं उसी की।
होतीं आँखें प्रभृति उनकी भूरि संख्यावती हैं।
सो विश्वात्मा अमित नयनों आदिवाला अतः है। ३।

ताराओं में तिमिर हर में वह्नि में औ शशी में।
पायी जाती परम रुचिरा ज्योतियाँ हैं उसी की।
पृथ्वी पानी पवन नभ में पादपों में खगों में।
देखी जाती प्रथित प्रभुता विश्व में व्याप्त की है। ४।

मैंने बातें कथन जितनी शास्त्र-विज्ञात की हैं।
वे बातें हैं प्रगट करती ब्रह्म है विश्व-रूपी।
पाती हूँ विश्व प्रियतम में विश्व में प्राणप्यारा।
ऐसे मैंने जगत पति को श्याम में है विलोका। ५।

शास्त्रों में है लिखित प्रभु की भक्ति निष्काम जो है।
सो दिव्या है मनुज तन की सर्व-संसिद्धियों से।
मैं होती हूँ सुखित यह जो तत्वतः देखती हूँ।
प्यारे की औ परम प्रभु की भक्तियाँ हैं अभिन्ना। ६।"

इस विश्व-रूप परम-प्रभु की सेवा की विधि में भी विशेषता है। परमात्मा की उपासना के जो अनेक पथ हैं उनमें मूर्तिपूजा भी एक है। इस उपासना-प्रणाली का अनुयायी रह कर मनुष्य लोक-सेवा से सर्वथा

विमुख हो सकता है। उदाहरण के लिए शंकर के भक्त का अपने चारों ओर पीड़ित जनता के हाहाकार के प्रति उदासीन होकर पड़ा रहना आश्चर्य्यजनक नहीं कहा जा सकता। किन्तु जिसने विश्व ही को ईश्वर माना है और उसकी उपासना का व्रत लिया है वह लोक-सेवा की अवहेलना किस प्रकार कर सकता है ?

ईश्वरभक्तों ने भक्ति की नौ श्रेणियाँ बनायी हैं :—(१) श्रवण-अभिधा भक्ति (२) कीर्त्तनोपाधि भक्ति, (३) वन्दनाख्या भक्ति, (४) दासता संज्ञका भक्ति, (५) स्मरण-अभिधा भक्ति, (६) आत्म-निवेदन-भक्ति, (७) अर्चना संज्ञका भक्ति, (८) सख्य नाम्नी भक्ति, (९) पदसेवनाख्या भक्ति। भक्ति की इन श्रेणियों की क्षेत्र-सीमा इनके नामों से ही प्रकट है। मूर्ति द्वारा ईश्वरोपासना में संलग्न भावुकगण अपनी भक्ति की इन विविध चेष्टाओं को उपास्यदेव ही तक सीमित रखते हैं। परन्तु राधा ने तो विश्व ही को अपना उपास्यदेव मान लिया है। ऐसी दशा में हमें देखना चाहिए कि राधा अपनी उपासना में इन नवो श्रेणियों को कौन कौन सा कार्य्य प्रदान करेंगी वे उद्धव से कहती हैं :—

"जी से सारा कथन सुनना आर्त्त-उत्पीड़ितों का।
रोगी प्राणी व्यथित जन का लोक उन्नायकों का।
सच्छास्त्रों का श्रवण सुनना वाक्य सत्संगियों का।
मानी जाती श्रवण अभिधा-भक्ति है सज्जनों में। १।

सोये जागें तम-पतित की दृष्टि में ज्योति आवे।
भूले आवें सुपथ पर औ ज्ञान-उन्मेष होवे।
ऐसे गाना कथन करना दिव्य न्यारे गुणों का।
है प्यारी भक्ति प्रभुवर की कीर्त्तनोपाधि वाली। २।

विद्वानों के स्वगुरु जन के देश के प्रेमिकों के।
ज्ञानी दानी सुचरित गुणी सर्व तेजस्वियों के।
आत्मोत्सर्गी विबुध जन के देव-सद्विग्रहों के।
आगे होना निमत प्रभु की भक्ति है वन्दनाख्या। ३।

जो बातें हैं भवहितकरी सर्वभूतोपकारी।
जो चेष्टाएँ मलिन गिरती जातियों को उठातीं।
हाथों-बाँधे सतत उनके अर्थ उत्सर्ग होना।
विश्वात्मा भक्ति भव सुखदा दासता संज्ञका है। ४।

कंगालों की विवश विधवा औ अनाथाश्रितों की।
उद्विग्नों की सुरति करना औ उन्हें त्राण देना।
सत्कार्य्यों का पर हृदय की पीर का ध्यान आना।
भाखी जाती स्मरण अभिधा भक्ति है भावुकों में। ५।

विपद-सिन्धु पड़े नर-वृन्द के।
दुख निवारण औ हित के लिए।
अरपना अपने तन प्राण का।
प्रथित आत्म-निवेदन-भक्ति है। ६।

संत्रस्तों को शरण मधुरा शान्ति-सन्तापितों को।
निर्बोधों को सुमति विविधा औषधी पीड़ितों को।
पानी देना तृषित जन को अन्न भूखे नरों को।
सर्वात्मा भक्ति अति रुचिरा अर्चना संज्ञका है। ७।

नाना प्राणी तरु गिरिलता बेलि की बात ही क्या।
जो है भूमें गगन तल में भानु से मृत्कणों लौं।
सद्भावों के सहित उनसे कार्य्य प्रत्येक लेना।
सच्चा होना सुहृद उनका भक्ति है सख्य नाम्नी। ८।

जो प्राणि पुंज निजकर्म्म-निपीड़नों से।
नीचे समाज-वपु के पग लौं पड़ा है।
देना उसे शरण मान प्रयत्न द्वारा।
है भक्ति लोक-पति की पद सेवनाख्या। ९।

विश्व-भक्ति का यह निरूपण करने के अनन्तर राधा अन्त में कहती हैं:—

"कह चुकी प्रिय साधन ईश का।
कुँवर का प्रिय-साधन है यही।
इसलिये प्रिय की परमेश की।
परम पावन भक्ति अभिन्न है।"

श्रीमती राधिका के वदनारविंद से निकले संदेश को आपने सुना। अब श्रीकृष्णचन्द्र के श्रीमुख से प्रसूत इन कतिपय पंक्तियों को देखिए :—

"जो होता है निरत तप में मुक्ति की कामना से।
आत्मार्थी है न कह सकते हैं उसे आत्मत्यागी।
जी से प्यारा जगत-हित औ लोक सेवा जिसे है।
प्यारी सच्चा अवनि-तल में आत्म-त्यागी वही है। १।
है आत्मा का न सुख किसको विश्व के मध्य प्यारा।
सारे प्राणी सरुचि इसकी माधुरी में बँधे हैं।
जो होता है न वश इसके आत्म उत्सर्ग द्वारा।
ऐ कान्ते है सफल अवनी मध्य आना उसी का"। २।

× × × ×

इच्छा आत्मा परम हित की मुक्ति की उत्तमा है।
वांछा होती विशद उससे आत्म उत्सर्ग की है। ३।

'प्रियप्रवास' में जगत-हित, समाज-सेवा, आत्मत्याग और ईश्वरानुभूति के अतिरिक्त प्रकृति-सम्पर्क की उपयोगिता का महत्व भी अंकित किया गया है। जैसा राधा ने किया था, उन्हें हम अपने विषाद के उत्तेजक रूप में न देखें और न व्याकुलता-जनित अपनी दूषित दृष्टि उन पर डाल कर कल्पित भयावह छाया से डरें। हम प्रकृति के साथ मैत्री-स्थापन करें और उसकी सहानुभूति अर्जित करके अपनी विकलता का शमन करें। मनुष्य की स्वार्थपरता से खिन्न हृदय को संजीवनी शक्ति प्रदान करके प्रकृति निराशा के विषैले प्रभाव से बचाती है।

'प्रियप्रवास' में एक अन्य संदेश का अंकन भी है। वह राधाकृष्ण की वियोग-कथा कह कर ही मौन नहीं हो जाता, वह सांसारिक जीवन

के एक महत्त्वपूर्ण तथ्य की ओर हमारा ध्यान आकर्षित करता है वह तथ्य जो समय द्वारा भावुकतापूर्ण बाल्यकालीन प्रेम की प्रखरता और प्रगाढ़ता नष्ट होने में प्रकट होता है। जो प्रेमी एक दूसरे को गलबाँही दिये हुए घूमते और संसार-सुख लूटते हैं उनसे ही पूछिए कि क्या कालान्तर में उनके प्रेम की आग ठंढी नहीं पड़ जाती ? वे ही बतावें कि क्या वे आनन्दपूर्ण घड़ियाँ जब वे एक दूसरे के प्रति प्रेम का अनुभव करते तथा आँखों की भावुकता और शब्दों की विह्वलता-द्वारा अपने आन्तरिक अनुराग की प्रगाढ़ता का परिचय देते और पाते हैं, क्या जीवन में फिर कभी आती हैं ? यह एक निष्ठुर तथ्य है कि हमारे जीवन में जो रस एक बार बरस गया वह सदा के लिए गया। हम दीन शक्तिहीन मनुष्य आहें भरा करें, आँखों से आँसू बहाया करें, किन्तु काल एक न एक दिन हमारा सर्वस्व ही लूट लेता है। या तो वह हमारे प्रेमपात्र को सदा के लिए छीन कर हमें रुलाता है या उसे हमारे साथ रहने देते हुए भी उसके हृदय को ठंढा कर देता है और यदि उसके हृदय में सरसता रहने भी देता है तो हमीं को प्रेम-रसानुभाव के अयोग्य बना डालता है। 'प्रियप्रवास' के प्रथम सर्ग में जैसा दृश्य अंकित हुआ है वैसा दृश्य एक बार मनुष्य मात्र के जीवन में दिखलायी पड़ता है और अन्त में जैसी उदासी ब्रज में छायी वैसी ही मनुष्य मात्र के हृदय में छाया करती है। 'प्रियप्रवास' इन्हीं भावनाओं को जगा कर हमारे हृदय को संसार की विचित्रता का हृदय-स्पर्शी अनुभव कराता है।

ब्रज के विषाद का प्रतिबिम्ब अपने जीवन में, अपने हृदय में पाकर हम उन्हीं की तरह व्याकुल होते हैं और जब परमात्मा का दूत बन कर ज्ञान हमारी रक्षा करना चाहता है, हमारे व्यक्तित्व का विस्तार करके हमारे उन क्लेशों का नाश करना चाहता है, जो हमारी परिमित अवस्था के कारण उत्पन्न होते हैं तब हमारी कातरतापूर्ण दृष्टि जीवन के सरस कवित्वपूर्ण बाल्यकालीन अथवा यौवन-काल-सम्बन्धी सुखों की ओर चली ही जाती है। उन आनन्दों की सरसता का ध्यान सूखे ज्ञान-पथ

की ओर चलने से हमें विरत करता है। परन्तु ज्ञान हमें तभी नीरस जान पड़ता है, उसका स्वरूप हमें तभी प्रखर प्रतीत होता है, जब वह एकाएक असंवद्ध रूप से हमारे सामने आता है। यदि हमारी वेदना की अवस्था कुछ काल तक बनी रहे, यदि निरन्तर कुछ समय तक हमें विकल होना और छटपटाना पड़े तो हम देखेंगे कि ज्ञान भी हमारा मित्र और हितैषी है तथा उसकी मूर्ति में सरसता और माधुर्य्य है, क्योंकि काल का आश्रय ग्रहण करके, सच पूछिए तो, प्राकृतिक नियम हमें सहज रूप से ज्ञान के पथ पर ले चलने में सयत्न होते हैं। ज्ञान का सदेश स्वीकार कर लेने पर हमें भी अपने स्वार्थ का ध्यान नहीं रह जायगा; हम भी परोपकार-चिन्ता के समुद्र से शान्ति-श्री को प्राप्त करके धन्य-जीवन हो जायँगे।

'प्रियप्रवास' में हरिऔध की काव्य-कला के साधन

'रस-कलस' में पाठकों ने हरिऔध की काव्य-कला के जिन साधनों का परिचय प्राप्त किया था वे थोड़े-बहुत परिवर्तन तथा उपयोग की मात्रा में किंचित अधिकता अथवा न्यूनता के साथ 'प्रियप्रवास' में भी पाये जाते हैं। शब्दालंकारों की योजना देखिए :—

१—छेकानुप्रास

"छलकती मुख की छवि पुंजता,
छिटकती छिति में तन की छटा।
बगरती बर दीप्ति दिगन्त में,
छितिज की छनदाकर-कान्ति लौं। १।

बहु विनोदित थी ब्रज बालिका,
तरुणियाँ सब थीं तृण तोड़ती।
बलि गयीं बहु बार वयोवती,
लख मनोहरता ब्रजचन्द की"। २।

२—वृत्यनुप्रास

"कमल लोचन क्या कल आ गये।
पलट क्या कुकपाल क्रिया गयी।
किस लिए ब्रज कानन में उठी।
मुरलिका नलिका-उर-बालिका। १।

किस तपोबल से किस काल में,
सच बता मुरली कल नादिनी।
अवनि में तुझको इतनी मिली,
मधुरता, मृदुता, मनहारिता। २।

वसंत को पा यह शान्त वाटिका,
स्वभावतः कान्त नितान्त थी हुई।
परन्तु होती उसमें सशान्ति थी।
विकाश की कौशलकारिणी क्रिया। ३।

अतीव थी कोमल कान्ति नेत्र की।
परन्तु थी शान्ति विषाद-अंकिता।
विचित्र मुद्रा मुख-पद्म की मिली।
प्रफुल्लता-आकुलता-समन्विता। ४।

प्रसादिनी पुष्प सुगंध-वर्द्धिनी।
विकाशिनी-वेलि, लता-विनोदिनी।
अलौकिकी थी मलयानिली क्रिया।
विमोहिनी-पादप पंक्ति मोदिनी। ५।

अति जरा विजिता बहु चिन्तिता।
विकलता ग्रसिता सुख वंचिता।
सदन में कुछ थीं परिचारिका।
अधिकृता कृशता अवसन्नता"। ६।

३—वृत्यनुप्रास

संसार में सकल काल नृरत्न ऐसे।
हैं हो गये अवनि है जिनकी कृतज्ञा।

सारे अपूर्व गुण हैं हरि के बताते।
सच्चे नृरत्न वह भी इस काल के हैं। १।

कल मुरलि निनादी लोभनीयांग शोभी।
अलि कुल मति लोपी कुन्तली कान्ति शाली।
अयि पुलकित अंके आज लौं क्यों न आया।
वह कलित कपोलों कान्त आलाप वाला। २।

सबुद्बुदा फेनयुता सुशब्दिता।
अनन्त आवर्त्तमयी प्रफुल्लिता।
अपूर्वता अन्वित थी प्रवाहिता।
तरंग मालाकुलिता कलिन्दजा। ३।

लीलाकारी ललित गलियों लोभनीयालयों में।
क्रीड़ाकारी कलित कितने केलिवाले थलों में।
कैसे भूला व्रज अवनि को कूल को अर्कजा के।
क्या थोड़ा भी हृदय मलता लाडिले का न होगा।४।

४—यमक

वर वदन विलोके फुल्ल अंभोज ऐसा।
करतल गत होता व्योम का चन्द्रमा था।
मृदु रव जिसका है रक्त सूखी नसों का।
वह मधुमय कारी मानसों का कहाँ है ?। १।

रसवती रसना कर के कहाँ,
कथित थी कथनीय गुणावली।
मधुर राग-सधे स्वर-ताल में,
कलित कीर्त्ति अलापित थी कहीं। २।

'प्रियप्रवास' में 'रस-कलस' की अपेक्षा शब्दालंकारों का प्रयोग कम दिखायी पड़ता है। किन्तु जहाँ इस दिशा में कमी हुई है वहाँ अर्थालंकारों के प्रयोग की दिशा में उल्लेखनीय वृद्धि भी हो गयी है। नीचे अर्थालंकृतिपूर्ण कुछ पद्य दिये जाते हैं:—

१—उपमा

बैठे नीचे जिस विटप के श्याम होवें उसी का।
कोई पत्ता निकट उनके नेत्र के ले हिलाना।
यों प्यारे को विदित करना चातुरी से दिखाना।
मेरे चिन्ता-विजित चित का क्लान्त हो काँप जाना। १।

हरीतिमा का सुविशाल सिन्धु सा।
मनोज्ञता की रमणीय भूमि सा।
विचित्रता का शुभ सिद्ध पीठ सा।
प्रशान्त वृन्दावन दर्शनीय था। २।

मृदुल कुसुम सा है औ तुने तूल सा है।
नव किशलय सा है स्नेह के उत्स सा है।
सदय हृदय ऊधो श्याम का है बड़ा ही।
अहह हृदय मा के तुल्य तो भी नहीं है। ३।

२—उत्प्रेक्षा

यह अभावुकता तम पुंज की।
सह सकी नहिं तारक-मण्डली।
वह विकास-विवर्द्धन के लिए।
निकलने नभ-मण्डल में लगी। १।
तदपि दर्शक-लोचन-लालसा।
फलवती न हुई तिलमात्र भी।
सदन भी लखते यह दीनता।
मचलने [illegible] भी लगी। २।

सब नभतल तारे जो उगे दीखते हैं।
वह कुछ ठिठके से सोच में क्यों पड़े हैं।
ब्रज दुख लख के हो क्या हुए हैं दुखारी।
कुछ व्यथित बने से या हमें देखते हैं। ३।

सखि! मुख, अब तारे क्यों छिपाने लगे हैं?
वह दुख लखने की ताब क्या हैं न लाते।
परम विफल होके आपदा टालने में।
वह मुख अपना हैं लाज से क्या छिपाते? ४।

क्षितिज-निकट कैसी लालिमा दीखती है?
वह रुधिर रहा है कौनसी कामिनी का?
विहग विकल हो हो बोलने क्यों लगे हैं?
सखि! सकल दिशा में आग सी क्यों लगी है? ५।

३—अपह्नुति

विपुल नीर बहाकर नेत्र से।
मिष कलिन्द-कुमारि-प्रवाह के।
परम कातर हो रह मौन ही।
रुदन थी करती ब्रज की धरा। १।

बढ़ा स्वशाखा-मिष हस्त प्यार का।
दिखा घने पल्लव की हरीतिमा।
परोपकारी जन-तुल्य सर्वदा।
सशोक का शोक अशोक मोचता। २।

४—संदेह

थोड़ी लाली पुलकितकरी पंखड़ी मध्य जो है।
क्या सो वृन्दा-विपिन-पति की प्रीति की व्यंजिका है।
जो है तो तू सरस रसना खोल ले औ बता दे।
क्या तू भी है प्रिय गमन से यों महाशोक-मग्ना। १।

क्या तू भी है रुदन करती यामिनी-मध्य यों ही।
जो पत्तों में पतित इतनी वारि की बूँदियाँ हैं।
पीड़ा-द्वारा मथित उर के प्रायशः काँपती है।
या तू मेरी मृदु पवन से मन्द आन्दोलिता है। २।
आ के तेरे निकट कुछ भी मोद पाती न मैं हूँ।
तेरी सौंधी महँक मुझको कष्टिता है बनाती।
क्यों होती है सुरभि सुखदा माधवी मल्लिका की।
क्यों तेरी है दुखद मुझको पुष्प बेला बता तू।

इन थोड़े से उदाहरणों से ही स्पष्ट हो जायगा कि 'प्रियप्रवास' की रचना करने के समय हरिऔध जी की कला प्रौढ़ विकास-सम्पन्न हो गयी थी: उसमें यथेष्ट गम्भीरता का समावेश हो चुका था। 'रस-कलस' के अधिकांश पद्यों में उन विचारों और भावों को भी हरिऔध जी मूर्त रूप प्रदान नहीं कर सके थे जो 'ठेठ हिन्दी का ठाट' और 'अध-खिला फूल' में अंकुरित होकर अधिक विकास की अपेक्षा कर रहे थे। यह सच है कि उन्होंने लोकप्रेमिका आदि नायिकाओं का चित्रण करके एक विशेषता उत्पन्न की थी। परन्तु रीति-ग्रन्थ की शैली और उसके क्षेत्र ने उनकी कला के हाथ-पाँव बाँध दिये थे और कई वर्षों बाद जब 'प्रियप्रवास' का उन्मुक्त वातावरण उसे प्राप्त हुआ तभी संकोच से त्राण पाकर वह विस्तारोन्मुख हुई। इस दृष्टि से यह कहा जा सकता है कि 'प्रियप्रवास' हरिऔध जी की कला की उन्नति का अन्तिम सोपान है, इसके बाद दूसरी ही दिशा में उसकी गति आरम्भ हो गयी।

चतुर्थ खण्ड ।

हरिऔध जी की काव्य-रचना के क्षेत्र में एक नवीन विकास

'अधखिला फूल' में जिन थोड़े से चौपदों का समावेश किया गया है उन्हीं का विकसित स्वरूप हमें हरिऔध जी के 'बोलचाल', 'चोखे-चौपदे' और 'चुभते चौपदे' में मिलता है। इन ग्रंथों के विषय, छन्द, भाषा आदि की दिशा में परिवर्तन हो जाने से 'प्रियप्रवास' और इसके बीच एक बहुत बड़ी खाईं सी दिखायी पड़ने लगती है। किन्तु वास्तव में इस खाईं का अस्तित्व हमारी कल्पना ही में है। जिस लेखनी ने 'प्रियप्रवास' की रचना की उसीने चौपदों की सृष्टि भी की, यह बात तब असंगत न जान पड़ेगी, जब हम हरिऔध जी की संस्कृत और फ़ारसी शिक्षा के कारण प्रस्फुटित होने वाले उनके संस्कारों पर दृष्टि रक्खें। अस्तु।

हिन्दी-साहित्य में चौपदों को क्या स्थान मिल सकता है, इस सम्बन्ध में कुछ कथन करने के पूर्व मैं उस प्रवृत्ति का थोड़ा-सा विकास दिखा देना चाहता हूँ, जो हिन्दी-साहित्य के आदि काल से ही हिन्दू और मुस्लिम संस्कृतियों के एक दूसरे के सन्निकट आने के कारण उसमें विद्यमान रही है तथा क्रमशः बल संग्रह करती गयी है।

भारतवर्ष में मुसलमानों के आगमन के अनन्तर जब उनका और हिन्दुओं का सम्मिलन सामाजिक जीवन क्षेत्र में होने लगा तब इसका प्रभाव सब से पहले हिन्दी भाषा में फ़ारसी और अरबी शब्दों के प्रवेश के रूप में प्रगट हुआ। धीरे-धीरे ये शब्द साहित्यिक भाषा में भी स्थान पाने लगे। हिन्दी कवियों की कतिपय रचनाओं को पाठक देखें।

१—सुनि गज्जने अवाज चढ़यो साहाबदीनवर।
खुरासान मुलतान कास काविलिय मीर धुर।
जंग जुरन जालिम जुझार भुज सारभार भुअ।
धर धमंकि भजि सेस गगन रवि लुप्पि रैन हुअ।
उलटि प्रवाह मनौ सिन्धु सर रुक्कि राह अड्डौ रहिय।
तिहि धरिय राज प्रथिराज सौं चन्द वचन इहिविधि कहिय।

× × ×

खुरासान मुलतान खंधार मीरं।
बलक सोवलं चूक अच्चूक तीरं।
रुहंगी फिरंगी हलंबी समानी।
ठटी ठट्ट बल्लोच ढालं निसानी।
मँजारी चखी मुक्ख जम्बक्क लारी।
हजारी हजारी हुकें जोध भारी।
एराकी अरब्बी पटी तेज ताजी।
तुरक्की महाबान कम्मान बाजी।
एसे सौन अगवार अग्गोल गोलं।
भिरे जुन जेते मुतत्ते अमोलं।
तिनं मद्धि मुलतान साहाब आपं।
इसे रूप मे फौज बरनाय जापं।
तिनं घेरियं राज प्रथिराज राजं।
तिसे घोर घन घोर नीसान बाजं।

—चन्दबरदाई

२—[illegible]
[illegible]

—[illegible]

३—मुरशिद नैनों बीच नबी है
स्याह सपेद तिलों बिच तारा अविगत अलख रबी है।
आँखी मद्धे पाँखी चमकै पाँखी मद्धे द्वारा।
तेहि द्वारे दुरबीन लगावै उतरे भौ जल पारा।
सुन्न सहर में बास हमारा तहँ सरवंगी जावै।
साहब कबिर सदा के संगी शब्द महल ले आवै।

—कबीरदास

४—हे री मैं तो प्रेम दिवाणी मेरा दरद न जाणे कोय।
सूली ऊपर सेज हमारी किस विधि सोणा होय।
गगन मंडल पै सेज पिया की किस विध मिलणा होय।
घायल की गति घायल जानै की जिन लायी होय।
जौहरी की गति जौहरी जानै की जिन जौहर होय।
दरद की मारी बनबन डोलूँ बैद मिला नहिं कोय।
मीरा की प्रभु पीर मिटैगी जब बैद सँवलिया होय।

—मीराबाई

५—मित्रां दोस्त माल धन छड्डि चले अति भाइ।

—नानक

६—अद्भुत एक अनूपम बाग।
जुगल कमल पर गजवर क्रीड़त तापर सिंह करत अनुराग।

—सूरदास

७—गई बहोरि गरीबनेवाजू।
सरल सबल साहेब रघुराजू।

—तुलसीदास

८—कह्यो विश्वकर्म्मा को हरि तुम जाय कर,
नगर सुदामा कौ बनाओ बेग अब ही।
रतन जटित धाम सुबरणमयी सब,
कोट औ बजार बाग फूलन के तब ही।

कल्पवृक्ष द्वार गज रथ असवार प्यादे,
कीजिए अपार दास दासी देव छत्र ही।
इन्द्र औ कुवेर आदि देव वधू अपसरा,
गंधरव गुणी जहाँ ठाढ़े रहैं सब ही।
—नरोत्तमदास

९—मुझही में मेरा धणी, पड़दा खोलि दिखाइ।
आतम सो परमातमा, परगट आणि मिलाइ।
यह मसीत यह देहरा, सतगुरु दिया दिखाइ।
भीतर सेवा बंदगी, बाहर काहे जाइ।
—दादूदयाल

१०—छप्यो नेह कागज हिये, भई लखाइ न टाँक।
विरह तचे उघरयो सु अब, सेहुँड़ को सो आँक।

११—छूटत कमान और तीर गोली बानन के,
मुसकिल होत मुरचान हूँ की ओट मैं।
ताही समै सिवराज हुकुम कै हल्ला कियो,
दावा बाँधि पार हला बीर भट जोट मैं।
भूषन भनत तेरी किम्मति कहाँ लौं कहौं,
हिम्मत यहाँ लगि है जाकी भट झोट मैं।
ताव दै दै मूँछन कँगूरन पै पाँव दै दै,
अरि मुख घाव दै दै कूदे परैं कोट मैं।
—भूषण

१२—जंग में अंग कठोर महा मद नीर झरै झरना सरसे हैं।
झूलनि रंग घने मतिराम महीरुह फूल प्रभा विकसे हैं।
सुन्दर सिन्दुर मंडित कुम्भनि गैरिक शृङ्ग उतंग लसे हैं।
भाऊ दिवान उदार अपार सजीव पहार करी-बकसे हैं।

हूँ मैं मुश्ताक़ तेरी सूरत का नूर देखि
दिल भरि पूरि रहे कहने जवाब से।
मेहेर का तालिब फ़क़ीर है मेहेरबान चातक
ज्यों जीवता है स्वाति वारे आब से।
तू तो है अयानी यह खूबी का ख़ज़ाना तिसे
खोलि क्यों न दीजे सेर कीजियै सवाब से।
देर की न ताब जान होत है कबाब बोल
हयाती का आब बोलो मुख महताब से।

—कुलपति

१३—आध पाव तेल में तयारी भई रोशनी की,
आध पाव रूई में पोशाक भई बर की।
आध पाव छाले को गिनौरां दियो भाइन को,
माँगि माँगि लायो है पराई चीज़ घर की।
आधी आधी जोरि बेनी कवि की बिदाई कीनी
ब्याहि आयो जब तें न बोले बात थिर की।
देखि देखि कागद तबीअत सुमादी भई,
सादी काह भई बरबादी भई घर की।

—बेनी

१४—राजा चंचल होय मुलुक को सर करि लावै।
पंडित चंचल होय सभा उत्तर दै आवै।
हाथी चंचल होय समर में सूँडि उठावै।
घोड़ा चंचल होय झपटि मैदान दिखावै।
हैं ये चारों चंचल भले राजा पंडित गज तुरी।
बैताल कहै विक्रम सुनो तिरिया चंचल अति बुरी।

—बैताल

मुख सरद चंद पर ठहर गया जानी के बुंद पसीने का।
या कंचन कुन्द कली ऊपर झमकाहट रक्खा मीने का।

देखे से होश कहाँ रहवे जो पिदर बू अली सीने का।
या लाल बदख्शां पर खींचा चौका इलमास नगीने का।

—सीतल

१५—सामिल में पीर में सरीर में न भेद राखै,
हिम्मत कपाट को उघारै तो उघरि जाय।
ऐसो ठान ठानै तो बिना हूँ जंत्र मंत्र किये,
साँप के जहर को उतारै तो उतरि जाय।
ठाकुर कहत कछु कठिन न जानौ अब,
हिम्मत किये तें कहो कहा ना सुधरि जाय।
चारि जने चारिहू दिसा तें चारो कोन गहि,
मेरु को हिलाय कै उखारैं तो उखरि जाय।

—ठाकुर

१६—चसमन चसमा प्रेम को, पहिले लेहु लगाय।
सुन्दर मुख वह मीत कौं, तब अवलोकौ जाय।

—रसनिधि

१७—बेटा बिगरे बाप सों, करि तिरियन को नेहु।
लटा पटी होने लगी, मोहिं जुदा करि देहु।
मोहिं जुदा करि देहु, घरीमा माया मेरी।
ले हौं घर अरु द्वार, करौं मैं फजिहत तेरी।
कह गिरिधर कविराय, सुनौ गदहा के लेटा।
समय परयो है आय, बाप सों झगरत बेटा।

—गिरिधर

१८—कंज सकोच गड़े रहे कीच में मीनन बोरि दियो दह नीरन।
दास कहै मृगहूँ को उदास कै बास दियो है अरन्य गँभीरन।
आपुस में उपमा उपमेय है नैन ये निन्दत हैं कवि धीरन।
खंजन हू कौ उड़ाय दियो हलुके करि डारे अनंग के तीरन।

—दास

१६—फहरैं फुहारे नीर नहर नदी सी बहैं,
छहरैं छबीन छाम छीटिन की छाटी है।
कहै पदमाकर त्यों जेठ की जलाकैं तहाँ,
पावैं क्यों प्रवेश वेस बेलिन की वाटी है।
बारहू दरीन बीच चारहू तरफ तैसी,
बरफ विछाई तापै सीतल सुपाटी है।
गजक अँगूर सी अँगूर से उचो हैं कुछ,
आसव अँगूर को अँगूर ही की टाटी है।

—पदमाकर

उक्त पद्यों के रेखांकित शब्दों से हिन्दू कवियों की प्रवृत्ति स्पष्ट है। फिर भी उन्होंने फारसी और अरबी के छन्दों को ग्रहण नहीं किया। मुसलमान कवियों ने भी हिन्दी ही के छन्दों का व्यवहार किया और अपनी भाषा में फारसी अरबी के प्रायः उतने शब्द आने दिये जितने साहित्यिक भाषा में गृहीत थे। कुछ मुसलमान कवियों की रचनाएँ देखिए:—

१— मैं यह अर्थ पंडितन बूझा।
कहा कि हम कुछ और न सूझा।
चौदह भुवन जो इत उपराहीं।
सो सब मानुप के घट माहीं।
तन चितौर मन राजा कीन्हा।
हिय सिंहल बुधि पद्मिनि चीन्हा।
गुरू सुवा जेहि पंथ दिखावा।
बिना जगत सो निरगुन पावा।
नागमती यह दुनिया धंधा।
बाँधा सोई न यह चित बंधा।
राघव दूत सोई सैतानू।
माया अलाउदीं सुलतानू।

—मलिक मुहम्मद जायसी

२—रहिमन सूधी चाल सों प्यादा होत वज़ीर।
फ़रज़ी मीर न ह्वै सकै टेढ़े की तासीर।
—रहीम

३—अलक मुबारक तियवदन, लटकि परी यों साफ़।
खुस नवीस मुनसी मदन लिख्यो काँच पर क़ाफ़।
—मुबारक

हिन्दुओं और मुसलमानों का यह आदान-प्रदान उन्हें राष्ट्रीयता-विकास की ओर अग्रसर कर रहा था। सामाजिक जीवन की सरलता-वृद्धि के लिए यह एक अच्छा साधन सिद्ध हो रहा था। खेद है, कई कारणों से इस कार्य की पूर्ति में बाधा पड़ गयी, जिनमें से प्रधान थी मुसलमानी संस्कृति को हृदयंगम करने के सम्बन्ध में हिन्दू संस्कृति की असमर्थता। इस स्वाभाविक प्रगति में हिन्दू संस्कृति की ओर दुर्बलता प्रगट होते ही मुसलमानी संस्कृति ने उस पर अपना आतंक फैलाया और क्रमशः अपने प्रति थोड़ा सा आकर्षण उत्पन्न कर लिया। इस परिस्थिति का प्रभाव साहित्य-क्षेत्र में भी व्यक्त हुआ। यह अभिव्यक्ति सब से पहले भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की रचना में देखी गयी। उन्होंने अपनी कृति में न केवल फ़ारसी और अरबी के शब्दों को आँख मूँद कर आने दिया, बल्कि छन्द भी उन्हीं साहित्यों से लिये। उनकी निम्नलिखित पंक्तियाँ देखिए:—

'दिल मेरा ले गया दग़ा करके।
बे वफ़ा हो गया वफ़ा करके।
हिज्र की शब घटा ही दी हमने।
दास्तां ज़ुल्फ़ की बढ़ा करके।
शोला रू कह तो क्या मिला तुझ को।
दिल जलों को जला जला करके।
× × ×
ग़ा हुआ यार छिप गया किस तर्फ़।
इक झलक सी मुझे दिखा करके।"

भारतेन्दु के बाद अनेक कवियों ने ग़ज़लें लिखीं। उनकी रचनाओं के कुछ उदाहरण यहाँ दिये जाते हैं :—

१—विवादी बढ़े हैं यहाँ कैसे कैसे,
कलाम आते हैं दरमियाँ कैसे कैसे।
जहाँ देखिए म्लेच्छ सेना के हाथों,
मिटे नामियों के निशाँ कैसे कैसे।
बने पढ़के गौरण्ड भाषा द्विजाति,
मुरीदाने पीरे मुगाँ कैसे कैसे।
बसो मूर्खते देवि! आर्यों के जी में,
तुम्हारे लिए हैं मकाँ कैसे कैसे।
अनुद्योग आलस्य संतोष सेवा,
हमारे भी हैं मिहरबाँ कैसे कैसे।

× × ×

प्रताप अब तो होटल में निर्लज्जता के,
मज़े लूटती है ज़बाँ कैसे कैसे।
—प्रतापनारायण मिश्र

× × ×

२— बुढ़ापा नातवानी ला रहा है।
ज़माना ज़िन्दगी का जा रहा है।
किया क्या ख़ाक आगे क्या करेगा।
अख़ीरी वक़्त दौड़ा आ रहा है।
—नाथूराम शंकर शर्मा

३—न बीबी बहुत जी में घबराइए।
सम्हलिए ज़रा होश में आइए।
किसी ने तुम्हारा बिगाड़ा है क्या।
सुनूँ हाल मैं भी तो उसका ज़रा।
न उठती में यों मौत का नाम लो।
कहाँ सौत मत सौत का नाम लो।

वही पहनो जो कुछ हो तुमको पसंद।
कसो और भी चुस्त महरम के बंद।
करो और कलियों का पाजामा चुस्त।
—— वह धानी दुपट्टा वह नकसक दुरुस्त।
वह दाँतों में मिस्सी घड़ी पर घड़ी।
रहे आँख आईने ही से लड़ी।
कड़े को कड़े से बजाती फिरो।
वह बाँकी अदाएँ दिखाती फिरो।

—बालमुकुन्द गुप्त

४—कहीं पै स्वर्गीय कोई बाला सुमंजु बीणा बजा रही है।
सुरों के संगीत की सी कैसी सुरीली गुञ्जार आ रही है।
हरेक स्वर में नवीनता है, हरेक पद में प्रवीनता है।
निराली लय है औ लीनता है, अलाप अद्भुत मिला रही है।
अलक्ष्य पर्दों से गत सुनाती तरल तरानों से मन लुभाती।
अनूठे अटपट स्वरों में स्वर्गिक सुधा की धारा बहा रही है।
कोई पुरंदर की किंकरी है कि या किसी सुर की सुंदरी है।
वियोग तप्ता सी भोग मुक्ता हृदय के उद्गार गा रही है।

—श्रीधर पाठक

५—खिल रही है आज कैसी भूमि तल पर चाँदनी।
खोजती फिरती है किसको आज घर घर चाँदनी।
घन घटा घूँघट उठा मुसकाई है कुछ ऋतु शरद।
मारी मारी फिरती है इस हेतु दर दर चाँदनी।
रात की तो बात क्या दिन में भी बन कर कुन्द कांस।
छाई रहती है बराबर भूमि तल पर चाँदनी।

× × ×

कहो तो आज कहदें आपकी आँखों को क्या समझे।
सिता सिंदूर मृगमद युक्त कुछ अद्भुत दवा समझे।

अगर इसको न मानो तो बता दें दूसरी उपमा।
सहित हाला हलाहल मिश्रिता सुन्दर सुधा समझे।

× × ×

वीरों की सुमाताओं का जो यश नहीं गाता।
वह व्यर्थ सुकवि होने का अभिमान जनाता।
जो वीर-सुयश गाने में है ढील दिखाता।
वह देश के वीरत्व का है मान घटाता।
दुनियाँ में सुकवि नाम सदा उसका रहेगा।
जो काव्य में वीरों की सुभग कीर्त्ति कहेगा।

—भगवानदीन

हिन्दी-साहित्य में इन छन्दों का प्रवेश अवाञ्छनीय नहीं है। संस्कृत वृत्तों का हिन्दी काव्य में उपयोग होना यदि अहितकर नहीं है, तो इन फ़ारसी के छन्दों का भी नहीं हो सकता। किन्तु, इन्हें ग्रहण करते समय हमें यह स्मरण रखना चाहिए कि हिन्दी साहित्य के व्यक्तित्व की रक्षा करते हुए ही ऐसा करना कल्याणकारी हो सकता है; उसे किसी अन्य प्रभाव के अधीन बना कर नहीं। कहने का आशय यह है कि यदि हमें ग़ज़ल या फ़ारसी अरबी के अन्य बह्रों से काम लेना है तो इन छन्दों का हम अपने साहित्य के व्यक्तित्व के अनुरूप संस्कार कर लें।

हिन्दी में अधिकांश में मात्रिक छन्दों ही का प्रचलन है, पदों में जितनी मात्राएँ नियत हैं उनसे अधिक या कम मात्राओं का होना बहुत बड़ा दूषण माना जाता है। दीर्घ अक्षरों को दीर्घ और ह्रस्व अक्षरों को ह्रस्व पढ़ने ही की हमारे यहां परिपाटी है। निस्सन्देह सूरदास और तुलसीदास के पदों में कहीं-कहीं दीर्घ अक्षरों को ह्रस्व रूप पढ़ने की आवश्यकता हो जाती है, किन्तु उसे नियम का अपवाद ही समझना चाहिये। मात्रिक छन्दों को अलग कर देने पर सवैया ही एक ऐसा छन्द रह जाता है जिसमें नियत स्थानों पर ह्रस्व अक्षरों की

आवश्यकता होने के कारण दीर्घ अक्षरों को ह्रस्व स्वर में पढ़ना पड़ता है। उदाहरण के लिए एक सवैया देखिए :—

"बौरे रसालन की चढ़ि डारन कोकिल कूकति मौन गहै ना।
ठाकुर कुंजन पुंजन गुंजत भौंरन को वै चुपैबो चहै ना।
सीतल मंद सुगंधित बीर समीर बहै तन धीर रहै ना।
ब्याकुल कीनो बसन्त बनाय कै जाय कै कन्त सों कोऊ कहै ना।"

यह तेईस अक्षरों का सवैया है। इसमें एक दीर्घ के बाद दो ह्रस्व स्वर के अक्षर होने चाहिए और अन्त में दो दीर्घ। किन्तु स्पष्ट ही है कि अनेक ह्रस्व अक्षरों के स्थान में दीर्घ अक्षर विद्यमान हैं। उन्हें विकृत करके पढ़ने पर इस सवैया का स्वाभाविक स्वर के चढ़ाव-उतार के अनुसार निम्नलिखित रूप होगा :—

"बौर रसालन की चढ़ि डारन कोकिल कूकति मौन गहै ना।
ठाकुर कुंजन पुंजन गुंजत भौंरन को व चुपैब चहै ना।
सीतल मंद सुगंधित बीर समीर बहै तन धीर रहै ना।
ब्याकुल कीन बसंत बनाय क जाय क कंत स कोउ कहै ना।"

इस दोष से सर्वथा मुक्त एक सवैया देखिए :—

"भ्रमरी इस मोहन मानस के बस मादक हैं रस भाव सभी।
मधु पीकर और मदान्ध न हो उड़ जा अब है कुशलत्व तभी।
पड़ जाय न पंकज बंधन में निशि यद्यपि है कुछ दूर अभी।
दिन देख नहीं सकते सविशेष किसी जन का सुख-भोग कभी।"

उक्त रचना में दो ह्रस्व के बाद एक दीर्घ अक्षर का निर्वाह नियमपूर्वक हुआ है। अस्तु। इस एक छन्द को छोड़ कर हिन्दी में अन्य कोई भी छंद ऐसा नहीं है जिसमें इस अस्वाभाविकता का समावेश संभव हो और यदि कविगण चाहें तो उक्त सवैया का अनुसरण करके इस दोष का भी मार्जन कर डालें।

परन्तु हिन्दी-साहित्य के छन्दों में जो बात अपवाद-स्वरूप है वही फ़ारसी के बह्रों में नियमानुसार गृहीत है। मैंने हिन्दी कवियों की जो ग़ज़लें उद्धृत की हैं, उनमें स्वच्छन्दता-पूर्वक दीर्घ अक्षर ह्रस्व रूप में ग्रहण किया गया है। उदाहरण के लिए नम्बर चार के उद्धरण की अंतिम पंक्तियों को स्वाभाविक स्वर के अनुसार पढ़ कर लिखिए। देखिए उनका रूप कितना विकृत हो जाता है, शब्दों का अंग कितना तोड़ना मरोड़ना पड़ता है :—

"वीरों कि सुमाता अँ का जो यश नहीं गाता।
वह व्यर्थ सुकवि होन क अभिमान जनाता।
जो वीर सुयश गान मँ है ढील दिखाता।
वह देश क वीरत्व का ह मान घटाता।
दुनिया में सुकवि नाम सदा रहेगा।
जो काव्य मँ वीरों क सुभग कीर्त्ति कहेगा।"

'प्रियप्रवास' महाकाव्य के प्रकाशित हो जाने के बाद हरिऔध जी का ध्यान हिन्दी साहित्य के भीतर इस अनमेल तत्त्व के प्रवेश की ओर आकृष्ट हुआ। उनका जितना अधिकार संस्कृत पर है उतना ही फ़ारसी पर भी है; वे हिन्दी के जितने मार्मिक विद्वान् हैं उतने ही उर्दू के भी हैं। परन्तु हिन्दी साहित्य के एक सुयोग्य प्रतिनिधि के रूप में आत्मरक्षा के अतिरिक्त एक अन्य भाव से भी वे इस कार्य की ओर प्रवृत्त हुए। अभी तक हमारे साहित्य में केवल कुछ फ़ारसी शब्दों ही का प्रवेश हो सका था, फ़ारसी तथा उससे प्रभावित उर्दू भाषा के साहित्य की जो एक बहुत बड़ी विशेषता भाषा के संस्कार, परिष्कार, परिमार्जन के रूप में देखी जाती है, दैनिक जीवन में व्यवहृत मुहावरों के सहारे खड़े होने वाले काव्य-माधुर्य्य का जो अनुपम शृंगार उक्त दोनों भाषाओं में मिलता है—जिसके प्रति हिन्दी के खड़ी बोली के अधिकांश कवियों का ध्यान उचित मात्रा में नहीं है—वह मुसलमानी

साहित्य का एक प्रधान अंग है। और इसलिए यह तथ्य है कि यदि हिन्दुओं और मुसलमानों का वास्तविक सम्मिलन किसी भी क्षेत्र में सबसे पहले सम्भव है, तो वह साहित्य-क्षेत्र ही है। यदि साहित्य में कोरी नक़ल को प्रोत्साहन न देकर हम मूल्यवान् आदान-प्रदान को स्थान देंगे तो उससे पारस्परिक सहानुभूति और एक दूसरे के प्रति आदर-भाव की वृद्धि होगी। इस दृष्टि से हरिऔध जी इस दिशा में अग्रसर होकर साहित्य-निर्माण के एक बहुत ही उपयोगी, किन्तु अन्य कवियों द्वारा उपेक्षित विभाग की ओर कार्य्यरत हुए। हरिऔध जी के इस प्रयत्न का राष्ट्रीय मूल्य न भी स्वीकार करें, तो हिन्दी साहित्य के भीतर दैनिक जीवन में व्यवहृत बोलचाल के मुहावरों के प्रति उदासीनता के कारण साहित्यिक भाषा और बोलचाल की भाषा में निरन्तर वृद्धिशील व्यवधान को रोकने तथा खड़ी बोली कविता की आकाशचारिणी कल्पना-खगी को उसके घोंसले और बाल-बच्चों की याद दिलाने का श्रेय हरिऔध जी को देना ही पड़ेगा।

जिन लोगों को खड़ी बोली शब्द-प्रधान कवि-सम्मेलन देखने का अवसर प्राप्त हुआ होगा, उन्होंने देखा होगा कि अधिकांश कवियों का बहुत कम प्रभाव श्रोताओं पर पड़ता है। इसका कारण यह है कि कवियों की भाषा श्रोताओं के लिए अनभ्यस्त होती है; उसमें एक ओर तो दार्शनिकता की निस्सीम उड़ान का आयोजन किया जाता है और दूसरी ओर दैनिक बोलचाल में व्यवहृत मुहावरों से कोई काम नहीं लिया जाता। निस्सन्देह तुलसीदास या सूरदास जी की भाषा से कठिन भाषा कवि-सम्मेलनों की कविताओं में नहीं लिखी जाती, लेकिन यदि सूरदास या तुलसीदास के भजन अथवा काव्य सुनाये जायँ तो सम्भव है, खड़ी बोली के इस प्राधान्य-काल में भी उन्हीं की ओर लोग अधिक आकर्षित हों। इसका कारण यही है कि व्रजभाषा या अवधी के कवियों ने मुहावरों की उपेक्षा नहीं की है। नीचे कुछ अवतरण देखिये :—

१—राखो इह सब जोग अटपटो ऊधो पाइं परौं।
कहँ रस रीति कहाँ तनु सो धन सुनि सुनि लाज मरौं।
चंदन छाड़ि विभूति बतावत यह दुख क्यों न जरौं।

× × ×

जाहु जाहु आगे ते ऊधो पति राखति हौं तेरी।
काहे को अब रोष दियावत देखत आँखि बरत है मेरी।

—सूरदास

२—हरखि न बोली लखि ललन निरखि अमिल सँग साथ।
आँखिन ही में हँसि धरयो शीश हिये धरि हाथ।
सुरत दुराई दुरत नहिं प्रगट करत रति रूप।
छुटे पीक औरै उठे लाली ओठ अनूप।
बिरह-जरी लखि जीगननु कह्यो न उहि कै बार।
अहे भाव भजि भीतरी बरसत आजु अँगार।
कहा कहौं वाकी दशा हरि प्राणन के ईस।
बिरह-ज्वाल जरिबो लखे मरिबो भयो असीस।
रँग राती राते हिये प्रीतम लिखी बनाय।
पाती काती बिरह की छाती रही लगाय।

—बिहारी

३—हाथ तसबीह लिये प्रात उठे बंदगी को
आप ही कपट रूप कपट सु जप के।
आगरे में जाय दारा चौक में चुनाय लीन्हों
छत्र हू छिनायो मानो मरे बूढ़े बप के।
कीन्हों है सगोत घात सो मैं नाहिं कहौं फेरि
पील पै तोरायो चार चुगुल के गप के।
भूषन भनत छरछन्दी मतिमन्द महा
सौ सौ चूहे खाय के बिलारी बैठी तप के।

—भूषण

४—लागी लागी क्या करै लागी बुरी बलाय।
लागी सोई जानिए जो वार पार है जाय।
गाँठी दाम न बाँधई नहिं नारि से नेह।
कह कबीर ता साधु के हम चरनन की खेह।

—कबीर

५—सुनि अंगद सकोप कह बानी।
बोलु सँभारि अधम अभिमानी।
राम मनुज बोलत अस बानी।
गिरिहि न तव रसना अभिमानी।
मैं तव दशन तोरिबे लायक।
आयसु पै न दीन्ह रघुनायक।
बालि कबहुँ अस गाल न मारा।
मिली तपसिन तैं भयसि लवारा।
बैठा जाइ सिंहासन फूली।
अति अभिमान त्रास गा भूली।

—तुलसीदास

अब आधुनिक काल की खड़ी बोली की कुछ कविताएँ देखिए:—

१—महा पतिव्रत धर्म्म धारिणी किस नितम्बिनी ने अमरेश।
निज चारुता दिखा कर तेरे चंचल चित में किया प्रवेश।
क्या तू यह इच्छा रखता है कि वह तोड़ लज्जा का जाल।
तेरे कण्ठ देश में डाले आकर अपने बाहु मृणाल।

—महावीर प्रसाद द्विवेदी

२—सायंकाल हवा समुद्र तट की, नेरोग्यकारी महा।
प्रायः शिक्षित सभ्य लोग नित ही आते इसी से वहाँ।
बैठे हास्य-विनोद-मोद करते सानन्द वे दो घड़ी।
सो शोभा इस दृश्य की हृदय को, है तृप्ति देती बड़ी।

—कन्हैयालाल पोद्दार

किन्तु अपना सा मुँह लेकर रह जाता था, समुद्र में डुबकी बहुत लोग लगाते हैं परन्तु मोती सब के हाथ नहीं लगता। हलवा खाने के लिए मुँह चाहिए; आकाश के तारे तोड़ना सुलभ नहीं, परन्तु उमंगें छलागें भर रही थीं, वामन होकर चाँद को छूना चाहती थीं, जी में तरह-तरह की लहरें उठती थीं, रंग लाती थीं, चमकती-दमकती थीं, किन्तु थोड़ी ही देर में लोप हो जाती थीं। इसी समय एक मक्खीचूस आ धमके, आपको कुछ चन्दा लग गया था, आप उससे अपना पिंड छुड़ाना चाहते थे। आते ही बोले, आप अपने रूई सूत में कब तक उलझे रहेंगे, कुछ मेरी भी सुनिए। मैंने कहा, क्या सुनूँ, आप बड़े आदमी हैं, आपको कौड़ियों को दाँत से न पकड़ना चाहिए। यह सुनते ही वे अपना दुखड़ा सुनाने लगे, नाक में दम कर दिया, मैं ऊब उठा और अचानक कह पड़ा—

"छोड़ देगा कौड़ियों का ही बना।
यह तुम्हारा कौड़ियालापन तुम्हें।

वे बिगड़ खड़े हुए, बोले वाह साहब! मैं कौड़ियाला हूँ? कौड़ियाला तो साँप होता है, क्या मैं साँप हूँ? अच्छा साँप तो साँप ही सही, कौड़ियाला ही सही, साँप का यहाँ क्या काम।"

इन वाक्यों में से मुहावरों को निकाल दीजिए, इनका सारा मजा काफ़ूर हो जायगा। जब गद्य में मुहावरों के द्वारा इतने चमत्कार की सृष्टि हो सकती है तब पद्य में तो कहना ही क्या है। केवल मुहावरों की सहायता से सरस और आकर्षक बने हुए हरिऔध जी के दो पद्यों का अवलोकन कीजिए:—

"कैसे खानपान के बखेड़े खड़े होंगे नहीं,
कैसे छूत छात को अछूते बन खोवेंगे।
कैसे पंथ मत के प्रपंच में पड़ेंगे नहीं,
कैसे भेद भाव काँटे पथ में न बोवेंगे।
हरिऔध कैसे पेच पाच न भरेंगे पेच,
कैसे जाति-पाँति के कलंक पंक धोवेंगे।

घरके अनेक रूप रोकती अनेकता है,

एका कैसे होगा कैसे हिन्दू एक होवेंगे।"

× × × ×

"कटेंगे पिटेंगे नोचते हैं जो नुचेंगे आप

कब तक हिन्दुओं को नोच नोच खावेंगे।

पच न सकेगा पेट मार के मरेंगे क्यों न

पामर परम कैसे पाहन पचावेंगे।

हरिऔध धर्म्मवीर धर्म्म को रखेंगे धाक,

ऊधमी अधम कैसे ऊधम मचावेंगे।

पोटी दूह लेवेंगे चपेटेंगे लँगोटी बाँध

बोटी बोटी कटे लाज चोटी की बचावेंगे।"

हरिऔध जी ने फ़ारसी के बह्रों को प्रायः हिन्दी छन्दों का रूप दे कर, बोलचाल और मुहावरेदार भापा में तीन ग्रन्थों की रचना की है। उनके नाम हैं—(१) चोखे चौपदे, (२) चुभते चौपदे, (३) और बोल-चाल। इन ग्रंथों की भापा, शैली, भाव आदि में साम्य होने के कारण एक साथ इनका अध्ययन करना अच्छा होगा।

सहृदय संसार में जहाँ 'प्रियप्रवास' की करुण कविता की अच्छी ख्याति हुई थी वहाँ उसकी भापा के संबंध में यत्र-तत्र दो मत भी थे। लखनऊ साहित्य-सम्मेलन के सभापति आसन से पं० श्रीधर पाठक ने 'प्रियप्रवास' की प्रशंसा की थी; व्यक्तिगत रूप से भी उन्होंने हरिऔध जी के पास उसके सम्बन्ध में जो सम्मति भेजी थी, जिसे इस ग्रंथ के आरम्भ में पाठक देख चुके हैं, वह हरिऔध जी को महाकवि की कीर्त्ति का अधिकारी घोपित करती थी। परन्तु उस सम्मति में भी उन्होंने 'यदपि' शब्द अमेल कहीं-कहीं, कहकर हरिऔध जी का ध्यान 'प्रियप्रवास' की भापा की ओर आकर्पित किया था। सच बात यह है कि 'प्रियप्रवास' की उच्च कविता के समर्थक भी उसकी भापा के संबंध में अनुकूल मत नहीं रखते थे। ऐसी अवस्था में यह असंभव था कि हरिऔध जी पर इस आलोचनामयी परिस्थिति का कोई प्रभाव न पड़े।

मेरा तो अनुमान है कि इसी प्रभाव के कारण वे 'चोखे चौपदे' आदि की रचना में दत्त-चित्त हुए, क्योंकि संस्कृत-गर्भित भाषा के निन्दकों को यह दिखाना भी आवश्यक था कि जिस लेखनी ने 'प्रियप्रवास' की सृष्टि की है वह सरल भाषा भी लिख सकती है।

उक्त काव्यों में से हरिऔध जी ने सब से पहले 'चोखे चौपदे' को हाथ में लिया। वे 'वैदेही-वनवास' नामक महाकाव्य लिखने का संकल्प कर चुके थे। मैंने हरिऔध जी से इसमें समाविष्ट कथा का सारांश सुना है। यदि वे यह महाकाव्य लिख पाते तो निस्सन्देह वह उनके यश के लिए एक पर एक बढ़ाने का काम करता। उसे उन्होंने सरल हिन्दी में लिखने का निश्चय किया था और हिन्दी के प्रचलित छन्दों का सहारा उनकी इच्छा की अनुगामिनी लेखनी के लिए कोई कठिन कार्य्य नहीं था। किन्तु इस समय हरिऔध जी की मनोवृत्ति एक दूसरी दिशा में फैल रही थी। वे हिन्दू समाज की स्थिति से बहुत व्यथित थे। उनकी वेदना का ऐसा स्वरूप नहीं था कि "वैदेही-वनवास" में अप्रत्यक्ष रूप से हिन्दू समाज के एक दो दोष दिखा कर उनकी परितृप्ति हो जाय। 'वैदेही-वनवास' में रामचन्द्र का जो चित्र अंकित किया जाता, वह भी मानव-चित्र ही होता, जैसाकि श्रीकृष्ण का 'प्रियप्रवास' में है। अतएव कृष्ण के चित्रण से अल्पाधिक मात्रा में तृप्ति-लाभ करने के अनन्तर हरिऔध जी को इधर विशेष आकर्षण नहीं था। वास्तव में उनके जिन सामाजिक सेवा आदि के भावों ने श्रीकृष्ण की मूर्त्ति को संगठित किया था वे अधिक स्पष्ट, अधिक प्रत्यक्ष और अधिक स्थूल अभिव्यक्ति प्राप्त करने के लिए लालायित थे। हरिऔध जी यदि 'वैदेही-वनवास' की रचना की ओर प्रवृत्त हुए होते तो उनकी यह लालसा पूरी न हो सकती।

उस समय कौन से भाव उनके हृदय को मथ रहे थे, इसका पता आपको नीचे के अवतरण से लगेगा:—

"कोई दिन था कि हम कुछ थे, कुछ नहीं बहुत कुछ थे। देवते हमारा मुँह जोहते थे, स्वर्ग में हमारी धूम थी और धरती हमारे उधारने

से ही उभरती थी। हम आसमान में उड़ते, समुद्र को छानते, जंगलों को खँगालते और पहाड़ों को हिला देते थे।

× × × ×

आज हमारे घरों में फूट पाँव तोड़ कर बैठी है, वैर अकड़ा हुआ खड़ा है, अनवन की वन आयी है, और रगड़े झगड़े गुलछर्रे उड़ा रहे हैं। हमसे लम्बी लम्बी बातें सुन लो, लम्बी डगें भरने की कहानियाँ कहलवा लो, लेकिन लम्बी तान कर सोना ही हमें पसन्द है। × ×

हिन्दू जाति अपनी भूलभुलैयाँ में बेतरह फँसी है, इससे हमारा जी दुखी है, हमारा कलेजा चोट खा रहा है, दिल में फफोले पड़ रहे हैं। हमने बोलचाल में दिल के फफोले फोड़े हैं, वे उसमें चौपदे की सूरत में फूटे हैं। उसमें वे बिखरे हुए हैं, इस पुस्तक में एक जगह जमा किये गये हैं। उनके छपने में अभी देर है, इधर देर की ताव नहीं। हमें जल्दी इसलिए है कि जितना ही जल्द हिन्दुओं की आँखें खुलें, उतना ही अच्छा। हमें उनका जी दुखाना, उन्हें कोसना, उन्हें बनाना, उन्हें खिजाना, उनकी उमंगों को मटियामेट करना पसंद नहीं, अपने हाथ से अपने पाँव में कुल्हाड़ी कौन मारेगा, अपनी उँगलियों से अपनी आँखों को कौन कुचोलेगा? मगर अपनी बुराइयों, कमजोरियों, भूलचूकों, ऐबों, लापरवाहियों और नासमझियों पर आँख डालनी ही पड़ेगी।"

हरिऔध जी ने सन् १९२४ में दिल्ली के हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के सभापति आसन से जो भाषण दिया था उसका निम्नलिखित अंश भी देखिए :—

"न वह साहित्य साहित्य है, न वह कल्पना कल्पना जिसमें जातीय भावों का उद्गार न हो। जिन काव्यों, ग्रन्थों को पढ़कर जीवनी-शक्ति जागरित नहीं होती, निर्जीव धमनियों में गरम रक्त का संचार नहीं होता, हृदय में देश-प्रेम-तरंगें तरंगित नहीं होतीं; वे केवल निस्सार वाक्य-समूह मात्र हैं। जो भाव देश को, जाति को, समाज को स्वर्गीय विभव से भर देते हैं, उनमें अनिर्वचनीय ज्योति जगा देते हैं,

उनको स्वावलम्बी, स्वतंत्र, स्वधर्मरत, और स्वकीय कर देते हैं, यदि वे भाव किसी उक्ति की सम्पत्ति नहीं तो वह मौक्तिक-हीन शुक्ति है। जिसमें मनुष्य जीवन की जीवन्त सत्ता नहीं, जो प्रकृति के पुण्य पाठ की पीठ नहीं, जिसमें चारु चरित चित्रित नहीं, मानवता का मधुर राग नहीं, सजीवता का सुन्दर स्वांग नहीं, वह कविता सलिल रहित सरिता है। जिसमें सुन्दरता विकसित नहीं, मधुरता मुखरित नहीं सरसता विलसित नहीं, प्रतिभा प्रतिफलित नहीं वह कवि-रचना कुकवि वचनावली है। जो गद्य अथवा पद्य जाति की आँखें खोलता है, पते की सुना राह पर लगाता है, मर्म्मबेधी बातें कह सावधान बनाता है, चूकें दिखा चौकन्ना करता है, चुटकियाँ ले सोतों को जगाता है, वह इस योग्य है कि सोने के अक्षरों में लिखा जावे, वह अमृत है जो मरतों को जिलाता है।

× × × ×

सौभाग्य की बात है कि दृष्टि-कोण बदला है, परम कमनीय कलेवरा शृंगार रस की कविता-सुन्दरी कवि-मानस-समुच्च सिंहासन से धीरे-धीरे उतर रही है। और उस पर लोकोत्तर कान्तिवती जातीय रागरंजिता कविता देवी सादर समासीन हो रही है। ललित लीला-निकेतन वृन्दावन धाम अब भी विमुग्धकर है किन्तु सुजला, सुफला, शस्य श्यामला भारत वसुंधरा आज दिन अधिक आदरवती है। तरल तरंगमयी तरणि-तनया उत्फुल्लकरी है, किन्तु प्रवहमान देश-प्रेम पावन प्रवाह समान सर्वप्रिय नहीं। भगवान मुरलीमनोहर की मधुमयी मुरलिका आज भी मोहती है, मोहती ही रहेगी, किन्तु अब हम उसके माधुर्य्य में देश-प्रेम का पुट, ध्वनि में जातीयता की धुन और सुरीलेपन में सजीव स्वर-लहरी होने के कामुक हैं।"

इस अवतरण में जो भाव व्यक्त किये गये हैं वे ही आर्द्र रूप में 'चोखे चौपदे', 'चुभते चौपदे' और 'बोल-चाल' की कविता को प्राणान्वित करते हैं।

चौपदों की भाषा, छन्द, और शैली

बोलचाल की भूमिका में हरिऔध जी ने लिखा है :—

"मैंने सोचा, यदि सात आठ सौ पद्य भी इस नमूने के बन जावेंगे, तो चाहे और कुछ न हो, चाहे वे किसी काम के न हों, पर मैं जो चाहता हूँ वह हो जावेगा। और बोलचाल की भाषा में लिखे गये कुछ खड़ी बोली के पद्य जनता के सामने उपस्थित हो जावेंगे। जब हिन्दी-साहित्य पर आँख डाली तो उसमें मुहावरे की कोई पुस्तक न दिखलायी पड़ी। खड़ी बोली कविता के फलने-फूलने के समय किसी ऐसी पुस्तक का न होना भी मुझे बहुत खटका। मुहावरों की जैसी छीछालेदर हो रही है, जैसी उसकी टाँग तोड़ी जा रही है, जैसी उनके बारे में मनमानी की जाती है, वह भी कम खलने वाली बात नहीं। इसलिए मैंने सोचा कि मुहावरों पर ही एक पुस्तक लिखूँ। ऐसा होने पर जो नमूना मेरे सामने है, उसके अनुसार काम भी होगा और संभव है कि हिन्दी-साहित्य की कुछ सेवा भी हो जावे। अपने इस काम के लिए मैंने बाल से तलवे तक जितने अंग हैं, उन तमाम अंगों के बहुत से मुहावरे चुने और अपना काम आरम्भ किया।"

निस्सन्देह यह संकल्प करके हरिऔध जी हिन्दी-साहित्य के एक बड़े अभाव की पूर्ति की ओर अग्रसर हुए। भारतेन्दु बाबू के बाद के जिन कवियों ने खड़ी बोली में कविता की है, उनकी भाषा की कृत्रिमता, अथवा स्वयं अपने ग्रन्थ 'प्रियप्रवास' की भाषा की कृत्रिमता स्पष्ट करने के लिए साधारण बोलचाल में उत्तम कोटि की काव्य-रचना का सम्भव प्रमाणित कर देना अत्यन्त आवश्यक था। हरिऔध जी ऐसी भाषा लिखने में कहाँ तक कृत-कार्य्य हुए यह अवश्य ही विचारणीय है, क्योंकि इस दिशा में उनके द्वारा प्राप्त सफलता

वर्त्तमान तथा भविष्य के कवियों की काव्य-भाषा का स्वरूप स्थिर करने में बहुत कुछ हाथ बटा सकती है। पिछले पृष्ठों में 'प्रियप्रवास' की भाषा के सम्बन्ध में निवेदन करते हुए मैंने कहा कि कुछ तो वृत्तों के कारण और कुछ विषय की विशेषता के कारण उसकी भाषा संस्कृत-गर्भित हो गयी। अतएव यहाँ हमें यह देखना चाहिए कि इन ग्रन्थों की भाषा पर इन दो बातों का क्या प्रभाव पड़ा है।

सब से पहले जब हम 'बोलचाल' की भूमिका पर दृष्टिपात करते हैं तभी दुरंगी भाषा का परिचय हमें मिलता है। उसके निम्नलिखित दो अवतरणों पर विचार कीजिए :—

"मैंने समझा बुझाकर उनको सीधा किया, वे चले गये, परन्तु मेरा काम बना गये। इस समय साँझ फूल रही थी, मैंने सोचा इस फूलती साँझ ने ही मुझे एक अछूत फूल दे दिया। मैंने पद्य को यों पूरा किया :—

कौड़ियों को हो पकड़ते दाँत से।
चाहिए ऐसा न जाना बन तुम्हें।
छोड़ देगा कौड़ियों का ही बना।
यह तुम्हारा कौड़ियालापन तुम्हें।"

पद्य पूरा होने पर जी में आया, राह खुल गयी, नमूना मिल गया, अब आगे बढ़ना चाहिये, यदि ऐसी ही भाषा हो और मुहावरे की चाशनी भी चढ़ती रहे तो फिर क्या पूछना, आम के आम और गुठली के दाम।"

इस अवतरण की भाषा में बड़ी सुकुमारता, सफाई, और सरसता है। परन्तु स्वयं हरिऔध जी इस भाषा का, पूरी भूमिका में भी, निर्वाह नहीं कर सके हैं। उनकी नीचे की पंक्तियाँ देखिए :—

"वीणा का वादन, कोकिल का कलरव, सुधा का स्वाद, कुसुम-कुल का विकास, मृदंग की ध्वनि, बालक का भाषण, कामिनि-कुल का आलाप, मधुर होने ही के कारण हृदयग्राही और प्रिय होता है।

फिर शब्दों के लिए उसकी आवश्यकता क्यों न होगी। सुन्दर भाव जब मधुर कोमलकान्त पदावली के साथ होता है तो मणि-काञ्चन-योग हो जाता है।............कवि के हृदय में जब भाव-स्फूर्ति होती है, जब बादलों की भाँति उसके मानस-गगन में मनोमुग्धकर विचार उमड़ने लगते हैं, जब आनन्दोच्छ्वास से जलधि की उत्ताल तरंगों के समान तरंगित उमंगों से, रसों के उच्छ्वलित प्रवाह से, उसका उर परिपूर्ण हो जाता है, उस समय के उसके अन्तःकरण का वर्णन असम्भव है, वह मूक का रसास्वाद है, वह अनुभव-जन्य है, कवि स्वयं उसको यथातथ्य अंकित नहीं कर सकता।"

उक्त दोनों अवतरणों की भाषा में कितनी विभिन्नता है! वर्णन में थोड़ी ही सी विशेषता के समावेश ने कितना अंतर उपस्थित कर दिया! अतएव यह तो स्वीकार करना पड़ेगा कि भावों की रंगीनी भाषा को रंगीन बनाये बिना नहीं रह सकती, और जब भाषा के लिए रंगीनी का ग्रहण आवश्यक हो जायगा तब उसकी संस्कृत-गर्भित होने की ओर प्रवृत्ति अनिवारणीय हो जायगी। यह बड़े हर्ष की बात है कि आवश्यकता का अनुभव होने पर हरिऔध जी ने अपनी स्वाभाविक उमंग को कहीं नहीं कुचला। वे किसी भाषा-विशेष के हिमायती नहीं, जिधर उनके निर्वाचित छन्द और विषय उनको ले चलते हैं उसी ओर वे चलते हैं। वे भाषा-विशेष के लिए कोई विशिष्ट उत्साह भी नहीं दिखाते; यह कामना नहीं करते कि आगे का संपूर्ण हिन्दी-साहित्य उन्हीं की निर्दिष्ट भाषा में लिखा जाय और इस संबन्ध में वे नेता कहे जायँ। यदि उनमें यह लगन होती तो 'ठेठ हिन्दी का ठाट' की भाषा उत्तर की ओर और ग्रन्थ-समर्पण की भाषा दक्षिण ओर जाती हुई न दिखायी पड़ती। उस अवस्था में 'प्रियप्रवास' की भूमिका की भाषा भी ठेठ हिन्दी ही होती। काव्य के लिए एक बार 'प्रिय-प्रवास' की किसी क्लिष्ट भाषा को स्वीकार करके बोलचाल की भाषा में कविता करने के लिए उद्यत होना अपना भाषाधिकार प्रगट करने की चेष्टा के साथ-साथ आवश्यकता द्वारा प्रदर्शित पथ पर साहस-पूर्वक

चलने के लिए कमर कसना भी है। वे अपनी कला के बाह्य उपकरणों को जुटाना जानते हैं और यह भी जानते हैं कि कौन सा परिधान उसकी शोभा-वृद्धि करेगा।

बोलचाल और चौपदों में हरिऔध जी ने जिस विषय पर कविता की है उसके लिए उनकी भाषा सर्वथा उपयुक्त है। यह स्वीकार करना ही पड़ेगा कि हरिऔध जी की स्वाभाविक प्रवृत्ति भाषा और छन्द के निर्वाचन में उन्हें यथेष्ट सहायता देती है। यदि उसी विषय पर हिन्दी के अन्य कविगण भी काव्य करना चाहें, तो संभवतः उन्हें भी वैसी ही भाषा और वैसे ही छंद ग्रहण करने पड़ें और ऐसा न करने पर संभव है वे असफलता का सामना करने के लिए भी बाध्य हों। मैं पहले ही कह आया हूँ कि हरिऔध जी ने इन रचनाओं द्वारा हिन्दू संस्कृति के मुस्लिम संस्कृति को हृदयंगम करने के सतत क्रियाशील प्रयत्न को आगे बढ़ाया। भाषा के क्षेत्र में यह कार्य्य सोलहो आने उर्दू काव्य-भाषा की स्वरूपनिर्मापिका शब्दावली में कुछ हिन्दी शब्दों को समाविष्ट करके किया गया है। उर्दू काव्य-शैली के प्रति हिन्दी-प्रेमियों के हृदय में सहानुभूति-संचार की यह पहली सीढ़ी है।

वह सहानुभूति जिसके बिना साहित्य के क्षेत्र में मुस्लिम संस्कृति का हिन्दू संस्कृति द्वारा हृदयंगम किया जाना सर्वथा कठिन कार्य्य हो जायगा। उदाहरण के लिए नीचे के कतिपय उर्दू पद्यों को देखिए:—

१—समझ में साफ़ आ जाये फ़साहत इसको कहते हैं।
असर हो सुनने वालों पर बलाग़त इसको कहते हैं।
तुझे हम शायरों में क्यों न अकबर मुन्तख़ब समझें।
बयाँ ऐसा कि दिल माने ज़बाँ ऐसी कि सब समझें।

२—मज़ा कहने का जब है यक कहे औ' दूसरा समझे।
अगर अपना कहा तुम आप ही समझे तो क्या समझे।
कलामे मीर समझे औ' ज़बाने मीरज़ा समझे।

३—मिला जिन्हें उन्हें उफ़तादगी से औज मिला।
उन्होंने खायी है ठोकर जो सर उठा के चले।
अनीस दम का भरोसा नहीं ठहर जाओ।
चिराग़ लेके कहाँ सामने हवा के चले।

४—किसी का कब कोई रोज़े सियह में साथ देता है।
कि तारीकी में साया भी जुदा रहता है इंसां से।

५—लब पर तेरे पसीने की बूँद अय अक़ीक़े लब।
चशमकज़नी करे है सुहेले यमन के साथ।

६.—निगाहों की तरह वह शोख़ फिरता है जो महफ़िल में।
कफ़े पा के तले महवे जमाल आँखें बिछाते हैं।

७—दुनिया तो चाहती है हंगामए परोजन।
याँ तो है जेब ख़ाली जो मिल गया वह भोजन।

उक्त अवतरणों के रेखांकित शब्द और छन्द ही उन्हें उर्दू कविता की विशेषता प्रदान करते हैं। हिन्दी-साहित्य में यदि इस काव्य-भाषा और काव्य-शैली को आत्मसात् करना होगा तो उसका पथ यही है कि पहले छंद हिंदी-छंदों के मेल में लाये जायँ और उसके बाद फ़ारसी और अरबी के ऐसे शब्द कविता में से निकाल दिये जायँ जो हिन्दी-भाषा में सुसंस्कृत होकर नियत स्थान नहीं पा गये हैं। साथ ही यदि दो-चार प्रचलित संस्कृत शब्दों का उसमें प्रयोग कर दिया जाय तो सोने में सुगंध की सी बात हो जायगी। यही हरिऔध जी ने किया है। उनके निम्नलिखित पद्य देखिए:—

"तिर सके जो न दुख-लहरियों में।
क्यों न उनमें तो फिर उतर देखें।

हम किसी के फटे कलेजे को।
आँख क्यों फाड़ फाड़ कर देखें।

उन भली अनमोल रुचियों ओर जो।
बन सुचाल अँगूठियों के नग सकीं।
जी लगाएँगे भला तब किस तरह।
जब नहीं आँखें हमारी लग सकीं।

तो अहित बीज क्यों बखेरें हम।
जाय हित बेलि जो नहीं बोई।
क्यों मज़ा किरकिरा किसी का कर।
आँख की किरकिरी बने कोई।

अंग हैं एक दूसरे के सब।
क्यों न आँखें दुखें दुखे दाढ़ें।
क्यों किसी आँख में करें उँगली।
काढ़ कर आँख आँख क्यों काढ़ें।

रात कैसे कटे न आँखों में।
क्यों न चिन्ता भरी रहें माँखें।
हो गया छेद जब कि छाती में।
क्यों न छत से लगी रहें आँखें।

आँख जैसा सीप में होता नहीं।
रस अछूता लोच सुन्दरता बड़ी।
भेद है बे मोल औ बहु मोल में।
है न आँसू की लड़ी मोती लड़ी।

सुख-घड़ी है घड़ी घड़ी टलती।
दुख-घड़ी पास कब रही न खड़ी।
देखते ही सदा निगाह रहे।
पर कहाँ आपकी निगाह पड़ी।

इन पंक्तियों के रेखांकित शब्दों का प्रयोग उर्दू काव्य-भाषा में ठीक इसी ढंग से नहीं होगा जिस ढंग से यहाँ किया गया है। छन्द की रूप-रेखा में संशोधन और संस्कृत के शब्दों को कहीं-कहीं ग्रहण कर लेने

की प्रवृत्ति इन पंक्तियों की गणना उर्दू काव्य में नहीं करने देगी। उर्दू पद्यों के साथ इन पद्यों की तुलना करने से यह विभेद भली भाँति हृदयंगम हो जायगा। यह भाषा सरल हिन्दी भाषा-रूप में भी इस अर्थ में नहीं गृहीत होगी कि उसे एक साधारण ग्रामीण तुलसीदास, सूरदास, मीराबाई, कबीर आदि की भाषा की अपेक्षा अधिक सरलता से समझ लेगा। अब प्रश्न रह उठता है कि उसे कहाँ स्थान मिलेगा? क्या हिन्दुस्तानी भाषा उसे शरण देगी? नीचे की पंक्तियों में पाठकों को हिन्दी के एक विद्वान् का मत मिलेगा। उनकी चर्चा हरिऔध जी ने 'बोलचाल' की भूमिका में इस प्रकार की है :—

"हिन्दी भाषा के एक प्रसिद्ध विद्वान् ने मेरे चौपदों की चर्चा करके मुझसे एक बार कहा, मैं उसकी भाषा को हिन्दी नहीं कह सकता। मैंने कहा उर्दू कहिए। उन्होंने कहा, उर्दू भी नहीं कह सकता। मैंने कहा हिन्दुस्तानी कहिए। उन्होंने कहा मैं इसको हिन्दी-उर्दू के बीच की भाषा कह सकता हूँ। मैंने कहा हिन्दुस्तानी ऐसी ही भाषा को तो कहते हैं। उन्होंने कहा हिन्दुस्तानी में उर्दू का पुट अधिक होता है, इसमें हिन्दी का पुट अधिक है। मैंने निवेदन किया, फिर आप इसे हिन्दी ही क्यों नहीं मानते। उन्होंने कहा चौपदों की वह उर्दू, उसके कहने का ढंग उर्दू, उसमें उर्दू की ही चाशनी और उर्दू का ही रंग है, उसकी भाषा चटपटी भी वैसी है, उसे हिन्दी कहूँ तो कैसे कहूँ।"

जब दो विभिन्न संस्कृतियों का सम्मेलन होता है तब उनके अनुयायियों के दो वर्ग हो जाते हैं। एक वर्ग में संरक्षणशीलता का और दूसरे में उदारता तथा पारस्परिक सहानुभूति का विकास होता है। प्रत्येक संस्कृत की अनुयायिनी जाति के कट्टरपंथी वर्ग उदार दल को घृणा की दृष्टि से देखते हैं और कोई भी उसे अपनी श्रेणी में परिगणित करने के लिए तैयार नहीं होता। थोड़े समय के लिए ऐसा जान पड़ने लगता है मानों वह उदार दल अस्पृश्य हो गया है। परन्तु वास्तव में बात ऐसी नहीं होती। प्राकृतिक नियमों से प्रश्रय पाकर क्रमशः उदार दल-बल संग्रह करता है और कट्टरपंथी सम्प्रदाय अपनी ही संकीर्णता

द्वारा तैयार किये गये गढ़े में गिर कर मृत्यु को प्राप्त होता है। हरिऔध जी के चौपदों की भाषा का भी यही हाल है। वर्त्तमान समय में निस्सन्देह वह समय के पहले ही कार्य्य-क्षेत्र में अवतीर्ण हो गयी है और अभी न हिन्दी उसे अपनाने को तैयार है और न उर्दू किसी झिझक के विना उससे अभिन्न-हृदयता का नाता मानना चाहती है। परन्तु ज्यों-ज्यों भारतीय राष्ट्रीयता का विकास होगा त्यों-त्यों इस भाषा का भविष्य उज्ज्वल होते जाने की आशा है।

यह कहा गया है कि हरिऔध जी ने चौपदों की रचना द्वारा हिन्दू और मुस्लिम-संस्कृतियों के सम्मेलन को साहित्य के क्षेत्र में अग्रसर किया। इस सम्बन्ध में यह कहा जा सकता है कि क्या हरिऔध जी की इन कृतियों के प्रकाशन के पहले किसी ने हिन्दी शब्दों को समाविष्ट करके उर्दू की ग़ज़लें नहीं लिखी थीं? निस्सन्देह यह कार्य्य बहुत पहले से जारी है, किन्तु हरिऔध जी ने फ़ारसी अरबी के छन्दों को यथासंभव हिन्दी पिंगल द्वारा शासित छन्दों के साथ सम्बद्ध करके वैज्ञानिक शैली का परिष्कार उत्पन्न किया है। उर्दू भाषा का संरक्षणशील वर्ग इस वर्ग की दिल्लगी भले ही उड़ावे, किन्तु कालान्तर में उसे सुविधा-अन्वेषक विज्ञान के सामने नत-मस्तक होना ही पड़ेगा। निम्नलिखित उर्दू पद्यों को देखिए—

१—आफ़ताबे हश्र है या रब कि निकला गर्म गर्म।
कोई आँसू दिलजलों के दीदए ग़मनाक से?

—ज़ौक़

२—नूर पैदा है जमाले यार के साया तले?
गुल है शरमिन्दा रुखे दिलदार के साया तले।

—नासिख़

३—ख़मोशी में निहाँ ख़ूँ गश्ता लाखों आरज़ूएँ हैं।
चिराग़े मुर्दा हूँ मैं बेज़बाँ गोरे ग़रीबाँ का।

× × ×

यह तूफ़ाँ गाह जोशे इज़्तिराबे शाम तनहाई।
शोआए आफ़ताबे सुबह महशर तारे बिस्तर है।
लबे ईसा की जुंबिश करती है गहवारा जुंबानी।
क़यामत कुश्तए लाले बुताँ का ख्वाबे संगीं है।

—ग़ालिब

उक्त पद्यों में बह्र के नियमों के अनुसार रेखांकित शब्दों को विकृत करके पढ़ना पड़ता है। इस सम्बन्ध में 'पद्य-परीक्षा' में श्रीयुत बेताब का कहना है:—

"तक़्तीअ (पद्य-परीक्षा) करते समय आवश्यकता हो तो गुरुवर्ण को लघु मान लेते हैं। हिन्दी में भी यह छूट जारी है परन्तु बात यह है कि हिन्दी वाले किसी-किसी छन्द में इस छूट से लाभ उठाते हैं, वर्णवृत्तों में कदापि नहीं, और उर्दू वाले हर बह्र में। 'भी' का 'भि' 'किसी' का 'किसि', 'से' का 'स', 'थे' का 'थ', 'मेरी' को मेरि, 'मिरी' को मिरि.........मानने में कोई हानि नहीं समझते। यह घटाना-बढ़ाना अंधाधुंध नहीं, नियत नियमानुसार है। सातों विभक्तियों के प्रत्यय गुरु से लघु होते रहते हैं।"

हिन्दी के कवियों ने भी जिनकी कविताएँ पहले उद्धृत की जा चुकी हैं, इन बह्रों का व्यवहार इन्हीं शर्त्तों पर किया है। हरिऔध जी को भ्रान्त दिशा में हिन्दी काव्य का यह आत्म-समर्पण पसन्द नहीं आया। बोलचाल की भूमिका में वे लिखते हैं:—

"जिन नियमों के अनुसार उर्दू शब्द-संसार में यह विप्लव उपस्थित होता है कि यदि वे नियम हैं तो अनियम किसे कहेंगे? उर्दू भाषा के नियामक भले ही इस प्रकार के परिवर्त्तन को नियत नियमानुसार समझें, परन्तु हिन्दी भाषा के आचार्य्यों ने उन्हें दोष माना है।...... वे उर्दू तक़्तीअ और प्रणाली से भले ही शुद्ध हों, किन्तु हिन्दी नियमों की कसौटी पर कसने के बाद उनका वास्तव रूप प्रकट हो जाता है।"

उक्त धारणा से प्रेरित होकर हरिऔध जी ने उर्दू काव्य में व्यवहृत बह्रों का संस्कार किया और उन्हें अपने काम के लायक़ बना कर

ही उनसे काम लिया। उन्होंने इस क्षेत्र में कितना कार्य्य किया, मैं पाठकों से इसे भी बता देना चाहता हूँ। उनके कुछ पद्यों को देखिए; वे इसका निर्देश कर देंगे :—

"पाँवड़े कैसे न पलकों के पड़ें।
जोत के सारे सहारे हो तुम्हीं।
आँख में बस आँख में हो घूमते।
आँख के तारे हमारे हो तुम्हीं। १।

है जहाँ में कहाँ न जादूगर।
पर दिखाया न देखते ही हो।
भूल जादूगरी गयी सारी।
आँख जादू भरी भले ही हो। २।

है जहाँ आँख पड़ नहीं सकती।
आँख मेरी वहाँ न पायी जम।
जग-पसारा न लख सके सारा।
आँख हमने नहीं पसारा कम। ३।

मतलबों का भूत सिर पर है चढ़ा।
दूसरों पर निज बला टालें न क्यों।
जब गयी हैं फूट आँखें भीतरी।
लोन राई आँख में डालें न क्यों। ४।

क्यों निचुड़ता न आँख से लोहू।
जब लहू खौल बेतरह पाया।
आँख होती न क्यों लहू जैसी।
आँख में जब लहू उतर आया"। ५।

कहीं-कहीं हरिऔध जी ने साधारण स्वतंत्रता ग्रहण की है। किन्तु वह अत्यन्त परिमित मात्रा में तथा संकीर्ण स्थानों में होने के कारण क्षम्य है। नीचे की पंक्तियों में रेखांकित शब्दों को देखिए :—

"तू न तेवर भी है बदल पाता।
क्या किसी ने सता तुझे पाया।
देख उतरा हुआ तेरा चेहरा।
आँख में है लहू उतर आया।
जो उँजाला है अँधेरे में किये।
लाल अपना वह न खो बैठे कोई।
काढ़ ली जावें न आँखें और की।
आँख को अपनी न रो बैठे कोई"।

चौपदों में ईश्वर, मनुष्य, तथा प्रकृति के चित्र

१—ईश्वर-चित्र

चौपदों में भी यत्र-तत्र ईश्वर पर कविता की गयी है। चोखे चौपदे में हरिऔध जी कहते हैं :—

"कर अजब आसमान की रंगत।
ए सितारे न रंग लाते हैं।
अन गिनत हाथ पाँव वाले के।
नख जगा जोत जगमगाते हैं।
हैं चमकदार गोलियाँ तारे।
औ खिली चाँदनी बिछौना है।
उस बहुत ही बड़े खिलाड़ी के।
हाथ का चन्द्रमा खेलौना है।
मन्दिरों मसजिदों कि गिरजों में।
खोजने हम कहाँ कहाँ जावें।
आप फैले हुए जहाँ में हैं।
हम कहाँ तक निगाह फैलावें।"

ऐसे ही ईश्वर को सम्बोधित करके उनका कथन है :—

"पेड़ हम हैं मलय पवन तुम हो।
तुम अगर मेघ मोर तो हम हैं।
हम भँवर हैं खिले कमल तुम हो।
चन्द जो तुम चकोर तो हम हैं।

तुम बताये गये अगर सूरज।
तो किरिन क्यों न हम कहे जाते।
तो लहर एक हम तुमारी हैं।
तुम अगर हो समुद्र लहराते।"

देश-हित और लोक-हित-साधन को ईश्वर-भक्ति के साथ समीकृत करते हुए तथा ईश्वरानुभूति के लिए इन दोनों की अनिवार्य्यता का संकेत-सा करते हुए वे कहते हैं :—

"है यही चाह तुम हमें चाहो।
देस-हित में ललक लगे हम हों।
रंग हम पर चढ़ा तुम्हारा हो।
लोक-हित-रँग में रँगे हम हों।"

कवि ईश्वर के विस्तार की कल्पना करने में अपनी असमर्थता प्रगट करता है :—

"जान तेरा सके न चौड़ापन।
क्या करेंगे विचार हो चौड़े।
है जहाँ पर न दौड़ मन की भी।
वाँ विचारी निगाह क्या दौड़े।"

अनुताप न करने का उसे बड़ा खेद है :—

भौं सिकोड़ी, बके झके, बहके।
बन बिगड़ लड़ पड़े अड़े अकड़े।
लोक के नाथ सामने तेरे।
कान हमने कभी नहीं पकड़े।
हो कहाँ पर नहीं झलक जाते।
पर हमें तो दरस हुआ सपना।
कब हुआ सामना नहीं पर हम।
कर सके सामने न मुँह अपना।

सब दिनों पेट पाल पाल पले।
मोहता मोह का रहा मेवा।
हैं पके बाल पाप के पीछे।
आपके पाँव की न की सेवा।"

इसी से कवि स्वीकार करता है :—

"भेद वह जो कि भेद खो देवे।
जान पाया न, तान कर सूते।
नाथ वह जो सनाथ करता है।
हाथ आया न हाथ के बूते।"

कुछ विद्वानों का मत है कि चौपदों में भी कहीं-कहीं रहस्यवाद की झलक है। अतएव, इस सम्बन्ध में भी कुछ विचार करने की आवश्यकता है।

रहस्यवाद की दो प्रधान श्रेणियाँ हो सकती हैं। एक में बड़ी गहरी ईश्वर-तल्लीनता मिलती है और स्थूल मानवी व्यापारों के वर्णन के भीतर घूँघट में से छन-छन कर प्रगट होने वाली किसी नवयुवती सुन्दरी के कपोलों की लालिमा की भाँति व्यक्त होती है। प्रकृत रहस्य-वाद के साथ ईश्वर-भक्ति का अटूट सम्बन्ध है। हिन्दी-साहित्य में ईश्वर-भक्त तो बहुत बड़े-बड़े हुए हैं, किन्तु उच्च कोटि की रहस्यमयी कविता करने वाले केवल कबीरदास हैं। रहस्यवाद की दूसरी श्रेणी वह है जिसमें ईश्वर-तल्लीनता की मात्रा उतनी नहीं होती जितनी ईश्वर-तल्लीनता की कामना की। ऐसे रहस्यवादी की कृतियों में यत्र-तत्र स्थूलता के लक्षण पा जाना कठिन नहीं होता। मलिक मुहम्मद जायसी की गणना इसी श्रेणी में की जानी चाहिए। यहाँ स्थानाभाव से मैं अधिक लिखने में तो असमर्थ हूँ, किन्तु एक साधारण उदाहरण दिये बिना यह बात स्पष्ट नहीं होगी। पद्मावत की नायिका 'सूआ' से कहती है :—

"सुनु हीरामनि कहउँ बुझाई।
दिन दिन मदन सतावै आई।
पिता हमार न चालै बाता।
त्रासहिं बोलि सकै नहिं माता।
देस देस के बर मोहिं आवहिं।
पिता हमार न आँखि लगावहिं।
जोबन मोर भयउ जस गंगा।
देह देह हम लाग अनंगा।"

ये पंक्तियाँ नायिका को बहुत अधिक सकामता की अवस्था में अंकित करती हैं। आगे चल कर मलिक मुहम्मद ने अपनी कथा का आध्यात्मिक संकेत इस प्रकार वर्णित किया है :—

"तन चितउर मन राजा कीन्हा।
हिय सिंघल बुधि पदमिनि चीन्हा।
गुरु सुआ जेइ पंथ दिखावा।
बिनु गुरु जगत को निरमल पावा।
नागमती दुनिया कर धंधा।
बाँचा सोइ न एहि चित बंधा।
राघव दूत सोइ सैतानू।
माया अलाउदीं सुल्तानू।"

इन पंक्तियों से स्पष्ट है कि रूपक में नायिका का स्थान बुद्धि का है। बुद्धि को काम के सामने इतना निर्बल न होना चाहिये, क्योंकि यदि पद्मावती रूपी बुद्धि भी ऐसी ही कामासक्त है तो नागमती रूपी गोरख-धंधा को छोड़कर सैकड़ों आपत्तियों को सहन करते हुए उसे ढूँढ़ना व्यर्थ है। इस दोष का थोड़ा सा परिहार उस अवस्था में अवश्य ही हो जाता है जब हम इस काम-पीड़ा को ईश्वरोन्मुखी स्वीकार करें।

फिर भी यह तो स्वीकार करना ही पड़ेगा कि इस सूक्ष्म पीड़ा को अत्यन्त स्थूल आवरण प्रदान किया गया है, इतना स्थूल कि असली चीज़ प्रायः छिप जाती है। मलिक मुहम्मद ने इतने स्थूल साधनों से सहारा लेकर यह स्पष्ट रूप से प्रगट कर दिया कि उनकी ईश्वर-सम्बन्धी अनुभूति सूक्ष्म नहीं। निस्सन्देह वे उसके यथार्थ रूप को हृदयंगम करने में यत्नवान थे। अतएव जायसी की गणना कबीर जैसे रहस्य-वादी कवि की कोटि में नहीं की जा सकती।

हरिऔध जी का ईश्वर-ज्ञान भी उच्चकोटि का नहीं है। जैसे एक अपढ़ ग्रामीण पंचम जार्ज से परिचित अथवा उनके प्रति व्यक्तिगत प्रेम से शून्य होने पर भी यह सोचकर प्रसन्न होता है कि किसी राजा के शासन के कारण ही सर्वत्र शान्ति है—वह राजा चाहे पंचम जार्ज हों, चाहे सप्तम एडवर्ड, और चाहे महारानी विक्टोरिया; उसने तो किसी का भी नाम नहीं सुना है—वैसे ही अखिल लोक को सुचारु रूपेण नियमित करने वाले किसी अदृष्ट शासक के अस्तित्व का तो अनुभव हरिऔध जी करते हैं, किन्तु उसके लिये उनके हृदय में न इतनी जिज्ञासा है और न इतनी लगन कि अपने सारे सांसारिक कामों को छोड़कर उससे परिचय प्राप्त करने और धीरे-धीरे उसके साथ अनुराग-सूत्र में बँधने के लिए अग्रसर हों। ईश्वर के इस अस्तित्व की अनुभूति को 'चोखे चौपदे' में उन्होंने यत्र-तत्र रहस्यवाद के साँचे में ढाला है। नीचे के कतिपय पद्यों का अवलोकन कीजिए :—

१—जान जब तक सका नहीं तब तक।
था बना जीव बैल तेली का।
जब सका जान तब जगत सारा।
हो गया आँवला हथेली का।

२—मूँद आँखें क्या अँधेरे में पड़े।
जो लगाये है समाधि न लग रही।
खोल आँखें मन सजग कर देख लो।
है जगतपति जोत जग में जग रही।

३—डालियों से अलग न होने दो।
डोलने के लिए उन्हें छोड़ो।
हैं भले लग रहे हरे दल में।
हाथ फल तोड़ कर न जो तोड़ो।

४—है उसी एक की झलक सब में।
हम किसे कान कर खड़ा देखें।
तो गड़ेगा न आँख में कोई।
हम अगर दीठ को गड़ा देखें।

५—एक ही सुर सब सुरों में है रमा।
सोचिए, कहिए, कहाँ वह दो रहा।
हर घड़ी हर अवसरों पर हर जगह।
हरिगुनों का गान ही है हो रहा।

६—पेड़ का हर एक पत्ता हर घड़ी।
है नहीं न्यारा हरापन पा रहा।
गुन सको गुन लो सुनो जो सुन सको।
है किसी गुनमान का गुन गा रहा।

७—हरि गुनों को ये सुबह है गा रही।
सुन हुईं वे मस्त कर अठखेलियाँ।
चहचहाती हैं न चिड़ियाँ चाव से।
लहलहाती हैं न उलही बेलियाँ।

८—छा गया हर एक पत्ते पर समा।
पेड़ सब ने सिर दिया अपना नवा।
खिल उठे सब फूल, चिड़ियाँ गा उठीं।
वह गयी कहती हुई हर हर हवा।

२—प्रकृति-चित्र

प्रकृति का जैसा सुन्दर और विविध रूपात्मक चित्रण हरिऔध जी ने 'प्रियप्रवास' में किया है वैसा चोखे चौपदे, चुभते चौपदे और बोलचाल में नहीं देखा जाता। 'चोखे चौपदे' के अन्तर्गत 'बहारदार बातें' एक विभाग है, उसी में वसंत, वसंत के पौधों, वसंत की बेलियों, वसंत के फूलों, वसंत की बयार, कोयल, और वसंत के भौंरों आदि की कुछ चर्चा है। इस चर्चा में भी प्रायः प्रकृति के सरल स्वरूप का सरल चित्रण ही दृष्टिगोचर होता है। नीचे के कुछ पद्य देखकर पाठक मुझ से सहमत हो सकेंगे :—

"आम बौरे कूकने कोयल लगी।
    ले महँक सुन्दर पवन प्यारी चली।
फूल कितनी बेलियों में खिल उठे।
    खिल उठा मन खिल उठी दिल की कली।

बेलियों में हुई छगूनी छवि।
    बहु छटा पा गया लता का तन।
फूल फल दल बहुत लगे फबने।
    पा निराली फबन फबीले बन।

है सराबोर सी अमी-रस में।
    चाँदनी है छिड़क रही तन पर।
घूम महँ महँ महक रही है वह।
    बह रही है वसंत की बैहर।

कूक कर के निज रसीले कंठ से।
    है निराला रंग रगों में भर रही।
कोयलें ये रंग में रंगत दिखा।
    है दिलों में चोदनें भर कर रही।

गूँज कर झुक कर झिझक कर झूम कर।
भौंर करके भौंर हैं रस ले रहे।

फूल का खिलना, विहँसना, विलसना।
दिल लुभाना देख हैं दिल दे रहे।

चौगुने चाव साथ रस पी पी।
भौंर वह ठौर ठौर करती है।

आँख भर देख देख फूल फबन।
भाँवरें भौंर भीर भरती है।"

एक स्थल पर टेसू के लाल फूलों और कोंपलों की लालिमा के सम्बन्ध में भी कवि ने कुछ उक्तियाँ की हैं :—

"कर दिलों का लहू लहू छूवे।
ए छुरे पूच पालसी के हैं।
या खिले लाल फूल टेसू के।
या कलेजे छिले किसी के हैं। १।

जो हुआ है लालसाओं का लहू।
लाल फल दल है उसी में ही रँगा।
है उसी का दर्द कोयल कूक में।
कोंपलों में है वही लोहू लगा।"

२—मानव-चित्र

'प्रियप्रवास' में जिस जाति-प्रेम के सिद्धान्त की घोषणा की गयी थी उसका क्षेत्र अत्यन्त विस्तृत था। सच बात तो यह है कि विश्व-प्रेम की वेदी पर उसमें न केवल अपने स्वार्थों के बलिदान की शिक्षा दी गयी है, बल्कि जातीयता का त्याग भी उस बलिदान में सम्मिलित है, क्योंकि

यदि कृष्ण का ब्रज से अलग रहना किसी आधार पर समर्थित किया जा सकता है तो वह विश्वप्रेम ही है। चुभते चौपदे में हरिऔध जी की कला अपने इस उच्च लक्ष्य से थोड़ी देर के लिए विदा माँग लेती है और हिन्दू समाज को उन्नत बनाने के निमित्त, हिन्दुओं की स्थिति में संशोधन उत्पन्न करने के लिए, परिमित क्षेत्र में अपनी प्रतिभा को क्रीड़ा करने का अवसर देती है। हरिऔध जी ने स्वयं ही कहा है कि हिंदुओं के बनाने में, खिझाने में उनका एक मात्र उद्देश्य रहा है, उनकी हित-कामना। वे हर तरह से हिन्दुओं के हृदय में अपनी हीन अवस्था के प्रति अनुताप उत्पन्न करना चाहते थे, अतएव स्वभावतः उन्होंने अनेक स्थलों पर उसे अतिरंजित चित्रण किया है। कुछ पद्य देखिये :—

"हैं लट्टू हम यूनिटी पर हो रहे।
और वह लट बे तरह है पिट रही।
सुध गँवा सारी हमारी जाति अब।
है हमारे ही मिटाये मिट रही।
जाति अपनी सँभालते हैं वे।
हम नहीं हैं सँभाल सकते घर।
क्या चलें साथ दौड़ने उनके।
जो कि हैं उड़ रहे लगा कर पर।
क्यों न मुँह के बल गिरें खा ठोकरें।
छा अँधेरा है गया आँखों तले।
हो न पाये पाँव पर अपने खड़े।
साथ देने चाल वालों का चले।"

निम्नलिखित पंक्तियाँ जातीयता का मोल बेहद बढ़ा देती हैं :—

"दौड़ उनकी है फिरंगे देस तक।
घूम फिर जब हम रहे तब घर रहे।
हम छलाँगें मार हैं पाते नहीं।
वे छलाँगें हैं छगुनी मार रहे।

वह कहीं हो पर गले का हार है।
इस तरह वे जाति रँग में हैं रँगे।
रंगतें इतनी हमारी हैं बुरी।
हैं सगे भी बन नहीं सकते सगे।

है पसीना जाति का गिरता जहाँ।
वे वहाँ अपना गिराते हैं लहू।
जाति लोहू चूस लेने के लिये।
कब नहीं हम जिन्द बनते हूबहू।

बावलों जैसा बना उनको दिया।
दूर से आ जाति-दुख के नाम ने।
आँख में उतरा नहीं मेरे लहू।
जाति का होता लहू है सामने।

जाति को ऊँचा उठाने के लिए।
बाग अपनी कब न वे खींचे रहे।
नीच बन आँखें बहुत नीची किये।
हम गिराते जाति को नीचे रहे।"

चौपदों में हिन्दू समाज की शोचनीय स्थिति ने हरिऔध जी के चित्त को इतना अभिभूत कर दिया है कि उन्हें प्रकृति की ओर दृष्टिपात करने का बहुत कम अवसर मिलता है। ईश्वर की याद भी यत्र-तत्र ही उन्हें आयी है। ऐसा जान पड़ता है जैसे गृहस्थी की चिन्ताओं में उलझ कर कोई आदमी उपवन में विहार और परमात्मा का स्मरण करने से विरत हो गया हो।

किन्तु यहाँ जो कुछ कथन किया गया है वह अधिकांश में चुभते चौपदे ही के लिए सत्य है। 'चोखे चौपदे' और 'बोलचाल' में जो मानव-चित्र अंकित किया गया है, वह जातीयता की परिधि के भीतर

व्यापक भावों का विकास ही देखा जाता है। यह स्वीकार करना पड़ेगा कि मुहावरों का प्रयोग करने की उत्कंठा ने उनकी कविता की दिशा का निर्देश किया है, फिर भी चित्रों में किसी न किसी श्रेणी का सौन्दर्य्य प्रस्फुटित ही हुआ है। नीचे बोलचाल और चोखे चौपदे की कतिपय पंक्तियाँ पाठक देखें :—

१—"क्यों किसी मुँह पर मुहर होवे लगी।
क्यों किसी मुँह से लगा प्याला रहे।
मुँह किसी का जाय मीठा क्यों किया।
क्यों किसी मुँह में लगा ताला रहे।
हम तरसते हैं, खुले मुँह आप का।
मुँह हमारा आप क्यों हैं सी रहे।
आप तो मुँह भर नहीं हैं बोलते।
आप का मुँह देख हम हैं जी रहे।"

२—"लुट सदा के लिए गया सरबस।
आज बेवा सोहाग है खोती।
फूट जोड़ा गया जनम भर का।
क्यों न वह फूट फूट कर रोती।
गोद सूनी हुई भरी पूरी।
है धरोहर बहुत बड़ा खोती।
छिन गया लाल आँख का तारा।
'मा' न कैसे बिलख बिलख रोती।"

३—"दान भी तो हुआ कोई नहीं।
दीन हो हर बात में क्या रो रहे।
देख ली मुँह की गया मारा गया।

निज बड़े ही पलीद जी से ही।
क्यों न अपना पलीदपन पूछें।
जब नहीं रह गया बड़प्पन कुछ।
पूँछ हैं तो बड़ी बड़ी मूछें।
डाँट जो बैठे उसी से डर बहुत।
हैं पकड़ कर कान उठते बैठते।
जब हमारी ऐंठ ही जाती रही।
तब भला हम मूँछ क्या हैं ऐंठते।
क्या मिला बरबाद करके और को।
क्यों लगा दुख बेलि सुख खोते रहे।
आह! तो हो तुम बुरे से भी बुरे।
जो बुराई बीज ही बोते रहे।

०

चौपदों में हरिऔध जी की काव्य-कला के साधन

'चोखे चौपदे' की भूमिका में हरिऔध जी ने लिखा है :—

"सामयिक साहित्य वह है जिसमें तत्कालिक घात-प्रतिघात और घटित घटनाओं से प्रसूत आवेशों, उद्गारों और भावों का समावेश होता है। उस समय जाति के नियंत्रण, उद्बोधन, जागरित-करण और संरक्षण इत्यादि में इससे बड़ी सहायता मिलती है, अतएव कुछ समय तक इस प्रकार के साहित्य का बड़ा आदर रहता है। किन्तु समय की गति बदलने और उसकी उपयोगिता का अधिक ह्रास अथवा अभाव होने पर वह लुप्त हो जाता है। सामयिक साहित्य पावस ऋतु के उस जलद-जाल के तुल्य है जो समय पर घिरता है, जल-प्रदान करता है, खेतों को सींचता है, सूखे जलाशयों को भरता है और ऐसे ही दूसरे लोकोपकारी कार्य्यों को करके अन्तर्हित हो जाता है।"

इस कसौटी पर कसने से 'चुभते चौपदे' की गणना सामयिक साहित्य ही में की जायगी। हरिऔध जी के भावुक हृदय ने हिन्दू पक्ष को जिस प्रकार प्रोत्साहित करने का प्रयत्न किया है उसके उन उपकरणों को यदि हम पृथक् कर दें जो उस कला से प्राप्त हुए हैं, तो उसका अनलंकृत स्वरूप तो आज भी, जब कि राष्ट्रीयता ने हमारी प्रगति-शील विचार-धारा पर अधिकार कर रक्खा है, किसी अतीत युग का स्मरण मात्र समझा जायगा। परन्तु 'बोलचाल' और 'चोखे चौपदे' के सम्बन्ध में यह बात नहीं कही जा सकती। इनकी गणना स्थायी साहित्य ही में की जायगी, क्योंकि इनमें अंकित चित्रों और व्यक्त भावों का सम्बन्ध उस भावना से है जो देश, काल और समाज-विशेष की परिधि के

भीतर आवद्ध नहीं है। इसी प्रसंग में स्थायी साहित्य की मीमांसा करते हुए हरिऔध जी कहते हैं:—

"प्रत्येक भाषा के लिए स्थायी साहित्य की आवश्यकता होती है। जो विचार व्यापक और उदात्त होते हैं, जिनका संवंध मानवीय महत्त्व अथवा सदाचार से होता है, जो चरित्र-गठन और उसकी चरितार्थता के सम्वल होते हैं, जिन भावों का परम्परागत सम्वन्ध किसी जाति की सभ्यता और आदर्श से होता है, जो उद्गार हमारे तमोमय मार्ग के आलोक वनते हैं, उनका वर्णन अथवा निरूपण जिन रचनाओं अथवा कविताओं में होता है, वे रचनाएँ और उक्तियाँ स्थायिनी होती हैं। इसलिये जिस साहित्य में वे संगृहीत होती हैं वह साहित्य स्थायी माना जाता है। × × × स्थायी साहित्य उस जल वाष्प-समूह के समान है, जो सदैव वायु में सम्मिलित रहता है, पल पल संसार-हितकर कार्यों को करता है, जीवों के जीवन-धारण, सुख-सम्पादन, स्वास्थ्यवर्द्धन का साधन और समय पर सामयिक जलद-जाल के जन्म देने का हेतु भी होता है।"

'वोलचाल' में हरिऔध जी द्वारा परिभाषित स्थायी साहित्य की यथेष्ट सामग्री है, किन्तु 'चोखे चौपदे' में उसकी प्रचुरता है। वास्तव में कवित्व की दृष्टि से 'चुभते चौपदे' और 'वोलचाल' दोनों ही से 'चोखे चौपदे' का स्थान ऊँचा है। हरिऔध जी की ममता तो 'चोखे चौपदे' को 'प्रियप्रवास' से भी ऊँचा स्थान देना चाहती है, ठीक वैसे ही जैसे अंग्रेजी के प्रसिद्ध कवि जौन मिल्टन ने 'पैराडाइज़ लास्ट' की अपेक्षा पैराडाइज़ रिगेन्ड ही को अधिक महत्त्व देना चाहा था। 'चोखे चौपदे' में शक्ति का अभाव नहीं है, उसमें भी यथेष्ट भाव-विभव है और हिन्दी-साहित्य के आगामी जीवन में उसका उज्ज्वल भविष्य सुनिश्चित है; उसके अध्ययन का श्रीगणेश तो विश्व-विद्यालय की उच्च कक्षाओं ने कर भी दिया है।

जहाँ तक काव्य-कला-विपयक साधनों के प्रयोग का सम्वन्ध है, 'प्रिय-प्रवास' और 'चोखे चौपदे' की भिन्नता सुस्पष्ट है। 'प्रिय-प्रवास'

प्रबन्ध-काव्य है और 'चोखे-चौपदे' के पद्य मुक्तक हैं; भाषा, छन्द, शैली सभी बातों में भिन्नता है। वास्तव में 'प्रियप्रवास' और 'चोखे चौपदे' एक दूसरे से इतने ही दूर हैं जितना उत्तर दक्षिण से और पूर्व पश्चिम से। 'प्रिय-प्रवास' के प्रत्येक पद्य में कवित्व का चमत्कार नहीं मिलेगा—जो प्रबन्ध-काव्य के लिए सर्वथा स्वाभाविक है। किन्तु 'चोखे चौपदे' के ऐसे पद्य शायद ही मिल सकें, जिनमें किसी न किसी चमत्कार का समावेश न हो सका हो। 'चोखे चौपदे' की इस विशेषता के कारण उसका अध्ययन बिहारीलाल की सतसई और केशवदास की रामचन्द्रिका के अध्ययन की शैली पर होना चाहिये।

काव्य की परिभाषाओं में पारस्परिक मतभेद चाहे जितना हो, परन्तु उसकी एक विशेषता की अनिवार्य्यता पर सभी सहमत हैं और वह है सौन्दर्य्य-सृष्टि। कवि यदि सौन्दर्य्य-सृष्टि के लिए लेखनी नहीं उठाता, तो वह व्यर्थ ही उसे कष्ट देता है। सौन्दर्य्य की अनेक श्रेणियाँ परिकल्पित की जा सकती हैं और कतिपय सिद्धान्तों की स्थापना करके उनकी उत्कृष्टता की कसौटी भी निर्धारित हो सकती है। किन्तु यहाँ इस विषय की विस्तृत विवेचना के लिये स्थान नहीं। इस प्रसंग में इतना ही निवेदन पर्याप्त समझा जाना चाहिए कि सौन्दर्य्य की किसी विशेष शैली, उसके किसी भी स्थानीय रंग का हमें दास न होना चाहिये; मुक्त-हृदय और पूर्ण रसिक होकर हम उसके प्रत्येक स्वरूप का रसास्वादन करें।

प्रिय-प्रवास में जिस सौन्दर्य्य की सृष्टि की गयी है उसके प्रति हमारे अनेक संस्कारों की स्वाभाविक सहानुभूति होने के कारण वह हमें प्रिय प्रतीत होता है। 'चोखे चौपदे' को यह सहायता प्राप्त नहीं है। किन्तु क्या थोड़े से बाह्य व्यवधानों के कारण हम 'चोखे चौपदे' को दूर से ही नमस्कार कर लेने की अरसिकता प्रदर्शित करेंगे। निःसन्देह 'चोखे चौपदे' में न तो 'प्रिय-प्रवास' की अनुपम माधुरीमयी राधा और गोपियों की मूर्ति मिलेगी और न उसके मधुर प्रकृति-चित्रों की सुषमा ही। वास्तव में चौपदों का क्षेत्र समाज है; इस तरह का

काव्य नागरिक जीवन और राजदर्बार की प्रसूति तथा विभूति है और इस तथ्य को स्मरण रखते हुए ही हमें उसका अध्ययन करना चाहिए।

आजकल निरलंकार कविता की प्रशंसा की ओर काव्य-प्रेमियों की अधिक रुचि हो रही है। इसमें सन्देह नहीं कि

'नहीं मुहताज गहनों का, जिसे ख़ूबी ख़ुदा ने दी'

किन्तु निरलंकारता में ही शोभा का अस्तित्व सर्वसामान्य और सर्व-सुलभ बात नहीं है, क्योंकि सौन्दर्य्य और लावण्य प्रदान करने में विधाता सबके ऊपर समान रूप से कृपालु नहीं होते। इसलिए अलंकारों की सौन्दर्य्य-वर्द्धिनी शक्ति के प्रति मानव-हृदय सृष्टि के आदि से ही विश्वासशील और श्रद्धालु बना रहा है और सृष्टि-स्वभाव के वर्तमान रूप में जब तक कोई क्रान्तिकारी परिवर्त्तन नहीं उपस्थित होता तब तक शायद अनन्त काल तक बना रहेगा।

'चोखे चौपदे' में कहीं कहीं शृंगार रस का भी मनोहर छिड़काव है; निम्नलिखित पद्य पाठकों के देखने के लिये प्रस्तुत किये जाते हैं:—

१—देह सुकुमारपन बखाने पर।
और सुकुमारपन बतोले हैं।
छू गये नेक फूल के गजरे।
पड़ गये हाथ में फफोले हैं।

२—धुल रहा हाथ जब निराला था।
तब भला और बात क्या होती।
हाथ के जल गिरे ढले हीरे।
हाथ झाड़े बिखर पड़े मोती।

३—जी टले पास से धड़कता है।
जोहते मुख कभी नहीं थकते।
आँख से दूर तब करें कैसे ?
जब पलक ओट सह नहीं सकते।

४—देखते ही पसीज जावेंगे।
रीझ जाते कभी न वे ऊबे।

टल सकेंगे न प्यार से तिल भर।
आँख के तिल सनेह में डूबे।

प्रथम दो पद्यों में अंकित नायिका के सौन्दर्य्य का, सुकुमारपन का अन्दाज़ तो कीजिये। कवि यह नहीं कहता कि नायिका के हाथ फूल की तरह कोमल हैं; वह तो फूलों को सुन्दरी के हाथों की अपेक्षा अत्यंत कठोर बताना चाहता है, इतना कठोर कि उन्हें छूने से उसके हाथों में फफोले पड़ जाते हैं। ऐसी दशा में पाठक ही सोचें कि वे हाथ कितने सुकुमार होंगे! इस नायिका की कल्पना से बिहारी लाल की नायिका का स्मरण हो आता है जिसकी जीती-जागती तस्वीर निम्नलिखित दोहे में अंकित है:—

हौं बरजी कै बार तू कत उत लेति करौंट।
पँखुरी लगे गुलाब की परि है गात खरौंट।

इसी प्रकार तीसरे पद्य में विरह की असहनीयता का बहुत सुन्दर वर्णन है। कवि का कहना है कि नायिका को आँख से दूर होने देना तो दूर की बात, पलक की ओट होने देना सहनीय नहीं है!

चौथे पद्य में 'तिल' के श्लेषात्मक प्रयोग ने बड़ा ही हृदयग्राही माधुर्य्य उत्पन्न कर दिया है। नायिका की आँखों के तिल स्नेह में इस तरह डूबे हुए हैं कि नायक को देखने पर उनका पसीज जाना या भीग जाना एक निश्चित बात है। जो स्नेह में डूबा हुआ है वह भला स्नेह से कैसे हट सकता है? किन्तु कवि को इतने कथन से सन्तोष नहीं; वह कहता है कि प्यार में सने हुए ये तिल तिल भर भी प्यार से नहीं हट सकते! इस पद्य में अपार कवित्व इसी तिल भर में भर गया है! ये चारों पद्य अत्युक्ति अलंकार के अच्छे उदाहरण हैं।

शृंगार, वात्सल्य और करुणा तीनों रसों पर हरिऔध जी का एक समान रूप से अधिकार है। शृंगार रस की थोड़ी सी बानगी तो पाठक देख चुके, अब वात्सल्य रस का नमूना देखें :—

१—प्यार मा के समान है किसका।
है कढ़ी धार किस हृदय-तल से।
छातियों मिस हमें दिये किसने।
दूध के दो भरे हुए कलसे।

२—दूध छाती में भरा भर बह चला।
आँख बालक ओर मा की जब फिरी।
गंगधारा शंभु के सिर से बही।
दूध की धारा किसी गिरि से गिरी।

३—एक मा में कमाल ऐसा है।
कुंभ को कर दिया कमल जिसने।
रस भरे फल हमें कहाँ न मिले?
फल दिये दूध से भरे किसने?

४—तैरते हैं उमंग लहरों में।
चाव से लाड़ साथ लड़ लड़ के।
लाभ हैं ले रहे लड़कपन का।
हाथ औ पाँव फेंकते लड़के।

५—प्यार से हैं प्यार की बातें भरी।
मा कलेजे के कमल जैसा खिले।
पाँव पाँव ठुमुक ठुमुक घर में चले।
लाल को हैं पाँव चन्दन के मिले।

करुण रस पर हरिऔध जी का अधिकार अन्य सभी रसों की अपेक्षा अधिक है। प्रिय प्रवास में तथा 'दुखिया के आँसू' 'दिल के फफोले' आदि अनेक फुटकर चौपदों में, जो 'चोखे चौपदे' में समाविष्ट नहीं हुए हैं, उनकी करुण रस-सिक्त कविता का चमत्कार अपूर्व है। 'चोखे चौपदे' में इसका सर्वथा अभाव तो नहीं है, किन्तु हरिऔध जी की कुशल लेखनी की करामात इसमें देखने को नहीं मिलती। फिर भी इनमें अलंकारिक सौन्दर्य है। नीचे के कतिपय पद्य देखिए :—

१—एक दिन था कि हौसलों में डूब।
गूँथती प्यार-मोतियों का हार।
अब लगातार रो रही है आँख।
टूटता है न आँसुओं का तार।

२—बेबसी में पड़ बहुत दुख सह चुकी।
कर चुकी सुख को जला कर राख तू।
अब उतार रही-सही पत को न दे।
आँसुओं में डूब उतरा आँख तू।

३—बेबसी तो है इसी का नाम ही।
पड़ पराये हाथ में हैं छँट रही।
मूँछ कट क्या सैकड़ों कट में पड़ी।
आज कितनी दाढ़ियाँ हैं कट रहीं।

४—दीन दुखियों पर पसीजें क्यों न हम।
देख उनकी आँख से आँसू छना।
क्यों किसी की वे गरम मूठी करें।
है न उनके पास मूठी भर चना।

५—[illegible] तुम बचते कि वे भैंसे न हों।
तोड़ने तो धीर हो जाती नहीं।
जो लगी होती न लत की छूत तो।
तुम फफूले फूल छूते ही नहीं।

शान्त और अद्भुत रस के थोड़े से पद्यों का भी अवलोकन कीजिए :—

१—[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]

२—पत्तियों तक को भला कैसे न तब।
कर बहुत ही प्यार चाहत चूमती।
साँवली सूरत तुम्हारी साँवले।
जब हमारी आँख में है घूमती।

३—हरि भला आँख में रमे कैसे।
जब कि उसमें बसा रहा सोना।
क्या खुली आँख औ लगी लौ क्या।
लग गया जब कि आँख का टोना।

४—हैं चमकदार गोलियाँ तारे।
औ खिली चाँदनी बिछौना है।
उस बहुत ही बड़े खिलाड़ी के।
हाथ का चन्द्रमा खेलौना है।

५—सब दिनों पेट पाल पाल पले।
मोहता मोह का रहा मेवा।
हैं पके बाल पाप के पीछे।
आप के पाँव की न की सेवा।

चोखे चौपदे के पद्यों में अलंकारों का बड़ा चमत्कार है। ऊपर से चौथे पद्य का चमत्कार देखिये—ईश्वर बहुत बड़ा खिलाड़ी है, क्योंकि वह ताराओं की अगणित चमकदार गोलियाँ लेकर चाँदनी के बिछौने पर प्रायः खेलता रहता है, इसके अतिरिक्त उसके पास एक और बहुत बढ़ियाँ खेलौना है, जिसे देख कर लड़के मचलते हैं और जिसका नाम चन्द्रमा है। चाँदनी में कितना सुन्दर श्लेप है। "उस बहुत ही बड़े खेलाड़ी के हाथ का चन्द्रमा खेलौना है, इस पद्यांश में अद्भुत व्यंजना है। संस्कृत का एक वाक्य है 'सूर्यो आत्मा हि जगतः" सूर्य्य जगत की आत्मा है, अतएव उस बहुत ही बड़े खेलाड़ी से उसकी अभिन्नता है, वह उस विश्वरूप का रूप है। हाथ का अर्थ कर भी है, कर का अर्थ किरण है, चन्द्रमा सूर्य्य के कर का ही खेलौना तो है,

कभी वह उसे दो कला में, कभी तीन कला में, कभी चार कला में, कभी पाँच से लेकर पंद्रह कलाओं में दिखलाता है। देखिये चन्द्रमा परमात्मा के हाथ का कितना सुन्दर खेलौना है। हाथ के साभिप्राय प्रयोग ने पद्य को कितना चमका दिया है, इसका अनुभव सहृदय हृदय ही कर सकता है।

एक एक पद्य के सभी अलंकारों को समझाने के लिए यहाँ पूरा स्थान नहीं है। इसलिये विशेष विशेष अलंकारों ही की चर्चा करके सन्तोष करना पड़ेगा। नीचे कतिपय पद्य दिये जाते हैं जिनके प्रधान अलंकार शीर्षक रूप में ऊपर लिख दिये गये हैं। उनमें और अलंकार भी हैं, परन्तु उनको बाहुल्य भय से छोड़ता हूँ।

रूपक

१—क्यों कढ़े आँख से न चिनगारी,
क्यों न उठने लगे लवर तन में।
क्यों वचन वह बनें न अंगारे,
कोप की आग जब जली मन में।

२—हैं उसी में भाव के फूले कमल,
जो सदा सिर पर सुजन सुर के चढ़े।
हैं उरज लहरें उसी में खेलतीं,

हो पड़ी चूर खोपड़ी ने ही,
अन गिनत बाल पाल क्या पाया।
उन लयों लहरों सुरों के साथ भर,
रस अछूते प्रेम का जिनसे बहे।
कंठ की घंटी बजी जिनकी न वे,
कंठ में क्या बाँधते ठाकुर रहे।
प्यास पैसों की उन्हें है जब लगी,
क्यों न तो पानी भरेंगे पन भरे।
जग विभव जब आँख में है भर रहा,
किस तरह तो मन भरे का मन भरे।

स्वभावोक्ति

१—भेद उसने कौन से खोले नहीं।
कौन सी बातें नहीं उसने कहीं।
दिल नहीं उसने टटोले कौन से,
धुस गया कवि किस कलेजे में नहीं।
कौन उनमें बिना कसर का था,
हैं दिखायी दिये हमें जितने।
खोल दिल कौन मिल सका किससे,
हैं खुले दिल हमें मिले कितने।
ढोल में पोल ही मिली हमको,
बारहा आँख खोल कर देखा।
है वहाँ मोल तोल मतलब का,
लाखहा दिल टटोल कर देखा।

मुद्रालंकार

१—पाँव भी रक्खें अहित पथ में न तो।
हित अगर कर दें न उठते-बैठते।
कुछ किसी से ऐंठ क्यों फूले फिरें।
ऐंठ पंजों को रहें क्यों ऐंठते।

२—रंग में जो प्रेम के डूबे नहीं।
जो न पर-हित की तरंगों में बहे।
किसलिए हरिनाम तो वह सीखते।
कंठ भर जल में खड़े जपते रहे।

विचित्रालंकार

१—आप ही समझें हमें क्या है पड़ी।
जो कि अपने आप पड़ जायें गले।
है जहाँ पर बात चलती ही नहीं।
कौन मुँह लेकर वहाँ कोई चले।

यथासंख्य अलंकार

१—बात लगती लुभावनी कह सुन।
बन दुखी हो निहाल दुख सुख से।
दिल हिले, आँख से गिरे मोती।
दिल खिले फूल झड़ पड़े मुख से।

२—होंठ औ दाँत मिस समय पाकर।
मुँह लगे फल बुरे भले पाने।
है अगर फल कहीं हनारू का।
तो कहीं है अनार के दाने।

३—है कहीं लाल औ कहीं आँसू।
और मुँह में कहीं हँसी का थल।
है कहीं मेघ औ कहीं बिजली।
औ कहीं पर बरस रहा है जल।

विरोधाभास

१—खोल दिल दान दें खिला खावें।
धन हुआ कब धरम किये से कम।
धन अगर है बटोरना हम को।
तो बटोरें न हाथ अपना हम।

२—चैन लेने कभी नहीं देंगी।
खटमलों से भरी हुई गिलमें।
क्यों नहीं काढ़ता कसर फिरता।
जब कसर भर गयी किसी दिल में।

३—पास तक भी फटक नहीं पाते।
सैकड़ों ताड़ झाड़ सहते हैं।

३—चैन चौपाल चोज चौबारा।
चाव चौरा चबाव आँगन है।
चाल का चौतरा चतुरता कल।
चाह थल चेतना महल मन है।

४—मन चलापन मकान आला है।
चोचला चौक चाव वाला है।
है चुहल से चहल पहल पूरी।
नर कलेजा नगर निराला है।

२—दीपक

१—क्या हुआ प्यार-पालने में पल।
जो नहीं है कमाल भेजे में।
वे रखे जायँ कालिजों में भी।
जो गये हैं रखे कलेजे में।

२—है बड़ा ही कमाल कर देती।
है सुरुचि भाल के लिए रोली।
नींव सारी भलाइयों की है।
बात सच्ची, ऊँची, भली, भोली।

३—नाम सनमान सुन नहीं पाता।
देख मेहमान को सदा ऊबा।
मान का मान कर नहीं सकता।
मन गुमानी गुमान में डूबा।

४—दुख बड़े से बड़े उसी में हैं।
है बड़ा दुख जिन्हें अँगेजे में।
एक से एक हैं कड़े पचड़े।
हैं बखेड़े बड़े कलेजे में।

५—पा समय मोम सा पिघलता है।
फूल है प्यार रंग में ढाला।
है मुलायम समान माखन के।
है दयावान मन दया वाला।

६—मोम है, है समान माखन के।
जोंक है और नोक नेजा है।
फूल से भी कहीं मुलायम है।
काठ से भी कठिन कलेजा है।

३—श्रुत्यनुप्रास

१—हो भरा सब कठोरपन जिसमें।
संग कहना उसे न बेजा है।
है ठमक, गाँठ, काठपन जिसमें।
वह बड़ा ही कठिन कलेजा है।

२—दूर अनबन वही सकेगा कर।
जो बना रंज का न प्याला है।
क्यों पड़ेगा न मेल का लाला।
जब कलेजा मलाल वाला है।

३—मतलबी पालिसी-पसंद बड़ा।
वे कहा, वे दहल, जले तन है।
है उसे मद मुसाहिबी प्यारी।
साहिबी से भरा मनुज मन है।

४—यमक

१—अनमने क्यों बने हुए मन हो।
नेक सन्देह है न सत्ता में।
कह रहे हैं हरे-भरे पत्ते।
हरि रमा है हरेक पत्ता में।

२—सूर को क्या अगर उगे सूरज।
क्या उसे जाय चाँदनी जो खिल।
हम अँधेरा तिलोक में पाते।
आँख होते अगर न तेरे तिल।

आशा है, ये थोड़े से उदाहरण हरिऔध जी की ललित पदयोजना की बानगी दिखा देने के लिए यथेष्ट होंगे। अब पाठक चौपदों के उस मुहावरा सम्बन्धी के बहुल प्रयोग की ओर दृष्टि पात करें जिसके द्वारा हरिऔध जी ने हिन्दी-साहित्य में पथ-प्रदर्शन का काम किया है। पाठक निम्नलिखित पद्यों में मुहावरों की करामात देखें:—

१—जब किसी का पाँव हैं हम चूमते।
हाथ बाँधे सामने जब हैं खड़े।
लाख या दो लाख या दस लाख के।
क्या रहे तब कंठ में कंठे पड़े।

२—वे बसी है बरस रही जिस पर।
तीर उस पर न तान कर निकले।
यह कसर है बहुत बड़ी दिल की।
सर हुए पर, न दिल कसर निकले।

३—बढ़ गये पर बुरे बखेड़ों के।
बैर का पाँव गाड़ना देखा।
हो गये पर बिगाड़ बिगड़े का।
मुँह बिगड़ना बिगाड़ना देखा।

४—हाथ लो मन मानती मेंहदी लगा।
या बनो मल रंग कोई गाल सा।
पर तमाचे मार मत हो लाल तुम।
लाल होने की अगर है लालसा।

५—जाय छीनी मान की थाली तुरत।
औ उसे अपमान की डाली मिले।
रख सकी जो जाति मुख-लाली नहीं।
धूल में तो हाथ की लाली मिले।

उपमा आदि अन्य अलंकारों से अलंकृत थोड़े से सरस पद्य भी देखिए:—

१—उपमा

१—तज उसे कौन है भल ऐसा।
दिल कमल सा खिला मिला जिसका।
फूल मुँह से झड़े किसी कवि के।
है कलेजा न फूलता किसका।

२—रस-रसिक पागल सलोने भाव का।
कौन कवि सा है लुनाई का सगा।
लोक-हित-गजरा लगन-फूलों बना।
है रखा किसने कलेजे से लगा।

३—क्यों ललकती रहें न मा-आँखें।
दल उसे लाल फूल का कह कह।
लाल है, है गुलाल की पुटली।
लाल की लाल लाल एड़ी यह।

४—रस किसी को भला चखाते क्या।
हो बहाते लहू बिना जाने।
दाँत आनर तुम्हें न क्यों मिलता।
हो अनूठे अनार के दाने।

५—हित महँक जिसकी बहुत है मोहती।
जो रहा जन-चित भँवर का चाव थल।
पा सका जिससे बड़ी छबि प्यार सर।
है कलेजा बेटियों का वह कमल।

६—चाहिए था चाँदनी जैसी छिटक।
वह बना देती किसी की आँख तर।
कर उसे बेकार बिजली कौंध सम।
क्या दिखाई मुसकुराहट होंठ पर।

हरिऔध जी का विवेचनात्मक गद्य

हरिऔध जी जितने ही कुशल रचनाकार हैं उतने ही प्रवीण संग्रहकार भी हैं। उनके विवेचनात्मक गद्य में भिन्न भिन्न भाषाओं के, और अत्यन्त चारुतापूर्वक विषय को स्पष्ट बनाने वाले, उद्धरणों को जिन्होंने देखा होगा वे इस बात से अच्छी तरह परिचित होंगे। एक सहृदय सज्जन अर्थात् पण्डित जनार्दन प्रसाद झा एम० ए० इस सम्बन्ध में यह कहते हैं:—

"इनका (हरिऔध जी का) ज्ञानार्जन इनकी संग्रह और संचय-वृत्ति का परिणाम है। शृंखलाबद्ध अध्ययन-क्रम के साथ यद्यपि इनकी स्थिति और मनोवृत्ति का घनिष्ट साहचर्य नहीं प्रतीत होता तथापि इनके गद्य लेखों से इस बात का पूरा पता चल जाता है कि ज्ञान-प्रदर्शन की कला में ये पूर्ण पटु हैं। कविता की ध्यान-धारा में बहने वाले इस क्षमताशाली साहित्यिक की लेखनी जब गद्य की भाव-भूमि पर दौड़ने लगती है तो मालूम होता है, इसकी नोक के साथ संस्कृत, प्राकृत, उर्दू, फ़ारसी, बंगला, अंग्रेजी आदि अनेक उन्नत भाषाओं के अनमोल वैभव बँधे हुए हैं।"

हरिऔध जी के विवेचनात्मक गद्य में भी उनका कवि-स्वरूप प्रकट हुए बिना नहीं रहता। इस प्रकार के गद्य में उचित से अधिक मात्रा में भावुकता का समावेश हो जाने से कहीं कहीं वह अलंकार-स्वरूप होने के स्थान में बाधक हो जाता है। ऐसी स्थिति में जहाँ एक ओर उद्धरण देने की अत्यन्त अधिक प्रवृत्ति के कारण वे निबन्ध अथवा गद्यकाव्य लिखने का अवसर नहीं पा सके हैं, वहाँ विद्वत्तापूर्ण गद्य के भीतर गद्यकाव्योचित कारीगरी दिखाने के लिए किसी किसी स्थल में उचित से अधिक विराम ग्रहण करते हैं। अलग अलग ये दोनों बातें

बहुत ही सुन्दर रूप धारण करतीं, किन्तु एक ही लेख के भीतर इनका सम्मिलन कहीं कहीं खटकने लगता है।

हरिऔध जी का विवेचनात्मक गद्य जटिल और दुरूह नहीं होता, जहाँ तक संभव होता है वे अपने विचार को बहुत स्पष्ट कर डालना चाहते हैं। नीचे के कतिपय अवतरण देखिए :—

१—श्रीमती राधिका का पद बहुत ऊँचा है। उनको वही गौरव प्राप्त है जो किसी लोकाराधनीया ललना को दिया जा सकता है। भगवान् श्रीकृष्ण यदि लोकपूज्य महापुरुष हैं तो श्रीमती सर्वजन-आदृता रमणी, वे यदि मूर्तिमान् प्रेम हैं तो ये मूर्त्तिमती प्रेमिका, वे यदि विष्णु के अवतार हैं तो ये हैं लक्ष्मी-स्वरूपिणी, वे यदि हैं देवादिदेव तो ये हैं साक्षात् स्वर्ग की देवी।"

× × ×

२—माता-पिता की विहार-सम्बन्धी अनेक बातें ऐसी हैं जिनको पुत्र अपने मुख पर भी नहीं ला सकता, उनके विषय में अपनी जीभ भी नहीं हिला सकता, क्योंकि यह अमर्य्यादा है। देखा जाता है, आज भी कोई पुत्र ऐसा करने का दुस्साहस नहीं करता। फिर भगवान् श्रीकृष्ण और श्रीमती राधिका के हास-विलास का नग्न चित्र क्यों अंकित किया गया ? क्या वे जगत् के पिता-माता नहीं और हम लोग उनके पुत्र नहीं ? क्या ऐसा करके बड़ा ही अनुचित कार्य नहीं किया गया ?"

हरिऔध जी का विवेचनात्मक गद्य अधिकतर संस्कृत-गर्भित होता है, किन्तु कभी कभी उसमें फ़ारसी शब्दों की बहार भी देखी जाती है। निम्नलिखित उद्धरण इसके उदाहरण हैं :—

१—"कहा जाता है कि कविवर बिहारी लाल के अधिकांश दोहे उर्दू अथवा फ़ारसी शेरों की बलन्दपरवाज़ियों को नीचा दिखाने के लिये ही लिखे गये हैं। यह सत्य भी हो सकता है, क्योंकि उनकी नाज़ुक ख़याली, बन्दिश, मुहावरों की चुस्ती और कलाम की सफ़ाई बड़े बड़े उर्दू शोअरा के कान खड़े कर देती है।"

२—"मैंने कहा चौपदों पर आपकी ऐसी निगाह क्यों नहीं पड़ती ? कहने लगे, चौपदों के वाक्यों में उर्दू तरकीब बिलकुल नहीं मिलती। × × मैंने कहा, तो उसे हिन्दुस्तानी कहिये। उन्होंने कहा, मैं हिन्दुस्तानी कोई जबान नहीं मानता, खिचड़ी जबान मैं उसे अवश्य कह सकता हूँ। वे ऐसी ही बातें कहते कहते उठ पड़ते, चलते-चलते कहते, आप इसे नयी हिन्दी भले ही मान लें, पुरानी हिन्दी तो यह हरगिज नहीं है, और न उर्दू है।"

पंचम खण्ड ।

हिन्दी-साहित्य में ईश्वर-भावना और हरिऔध

हिन्दी-साहित्य का यदि कोई अंग बहुत पुष्ट है तो वह है ईश्वरोन्मुख काव्य-विषयक। कबीर, रैदास, जायसी, तुलसीदास, मीरा, सूरदास, दादू, मलूक आदि अनेक सन्त कवियों ने लोकोत्तर काव्य-पीयूष की वृष्टि की है। उक्त कवियों की यह ईश्वर-चिन्ता कवियों के व्यक्तित्व की विभिन्नता के अनुसार विभिन्न धाराओं में प्रवाहित हुई।

निम्नलिखित अवतरणों से इनके कवित्व की विशेषताओं का अनुमान पाठक को हो जायगा :—

१—"यहि जग अंधा मैं केहि समुझावौं

इक दुई होइ उनहि समुझाउं, सब ही भुलाने पेट के धंधा। मैं०

पानी के घोड़ा पवन असवरवा, ढुरकि परै जस ओस कै बुंदा। मैं०

गहिरी नदिया अगम बहै धरवा, खेवन हारा के पड़िगा फन्दा। मैं०

घर की वस्तु निकट नहीं आवत, दियना बारिके ढूँढ़त अंधा। मैं०

लागी आग सकल बन जरिगा, बिन गुरु ज्ञान भटकिगा बन्दा। मैं०

कहै कबीर सुनो भाई साधो, इक दिन जाय लँगोटी झार बन्दा। मैं०"

× × ×

"जाग पियारी अब का सोवै।
रैन गई दिन काहे को खोवै।
जिन जागा तिन मानिक पाया।
तैं बौरी सब सोय गँवाया।
पिय तेरे चतुर तू मूरख नारी।
कबहुँ न पिय की सेज सँवारी।
हौं बौरी बौरापन कीन्हों।
भर जीवन अपना नहि चीन्हों।

जाग देख पिय सेज न तेरे।
तोहि छाड़ि उठि गये सवेरे।
कहै कबीर सोई धन जागै।
सबद बान उर अन्तर लागै॥"
—कबीर।

१—"राम मैं पूजा कहा चढ़ाऊँ।
फल अरु मूल अनूप न पाऊँ।
थन कर दूध जो बछरू जुठारी।
पुहुप भँवर जल मीन बिगारि।
मलया गिरि बेधियो भुअंगा।
विष अमृत दोउ एकै संगा।
मन ही पूजा मन ही धूप।
मन ही सेऊँ सहज सरूप।
पूजा अरचा न जानूँ तेरी।
कह रैदास कवन गति मेरी।"
—रैदास

२—"सुमिरौं आदि एक करतारू।
जेहि जिउ दीन्ह कीन्ह संसारू।
कीन्हेसि प्रथम जोति परकासू।
कीन्हेसि तेइ परबत कैलासू।
कीन्हेसि अगिन पवन जल खेहा।
कीन्हेसि बहुतै रंग उरेहा।
कीन्हेसि धरती सरग पतारू।
कीन्हेसि बरन बरन औतारू।
कीन्हेसि दिन दिनअर ससि राती।
कीन्हेसि नखत तराइन पाँती।

कीन्हेसि धूप सीउ औ छाँहा।
कीन्हेसि मेघ बीजु तेहि माँहा।
कीन्हेसि सप्त मही बरम्हंडा।
कीन्हेसि भुवन चौदहो खंडा।
कीन्ह सबै अस जाकर, दूसर छाज न काहि।
पहिले ताकर नाँव लै, कथा करौं अवगाहि ॥"

—मलिक मुहम्मद जायसी।

४—"अगुण सगुण दोउ ब्रह्म सरूपा।
अकथ अगाध अनादि अनूपा।
मेरे मत बड़ नाम दुहूँ ते।
किय जेहि युग निज बस निज बूते।
प्रौढ़ सुजन जन जानहिं जन की।
कहउँ प्रतीति प्रीति रुचि मन की।
एक दारु गति देखिय एकू।
पावक युग सम ब्रह्म विवेकू।
उभय अगम युग सुगम नाम ते।
कहउँ नाम बड़ ब्रह्म राम ते।
व्यापक एक ब्रह्म अविनाशी।
सत चेतन घन आनँद राशी।
अस प्रभु हृदय अछत अविकारी।
सकल जीव जग दीन दुखारी।
नाम निरूपण नाम जतन ते।
सो प्रगटत जिमि मोल रतन ते।"

× × × ×

"राम भक्त हित नर तनु धारी।
सहि संकट किय साधु सुखारी।

नाम सप्रेम जपत अनयासा।
भक्त होहि मुद मंगल वासा।
राम एक तापस तिय तारी।
नाम कोटि खल कुमति सुधारी।"
—तुलसीदास।

५—"स्वामी सब संसार के हो साँचे श्री भगवान।
स्थावर जंगम पावक पाणी, धरती बीच समान।
सब में महिमा तेरी देखी, कुदरत के कुरबान।
सूदामा के दारिद खोये, बारे की पहिचान।
दो मुट्ठी तंदुल की चाबी, दीन्हा द्रव्य महान।
भारत में अर्जुन के आगे, आप भये रथवान।
उनने अपने कुल को देखा, छुट गये तीर कमान।
ना कोइ मारे ना कोइ मरता, तेरा यह अज्ञान।
चेतन जीव तो अजर अमर है, यह गीता को ज्ञान।
मुझ पर तो प्रभु किरपा कीजे, बन्दी अपनी जान।
मीरा गिरिधर शरण तिहारी, लगै चरण में ध्यान।"
—मीरा।

६—"मेरो मन अनत कहँ सुख पावै।
जैसे उड़ि जहाज को पच्छी फिरि जहाज पर आवै।
कमल नयन को छाँड़ि महातम और देव को ध्यावै।
परम गंग को छाँड़ि पियासो दुर्मति कूप खनावै।
जिन मधुकर अंबुज रस चाख्यो क्यों करील फल खावै।
सूरदास प्रभु कामधेनु तजि छेरी कौन दुहावै।"
—सूरदास।

७—"मन रे राम बिना तन छीजइ।
जब यह जाइ मिलै माटी में तब कहु कैसहि कीजइ।
पारस परस कँचन करि लीजइ सहज सुरत सुखदाई।
माया बेलि बिषय फल लागे जापर भलु न भाई।

जब लगि प्राण पिंड है नीको तब लगि तू जनि भूलइ।
यह संसार सेमर के सुख ज्यों तापर तूँ जिनि फूलइ।
औरउ यही जानि जग जीवन समइ देखि सच पेखइ।
अंग अनेक आनि जिनि भूलइ दादू जिनि डहँकावइ।"

—दादू।

८—"दीन दयाल सुनी जब तें तब तें हिय मै कछु ऐसी बसी है।
तेरो कहाइ कै जाउँ कहाँ प्रभु तेरे हितै पट खैंच कसी है।
तेरोइ एक भरोस मलूक कौ तेरे समान न दूजो जमी है।
ए हो मुरारि पुकारि कहौं अब मेरी हँसी नहि तेरी हँसी है।
जहाँ जहाँ बच्छा फिरै, तहाँ तहाँ फिरै गाय।
कह मलूक जहँ सन्त जन, तहाँ रमैया जाय।"

—मलूकदास।

उक्त कवियों में से सभी ईश्वर-भक्त हो गये हैं, किन्तु कबीरदास और मलिक मुहम्मद जायसी ने अपनी ईश्वर-भक्ति की अभिव्यक्ति के लिए जिस विशेष शैली का सहारा लिया वह उन्हें शेष से पृथक् करती है। कबीरदास और मलिक मुहम्मद की ईश्वर-भक्ति का तत्व साधारण मानवी सम्बन्धों और कथाओं में अवगुंठित रहने के कारण हृदयंगम होने पर किसी रहस्योद्घाटन का आनन्द देता है। ईसा की पन्द्रहवीं और सोलहवीं शताब्दी हिन्दी के अनेक भक्त कवियों को उत्पन्न करने के लिए प्रसिद्ध है। सत्रहवीं, अठारवीं और उन्नीसवीं शताब्दी में तो भक्त कवियों की दृष्टि से हिन्दी-काव्य-जगत् शून्य ही रहा है, ऐसा जान पड़ता है, मानो सूर, मीरा, तुलसीदास आदि के काव्यामृत का पान करके ही हिन्दी-देवी तृप्त हो गयी हैं और अब उन नवीन क्षेत्रों में विचरण करना चाहती हैं जिनमें अब तक उन्हें कोई नहीं ले गया। निस्सन्देह, जिस शताब्दी में हम लोग श्वास ले रहे हैं उसने हिन्दी-काव्य की दिशा में ऐसे प्रयोग प्रस्तुत किये हैं जिनके लिए हिन्दी-साहित्य बहुत समय से उत्सुकता का अनुभव कर रहा था।

हरिऔध जी के काव्य और जीवन का जो अध्ययन प्रस्तुत किया गया है, उससे उनके भौतिक और अध्यात्मिक दृष्टि-कोण का परिचय मिल चुका है। इस समय 'स्वर्गीय संगीत' नामक काव्य की रचना में वे संलग्न हैं। एक बार फिर विषय के निर्वाचन में उन्होंने आकस्मिकता का परिचय दिया है। चौपदों में मानव-समाज की गिरी से गिरी अवस्था का चित्रण करने के बाद हरिऔध जी ने इस ग्रन्थ में एक दम से ईश्वर के स्वरूप का निरूपण करने का निश्चय किया है। उनकी काव्य-भापा में फिर परिवर्तन हो गया, और ऐसा होना सर्वथा स्वाभाविक था। वे जयदेव के ललित पदों के नमूने पर काव्य-रचना कर रहे हैं, अतएव यह असम्भव था कि चौपदों की महावरेदार भापा उनका साथ दे सकती। यदि इस बात के प्रमाण की आवश्यकता हो कि मुहावरों का जो समावेश चौपदों में किया गया है, वह सभी विपयों के और सभी प्रकारों के काव्यों की भापा में सम्भव नहीं है, तो उसका सबसे प्रबल प्रमाण हरिऔध जी का यह नूतन ग्रन्थ होगा। 'स्वर्गीय संगीत' की भापा देखिए:—

"रमा समा है रमणीयता मिले।
उमा समा है वन सिंह वाहना।
गिरा समा है प्रतिभा विभूपिता।
विचित्र है भारत की वसुंधरा। १।

आलोक दान रत भारत है प्रभात।
संसार मानसरजात प्रफुल्ल पद्‌म।
है मंजु भाल गगनांगण का मयंक।
आनन्द मन्दिर मनोज्ञमणि प्रदीप। २।

आधुनिक हिन्दी-साहित्य में रहस्यवाद के सम्बन्ध में बड़ा गुल सुनाई पड़ रहा है। ईश्वर-काव्य और रहस्यवाद इतने सस्ते हो रहे हैं कि यह अमूल्य सम्पत्ति उन कंगालों के घर में भी भरी बतायी जा रही है, जिन्होंने उसे स्वप्न में भी न देखा

होगा। डाक्टर रवीन्द्रनाथ टैगोर के नोवेल पुरस्कार पाने के बाद से हिन्दी-साहित्य में रहस्यवाद और ईश्वर-चर्चा की ऐसी लहर आयी है कि हिन्दी-सेवियों को और कोई बात पसन्द ही नहीं आती। विचित्र बात तो यह है कि हम लोग एक ओर तो रहस्यवाद के भक्त बन रहे हैं और दूसरी ओर बेहद संकीर्णता में डूबे हुए हैं। इस प्रसंग में मुझे एक शर्मा[1] जी की मनोरंजन कार्य्यवाही का स्मरण आ रहा है। एक दिन उन्होंने अपने कमरे में एक नोटिस लगा दी। उनकी कृपापात्री एक मिस साहब मन्द मुसकराहट के साथ डियर शर्म्मा, डियर शर्म्मा कहती हुई उनके कमरे में गयीं। किन्तु शर्म्मा जी की विचित्र नोटिस देख कर घबरा गयीं। नोटिस में लिखा था—"मैं इस समय ईश्वर के अस्तित्व को नहीं मानता। जिस मत के विद्वान् मुझे उसके होने का विश्वास दिला देंगे उसी मत का अवलम्बी मैं बन जाऊँगा और उसी मत की सब से विचित्र स्त्री के साथ विवाह करूँगा।" मिस साहबा शर्म्मा जी की गम्भीर मुद्रा देख कर चकरा गयीं। वे उलटे पैरों अपने विद्वान् पादरियों के यहाँ भागी गयीं और थोड़ी देर में खीष्ट मत के उद्भट ज्ञाताओं के साथ लौटीं। नोटिस दिये जाने के कारण शर्म्मा जी के कमरे में हिन्दू, जैन, बौद्ध, मुसल्मान, बहाई आदि अनेक सम्प्रदायों के विशेषज्ञ धीरे धीरे आने लगे। बड़ा विवाद हुआ। बहस करते करते अनेक विद्वान् आपस में लड़ गये। किसी का सिर फूटा, किसी का हाथ टूटा। श्रीमान् शर्म्मा जी मुसकराते हुए यह तमाशा देखते रहे। ईश्वर का अस्तित्व प्रमाणित करने के लिए आये हुए सज्जनों ने कम से कम इतना साबित कर दिया कि उन्होंने अभी ईश्वर का हाल सिर्फ़ किताबों में ही पढ़ा है। रहस्यवाद का भी हिन्दी में प्रायः यही हाल है।

दस बारह वर्षों से हिन्दी में छायावाद और रहस्यवाद की धूम मची हुई है। चौपदों की रचना छायावाद—काल में होने के कारण ही उनकी ओर काव्य-प्रेमियों का उतना ध्यान नहीं गया जितना विभिन्न परिस्थितियों में शायद जाता। इस बीच में हरिऔध जी की प्रवृत्ति भी

यदा कदा ईश्वर-जिज्ञासा मूलक रचनाएँ करने की ओर रही है। और मासिक पत्रों के पाठकों को उन्हें समय समय पर पढ़ने का अवसर मिलता रहा है। नीचे उनकी कुछ स्फुट कविताएँ इस ढँग की देखिये:—

[१]

किसके लुभाने के बहाने मन माने कर,
रात में खजाने रत्न राजि के हैं खुलते।
किसके कहे से ओस बिंदु सुमनावलि के,
मोह कर मानस हैं मोतियों से तुलते।
हरिऔध किसके सहारे से समीर-द्वारा,
मंजुल मही में हैं मरंद भार ढुलते।
किसके करों से है धवलिमा निराली मिली,
किसके धुलाये हैं धवल फूल धुलते।१।

झर झर झरने उछाल वारि बिन्दुओं को,
अंक किसका हैं मंजु मोतियों से भरते।
पादप के पत्ते हिल हिल हैं रिझाते किसे,
खिल खिल फूल क्यों सुगंध हैं वितरते।
हरिऔध किसी ने न इसका बताया भेद,
सकल फबीले फूल क्यों हैं मन हरते।
बजते बधावे क्यों उमंग भरे भृङ्ग के हैं,
क्यों हैं रंग रंग के विहंग गान करते।२।

सेमल को लाल लाल सुमन मिले हैं कहाँ,
पीले पीले फूल दिये किसने बबूलों को।
तुली तूलिकाएँ ले ले कैसे साजता है कौन,
लोनी लोनी लतिका के ललित दुकूलों को।
हरिऔध किसके खिलाये कलिकाएँ खिलीं,
दे दे दान मंजुल मरंद अनुकूलों को।
किससे रँगीली साड़ियाँ हैं तितली को मिली,
कौन रँग रेज रँगता है इन फूलों को।३।

ईश्वर—मूलक यही जिज्ञासा पं० सुमित्रा नन्दन पंत के निम्न-लिखित पद्यों में मिलती है—

"स्तब्ध ज्योत्स्ना में जब संसार
चकित रहता शिशु सा नादान,
विश्व के पलकों पर सुकुमार
विचरते हैं जब स्वप्न अजान,
न जाने, नक्षत्रों से कौन
निमंत्रण देता मुझ को मौन।
देख वसुधा का यौवन—भार
गूँज उठता है जब मधुमास,
विधुर उर के से मृदु उद्गार
कुसुम—जब खुल पड़ते सोच्छ्वास,
न जाने, सौरभ के मिस कौन
संदेशा मुझे भेजता मौन।
तुमुल तम में जब एकाकार
ऊँघता एक साथ संसार,
भीरु झींगुर कुल की झनकार
कँपा देती तन्द्रा के तार,
न जाने खद्योतों से कौन
मुझे पथ दिखलाता तब मौन।
न जाने कौन अये द्युति मान!
जान मुझ को अबोध अज्ञान,
सुझाते हो तुम पथ अन जान
फूँक देते छिद्रों में गान,
अहे सुख—दुख के सहचर मौन!
नहीं कह सकती तुम हो कौन!"

रेखांकित पद तथा शब्दों से स्पष्ट है कि कवि का हृदय जिज्ञासा के भाव से पीड़ित है।

पं० सूर्य्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' के निम्नांकित पद्य भी इसी दिशा की ओर संकेत करते हैं:—

किस अतीत का दुर्जय जीवन
अपनी अलकों में सुकुमार।
कनक—कुसुम सा गूँथा तूने
यमुने किसका रूप अपार।
निर्निमेष नयनों से छाया
किस विस्मृत—मदिरा का राग।
अब तक पलकों के पुलकों में
छलक रहा है विपुल सुहाग।
मुक्त हृदय के सिंहासन पर
किस अतीत के वे सम्राट।
दीप रहे जिनके मस्तक पर
रवि शशि तारे विश्व—विराट।

× × × ×

मुग्धा के लज्जित पलकों पर
तू यौवन की छवि अज्ञात।
आँख मिचौनी खेल रही है
किस अतीत शिशुता के साथ?
किस अतीत-सागर-संगम को
बहते खोल हृदय के द्वार।
कोकिल के हित मग्न अनिल में
नयन-सलिल के सोत अपार।"

बाबू जयशंकर 'प्रसाद' को भी अपनी अव्यवस्थित मनोवृत्ति के कारण बड़ी खिन्नता है। वे कहते हैं:—

"विश्व के नीरव-निर्जन में,
जब करता हूँ केवल, चंचल
मानस को कुछ शान्त,
होती है कुछ ऐसी हलचल
तब होता है भ्रान्त;
भटकता है भ्रम के वन में
विश्व के कुसुमित कानन में।

जब लेता हूँ आभारी हो
वल्लरियों से दान,
कलियों की माला बन जाती
अलियों का हो गान,
विकलता बढ़ती हिम कन में,
विश्वपति तेरे आँगन में।

जब करता हूँ कभी प्रार्थना
कर संकलित विचार
तभी कामना के कंकण की
हो जाती झनकार,
चमत्कृत होता हूँ मन में
विश्व के नीरव-निर्जन में

'रस कलस' में जहाँ हरिऔध जी ने अद्भुत रस की चर्चा की है वहाँ 'रहस्यवाद' शीर्षक देकर उसके नीचे आठ कवित्त दिये हैं। ऊपर हमने उनके तीन कवित्त उद्धृत किये हैं, ये आठ कवित्त भी उन्हीं की शैली पर चलते हैं; फिर भी, एक कवित्त यहाँ उदाहरण के

छवि के निकेतन अछूते छिति छोर मांहि
काकी छवि पुंजता छगूनी छलकति है।
वन उपवन की ललामता ललाम है है
काकी लखि ललित लुनाई ललकति है।
हरिऔध काको हेरि पादप हरे हैं होत
कुसुमालि काको अवलोकि पुलकति है।
कौन बतरै है बेलि मांहि काको केलि होति
कली कली माहि काकी कला किलकति है।

रहस्यवादी कविता वही कर सकता है जिसने ईश्वर का मर्म्म हृदयंगम कर लिया हो, और जो नाना मानवी सम्बन्धों में अपने तथा ईश्वर के सम्बन्धों की कल्पना करके ऐसी रचना करे जिसमें ईश्वरीय रहस्यों की ओर संकेत किया गया हो। उदाहरण के लिये पत्नी और पति के सम्बन्ध को लीजिए। इस सम्बन्ध को प्रणय की अभिव्यक्ति का साधन समझ कर ही ईश्वरीय सत्ता के प्रति मानव व्यक्तित्व की अनुरक्ति प्रदर्शित करने के लिये इसका प्रयोग किया जाता है। परकीया नायिका और उपपति के सम्बन्ध और नायिका के अभिसार में भी ईश्वर-प्रेमिक व्यक्ति के ईश्वरोन्मुख होने की प्रगतिशील प्रवृत्ति का अंकन किया जा सकता है। प्रकृत रहस्यवादी के हाथ में पड़ कर इन सांसारिक सम्बन्धों का उपयोग करने वाली रचना इनकी स्थूलता के पंक में निमज्जित न हो जायगी, बल्कि पारस पत्थर की भाँति उनकी लौहता का भी लोप करती हुई वह वास्तव में सत्य के स्वरूप को भावुकता के साथ हमें हृदयंगम करावेगी। उदाहरण के लिये संस्कृत के एक श्लोक का पद्माकर-कृत हिन्दी अनुवाद देखिए:—

कौन है तू कित जात चली बलि बीती निशा अधराति प्रमानैं।
हौं पदमाकर भावती हौं निज भावतें पै अब ही मोहि जानैं।
तू अलबेली अकेली डरै किन क्यों डरौं मेरी सहायक आनैं।
और मनोभव सो भट संग मैं कान लौं बान सरासन तानैं।

रहस्यवादी कवि उक्त सवैये की तीनों पंक्तियों को तो ग्रहण कर लेगा, लेकिन चौथी पंक्ति को वह अपनी कविता में नहीं रक्खेगा, क्योंकि कामिनी ने मनोभव को अपना रक्षक बता कर अपनी अत्यधिक काम वेदना प्रदर्शित कर दी, जिसे रहस्यवादी कवि अत्यन्त स्थूल समझ कर घृणित समझेगा। यदि चौथी पंक्ति में कोई ऐसी बात आ जाय जो ईश्वरीय सत्ता के प्रति मानव व्यक्तित्व का अनुराग व्यक्त कर दे तो वह रहस्यवाद की आवश्यकताओं की पूर्ति कर सकेगी।

जैसे अन्य विषयों के साथ कवि की सहानुभूति होने पर ही वह अपनी रचना में सफलता की आशा कर सकता है, वैसे ही रहस्यवाद की कविता के लिये सच्चा ईश्वर-प्रेम चाहिये, केवल रहस्यवाद के बाह्य ढांचों के अनुकूल शब्द-योजना करने से ही काम नहीं चल सकता। अनुराग—सच्चा अनुराग छिपाये छिप नहीं सकता। एक शृंगारी कवि ने कहा है:—

"घूँघट की ओट ह्वै कै चितयो कि चोट करी
लालन जू लोट पोट तब ही ते भये हैं।"

जब इसी तरह ईश्वर-प्रेम की चोट से कोई लोट पोट होगा तभी वह 'रहस्यवादी' काव्य करने में समर्थ होगा। इस दिशा में हमारे अन्य आधुनिक कवियों की तरह हरिऔध जी की लेखनी भी विशेष सफलता नहीं प्राप्त कर सकी है।

हिन्दी-साहित्य में मानव चित्र और हरिऔध

मैथिल कोकिल विद्यापति, सूरदास, आदि भक्त कवियों ने अपने काव्य में कृष्ण और राधा का जो रूप अंकित किया है, वह लोक-पक्ष में कहीं कहीं दूषित संकेतपूर्ण हो गया है। यह सत्य है कि श्रीकृष्ण और राधा के स्थूल संयोग-वर्णन में रत होने के समय उनकी दृष्टि के सामने पुरुष और प्रकृति का वह सरस संगम था जो इस सृष्टि का अवलम्ब है। किन्तु यह तो मानना ही पड़ेगा कि दूषित संकेत-गत त्रुटि उनकी अपूर्ण कला की परिचायक है। जो हो, यह निर्विवाद रूप से कहा जा सकता है कि जहाँ उन्होंने कृष्ण और राधा का वियोग अंकित किया है वहाँ लोक-पक्ष में अत्यन्त माधुर्य्यपूर्ण नारी चित्रों की अवतारणा सम्भव हो सकी है। नीचे की पंक्तियाँ देखिए:—

(१)

सखि मोर पिया

अबहुँ न आओल कुलिश हिया।

नखर खोया अलुँ दिवस लिखि लिखि।

नयन अंधा ओलुँ पिया पथ पेखि।

आवन हेत कहि मोर पिया गेला।

पूरबक जेत गुन बिसरिलभेला।

भनइ विद्यापति शुन अब राइ।

कानु समुझाइ ते अब चलि जाइ।

— विद्यापति।

समुझि न परत तुम्हारो ऊधो।

ज्यो त्रिदोष उपजे जक लागत बोलत बचन न सूधो।

आपुन को उपचार करौ कछु तब औरन सिख देहू।

बड़ो रोग उपज्यो है तुमको मौन सवारे लेहू।
वहाँ भेषज नाना विधि को अरु मधुरिपु से हैं वैद।
हम कातर अपने सिर डरपत यह कलंक है कैद।
साँची बात छाँड़ि कत झूठी कहो कौन विधि सुनही।
सूरदास मुकताहल भोगी हंस ज्वारि क्यों चुनही। १।

—सूरदास

नैन सलोने श्याम हरि कब आवहिंगे
वे जो देखत राते राते फूलन फूले डार।
हरि बिन फूल झरी सी लागत झरि झरि परत अँगार।
फूल बिनन ना जाऊँ सखीरी हरि बिन कैसे फूल।
सुन री सखी मोहिं राम दुहाई लागत फूल त्रिशूल।
जब तें पनिघट जाउँ सखीरी वा जमुना के तीर।
भरि भरि जमुना उमड़ि चलति हैं इन नैनन के नीर।
इन नैनन के नीर सखीरी सेज भई घर नाव।
चाहत हौं ताही पै चढ़ि के हरिजी की ढिग जावँ।
लाल पियारे प्राण हमारे रहे अधर पर आय।
सूरदास प्रभु कुञ्ज विहारी मिलत नहीं क्यों धाय। २।

—सूरदास

महात्मा तुलसीदास ने रामचरित मानस में सीता का जिस प्रकार अंकन किया है वह भी हिन्दी-साहित्य की अमूल्य और अतुलनीय सम्पत्ति है। रामचन्द्र का मर्यादा पुरुषोत्तम रूप होने के कारण तुलसीदास की कला में उस दूषण का समावेश न हो सका जिसने जैसा कि मैं निवेदन कर आया हूँ, सहज ही सूरदास आदि श्रीकृष्ण-भक्त कवियों पर आक्रमण कर दिया।

निस्सन्देह विद्यापति और सूरदास की राधा तथा तुलसीदास की सीता की मधुरिमा 'प्रिय-प्रवास' की राधा में नहीं है, किंतु इन कवींद्रों की नारी-सृष्टि को छोड़ कर और किसी कवि की कृति उसके सामने नहीं ठहर सकती। केशवदास की सीता में वह सुन्दर विकास कहाँ जिसने

मिट्टी में भी 'प्रिय-प्रवास' की राधा को प्रियतम श्याम के दर्शन करा दिये। बिहारी, देव, पद्माकर, हरिश्चन्द्र, आदि की नायिकाओं में वह शक्ति कहाँ जो 'प्रियप्रवास' की राधा की तुलना में खड़ी हो सकें ?

प्रिय प्रवास के श्री कृष्ण और राधा दोनों ही हिन्दी-साहित्य में अनूठी सृष्टियाँ हैं। पूर्ववर्ती मानव-चित्रांकन-शैली में उन्होंने वह क्रांति उपस्थित की है जो वर्त्तमान साहित्य को अनेक दिशाओं में प्रभावित करती देख पड़ती है। निस्सन्देह यह नहीं कहा जा सकता कि गत बीस वर्षों से उपन्यास, नाटक, कहानी और कविता के क्षेत्र में जो कुछ भी मानव-चित्रण किया जा रहा है उसको प्रिय प्रवास ही ने प्रगति-शील किया है, हिन्दी-साहित्य सेवियों के दृष्टिकोण में आज हम जिस विस्तार का अनुभव कर रहे हैं उसके अनेक कारण गिनाये जा सकते हैं, जिनमें उनकी अंग्रेजी शिक्षा अथवा उस शिक्षा के वातावरण में उनका विकास एक प्रधान कारण माना जायगा। किन्तु फिर भी यह संयोग की बात है कि रामचरितमानस के बाद और 'प्रिय प्रवास' के प्रकाशन के पहले किसी अन्य कवि या लेखक ने हिन्दी-साहित्य के क्षेत्र में इतने उच्च विकास-सम्पन्न पुरुष अथवा नारी का चित्र प्रस्तुत नहीं किया।

'प्रिय प्रवास' के बाद जो दो सुन्दर काव्य हिन्दी पाठकों के सम्मुख आये हैं वे हैं समय के क्रम से (१) पल्लव और (२) साकेत। पल्लव पं० सुमित्रानन्दन पंत की फुटकल कविताओं का संग्रह है और 'साकेत' बाबू मैथिलीशरण गुप्त का महाकाव्य है। 'पल्लव' में अनेक सुन्दर नारी-चित्रों का समावेश किया गया है, जिनमें से उच्छ्वास की बालिका का चित्र विशेष रूप से ध्यान आकर्षित करता है। 'साकेत' की नायिका उर्म्मिला है। इन्हीं दोनों के सम्बन्ध में यहाँ कुछ निवेदन किया जायगा।

उक्त बालिका का सौन्दर्य्य-वर्णन पन्त जी ने इस प्रकार किया है:—

महाकवि हरिऔध

"तुम्हें किस दर्पण में सुकुमारि !
दिखाऊँ मैं साकार ?

तुम्हारे छूने में था प्राण,
संग में पावन गंगा-स्नान ;
तुम्हारी वाणी में कल्याणि !
त्रिवेणी की लहरों का गान !

अपरिचित चितवन में था मान,
सुधा मय साँसों में उपचार;
तुम्हारी छाया में आधार,
सुखद चेष्टाओं में आभार !

करुण भौंहों में था आकाश,
हास में शैशव का संसार;
तुम्हारी आँखों में कर वास
प्रेम ने पाया था आकार !

कपोलों में उतरे मृदु भाव,
श्रवण-नयनों में प्रिय बर्ताव;
सरल संकेतों में संकोच
मृदुल अधरों में मधुर दुराव।

उषा का था उर में आवास,
मुकुल का मुख में मृदुल विकास;
चाँदनी का स्वभाव में वास
विचारों में बच्चों के साँस !

बिन्दु में थीं तुम सिन्धु अनन्त,
एक सुर में समस्त संगीत;
एक कलिका में अखिल वसन्त
धरा में थीं तुम स्वर्ग पुनीत।

× ×

सरलपन ही था उसका मन,
निरालापन था आभूषन,
कान से मिले अजान नयन
सहज था सजा सजीला तन

सुरीले ढीले अधरों बीच
अधूरा उसका लचका गान
विचक बचपन को मन को खींच
उचित बन जाता था उपमान।"

× × × ×

पंत जी की यह नायिका यथेष्ट सुन्दरी जान पड़ती है परन्तु उस अपूर्व लावण्य से तो वह वंचित ही है जो नायिका में तभी दृष्टिगोचर हो सकता है जब उसके हृदय में अपार व्यथा हो, किसी निर्मोही की निष्ठुरता के कारण जब चित्त की चंचलता तथा परिस्थिति की क्रूरता के मध्य में पड़ कर वह

'दुहूँ ओर ऐंची फिरै फिरकी लौं दिन जाय।'

जब किसी मनोहारिणी विवशता के उसमें दर्शन हों। प्रिय प्रवास की राधा में उस शारीरिक और मानसिक सौन्दर्य्य की कमी नहीं है जो पन्त जी की नायिका में दिखायी पड़ती है; किन्तु राधा की विचित्र स्थिति और उससे भी विचित्र उनका मानसिक विकास उन्हें अनिर्वचनीय सौन्दर्य्य से सम्पन्न कर देता है।

'साकेत' की उर्म्मिला हिन्दी-साहित्य में एक मौलिक सृष्टि है। उसे काव्य की नायिका बना कर गुप्त जी ने रामायण की कथा में एक नवीन रोचकता उत्पन्न कर दी है। रामचन्द्र और सीता को बन-प्रयाण के लिए उद्यत देख कर लक्ष्मण भी उनका साथ देने को तैयार हो गये, किन्तु साथ ही वे धर्म-संकट में भी पड़ गये। उनके सामने यह प्रश्न खड़ा हुआ कि नव-विवाहिता उर्म्मिला का क्या हाल होगा? स्वयं कवि के शब्दों में सुनिए :—

"उठीं न लक्ष्मण की आँखें,
जकड़ी रहीं पलक पाँखें।
किन्तु कल्पना घटी नहीं।
उदित उर्मिला हटी नहीं।
खड़ी हुई हृदय-स्थल में।
पूछ रही थी पल पल में।
मैं क्या करूँ ? चलूँ कि रहूँ ?
हाय ! और क्या आज कहूँ ?"

लक्ष्मण ने शीघ्र ही अपने कर्तव्य का निश्चय कर लिया :—

"लक्ष्मण हुए वियोग जयी।
और उर्मिला प्रेम मयी।
वह भी सब कुछ जान गयी।
विवश भाव से मान गयी।
श्री सीता के कंधे पर।
आँसू बरस पड़े झर झर"।

वन-यात्रा के सम्बन्ध में सुमित्रा का भी आदेश मिल जाने पर—

"लक्ष्मण का तन पुलक उठा,
मन मानो कुछ कुलक उठा।
माँ का भी आदेश मिला।
पर वह किसका हृदय हिला ?
कहा उर्मिला ने है मन !
तू प्रिय पथ का विघ्न न बन।
आज स्वार्थ है त्याग भरा।
हो अनुराग विराग भरा।
तू विकार से पूर्ण न हो,
शोक-भार से चूर्ण न हो"।

उर्मिला के महान् हृदय का यहीं से परिचय मिलने लगता है रामचन्द्र को आश्वासन देते समय जब सीता कहती हैं—

"सास-ससुर की स्नेह-लता,
बहन उर्मिला महाव्रता,
सिद्ध करेगी वही यहाँ,
जो मैं भी कर सकी कहाँ" ?

तब उर्मिला को महत्ता की एक सनद भी मिल जाती है। किन्तु दुःख का पहाड़ उठा लेने की शक्ति तो उर्म्मिला में नहीं थी :—

"सीता और न बोल सकीं,
गद्गद् कण्ठ न खोल सकीं।
इधर उर्मिला मुग्ध निरी,
कह कर 'हाय' धड़ाम गिरी"।

राम, सीता और लक्ष्मण वन को चले गये। अभागिनी उर्मिला विरहानल में दग्ध होने लगी। सौभाग्य से भरत ने सपरिवार रामचन्द्र से मिलने के लिए वन की यात्रा की और दुःखिनी उर्मिला को फिर एक बार स्वामी के दर्शनों से जी जुड़ाने का शुभ अवसर मिला। उसने भरत और राम तथा विमाता और राम के सम्वाद को कितनी उत्कण्ठा और संकल्प-विकल्प के साथ सुना होगा। किन्तु अन्त में उसे निराशा ही हाथ आयी ? वह घड़ी कितनी हृदयविदारिणी रही होगी जब उर्म्मिला को फिर सूनी अयोध्या की ओर अपने पैरों को बलपूर्वक अग्रसर करना पड़ा होगा ! किन्तु दुर्भाग्य से कोई वश नहीं।

इस यात्रा से लौटने के वाद उर्मिला को चौदह वर्षों की अवधि ही एक मात्र अवलम्ब रह गयी। प्रियतम के प्रणय की सरस स्मृतियाँ ही उसे जीवन-धारण किये रहने का आश्वासन दे सकती थीं। नीचे की कतिपय पंक्तियों से उर्मिला के विरह-मग्न जीवन का कुछ परिचय प्राप्त किया जा सकता है :—

"पिऊँ ना, खाऊँ ना, सखि, पहन लूँ ना सब करूँ
जिऊँ मैं जैसे हो, यह अवधि का अर्णव तरूँ"।

× × ×

मैं निज अलिन्द में खडी थी सखी एक रात
रिम झिम बूँदें पडती थीं घटा छायी थी।
गमक रहा था केतकी का गंध चारो ओर
झिल्ली झनकार यही मेरे मन भायी थी।
करने लगी मैं अनुकरण स्वनूपुरों से,
चंचला थी चमकी घनाली घहरायी थी।
चौंक देखा, मैंने, चुप कोने में खड़े थे प्रिय
भारी, मुख-लज्जा उसी छाती में छिपायी थी।

× × ×

लायी सभी मालिनें थी डाली उस बार जब
जम्बू फल जीजी ने लिये थे तुझे याद है?
मैंने थे रसाल लिये देवर खड़े थे पास
हँस कर बोल उठे—'निज निज स्वाद है!'
मैंने कहा—'रसिक' तुम्हारी रुचि काहे पर?
बोले—"देवि, दोनों ओर मेरा रसवाद है।
दोनों का प्रसाद—भागी हूँ मै" हाय! आली आज
विधि के प्रसाद से विनोद भी विषाद है।

× × ×

आये सखि! द्वार पटी हाथ से हटा के प्रिय
वंचक भी वंचित से कम्पित विनोद में।
"ओढ देखो तनिक तुम्हीं तो परिधान यह,
बोले डाल रोमपट मेरी इस गोद में।

क्या हुआ, उठी मैं झट प्रावरण छोड़ कर
परिणत हो रहा था पवन प्रमोद में।
हर्षित थे तो भी रोम रोम हम दम्पति के
कर्षित थे दोनों बाहु-बंधन के मोद में"

× × × ×

धीरे धीरे चौदह वर्ष बीत गये। उर्मिला का यौवन इस लम्बी अवधि की प्रतीक्षा में शिथिल हो चला। प्रियतम के आने पर उनसे मिलने के लिये जब सखी उर्मिला का शृंगार करना चाहती है तब उर्मिला कहती है :—

"हाय! सखी शृङ्गार? मुझे अब भी सोहेंगे?
क्या वस्त्रालंकार मात्र से वे मोहेंगे?
नहीं नहीं, प्राणेश मुझी से छले न जावें,
जैसी हूँ मैं नाथ मुझे वैसा ही पावें"।

सखी रोकर उत्तर देती है :—

"किन्तु देख यह वेश दुखी होंगे वे कितने"? उर्मिला फिर कहती है :—

"तो ला भूषन वसन, इष्ट हों तुझको जितने
पर यौवन उन्माद कहाँ से लाऊँगी मैं?
वह खोया धन आज कहाँ सखि, पाऊँगी मैं"

यह कथन कितना करुण है! कितना हृदय-भेदी है। सखी कहती है :—

"अपराधी सा आज वही (यौवन) तो आने को है,
बरसों का यह दैन्य सदा को जाने को है।
कल रोती थीं आज मान करने बैठी हो,
कौन राग यह, जिसे गान करने बैठी हो।
प्रीति स्वाति का पिया शुक्ति बन बन कर पानी,
राज हंसिनी, चुनो रीति—मुक्ता अब रानी।"

परन्तु उर्मिला में कृत्रिमता नहीं है, कृत्रिम यौवन और सौन्दर्य्य उपार्जित करने की कला उसे रुचती ही नहीं। चौदह वर्षों को उसने रो रो कर विताया है, रोने का उसे अभ्यास हो गया है, इसीलिए उसका कथन है :—

'विरह रुदन में गया, मिलन में भी मैं रोऊँ।
मुझे और कुछ नहीं चाहिये पद-रज धोऊँ।
जब थी तब थी आलि! उर्मिला उनकी रानी।
वह बरसों की बात आज हो गयी पुरानी।
अब तो केवल रहूँ सदा स्वामी की दासी।
मैं शासन की नहीं आज सेवा की प्यासी।
युवती हो या आलि, उर्मिला बाला-तन से
नहीं जानती किन्तु स्वयं क्या है वह मन से।
सखि यथेष्ट है यही धुली धोती ही मुझको।
लज्जा उनके हाथ व्यर्थ चिन्ता है तुझको।
उछल रहा यह हृदय अंक में भर ले आली।
निरख तनिक तू आज ढीठ संध्या की लाली।
मान करूँगी आज? मान के दिन तो बीते।
फिर भी पूरे हुए सभी मेरे मन चीते।
टपक रही वह कुञ्ज शिला वाली शेफाली!
जा नीचे दो चार फूल चुन ले आ आली।
वन वासी के लिए सुमन की भेंट भली वह।
'किन्तु उसे तो कभी पा चुका प्रिये अली यह।'

× × × ×

लेकर मानो विश्व-विरह उस अन्तः पुर में,
समा रहे थे एक दूसरे के वे उर में।

× × × ×

नाथ, नाथ क्या तुम्हें सत्य ही मैंने पाया ?
प्रिये ! प्रिये ! हाँ आज आज ही वह दिन आया ।

× × ×

"स्वामी, स्वामी, जन्म जन्म के स्वामी मेरे !
किन्तु कहाँ वे अहोरात्र वे साँझ सबेरे !
खोई अपनी हाय कहाँ वह खिल खिल खेला ?
प्रिय जीवन की कहाँ आज वह चढ़ती वेला ?
काँप रही थी देह-लता उसकी रह रह कर,
टपक रहे थे अश्रु कपोलों पर बह बह कर ।"

कितना करुणापूर्ण और सरस मिलन है ।

'साकेत' की इस उर्मिला और 'प्रिय-प्रवास' की राधा में विचित्र विषमता भी है और विचित्र समता भी । उर्मिला ने अन्ततोगत्वा अपने प्रियतम को प्राप्त किया किन्तु प्रिय-प्रवास की राधा का विरह तो जीवन व्यापी ही होकर रहा । और, दोनों में समता यह है कि दोनों ही ने विरह का अत्यन्त व्याकुलकारी अनुभव किया । पता नहीं हरिऔध जी की लेखनी के अधीन होकर उर्मिला की यह सृष्टि कैसा स्वरूप धारण करती, किन्तु राधा का उन्होंने जिस प्रकार विकास किया है उससे उनकी प्रवृत्ति स्पष्ट है । कृष्ण जी को मथुरा में गये सालों नहीं; केवल कुछ महीने बीते थे । जब उन्होंने ऊधो को ब्रज में गोपियों आदि के समाधान के लिए भेजा । कवि ही के शब्दों में सुनिए;

कृष्ण जी ऊधो से कहते हैं :—

"जी में बार अनेक बात यह थी मेरे उठी मैं चलूँ ।
प्यारी भाव मयी सुभूति ब्रज में दो ही दिनों के लिए ।
बीते मास कई परन्तु अब लौं इच्छा न पूरी हुई ।
नाना कार्य-कलाप की जटिलता होती गयी बाधिका ।"

ऊधो को ब्रज पहुँचने में तो बहुत थोड़ा समय लगा, किन्तु वहाँ से लौटने में छः महीने बीत गये :—

"ऊधो लौटे निज नगर में मास पूरा छ बीते।
आये थे वे व्रज-अवनि में दो दिनों के लिए ही।"

ऊधो ने मथुरा से आने पर श्रीकृष्ण का संदेश राधा को सुनाने में भी बहुत विलम्ब न किया होगा, ऐसी आशा की जा सकती है, यद्यपि यह भी ठीक ही है कि उपयुक्त समय देख कर ही उन्होंने यह निराशा-जनक कार्य्य किया होगा। विरह का घाव इतना ताजा होने पर भी जहाँ श्रीकृष्ण के संदेश के उत्तर में राधा ने अपने हृदय की वेदना और विवशता प्रकट की, वहाँ उनके मुँह से दो एक ऐसी बातें भी निकलती हैं जो उन्हें विशेष रूप से श्रद्धास्पद बनाती हैं, उदाहरण के लिये, वे कहती हैं :—

जाके मेरी विनय इतनी नम्रता से सुनावें।
मेरे प्यारे कुंवर वर को आप सौजन्य-द्वारा।
मैं ऐसी हूँ न निज दुख से कष्टिता शोक-मग्ना।
हा! जैसी हूँ व्यथित व्रज के वासियों के दुखों से।
गोपी गोपों व्यथित व्रज की बालिका बालकों को?
आके पुष्पानुपम मुखड़ा प्यार झूआ दिखावें।
बाधा कोई न यदि प्रिय के चारु कर्त्तव्य में हो।
तो वे आके जनक जननी की दशा देख जावें।

व्रज के विषाद से व्याकुल ऊधो को इन वाक्यों से कितनी सान्त्वना मिली होगी; उनका भार कितना हलका हुआ होगा!

जो बात राधा के लिये संभव हुई वही उर्मिला के लिये क्यों नहीं हुई? क्या इस कारण कि उर्मिला को लक्ष्मण के प्रति श्रीकृष्ण के लिए राधा से अधिक अनुराग था? नहीं राधा, का जो चित्र हरिऔध जी ने प्रस्तुत किया है उसमें उर्मिला की अपेक्षा कम प्रेम-मग्नता नहीं है। तो फिर क्या राधा को कृष्ण का वियोग उतना नहीं अखरा जितना उर्मिला को लक्ष्मण का वियोग अखर गया? कदापि नहीं। सच बात तो यह है कि यदि राधा को बहुत अधिक तीखी वेदना न मिली

होती तो शायद उनके व्यक्तित्व का प्रसार इतनी सरलता के साथ संभव न होता। किसी कवि ने कहा भी है—

'दर्द का हद से गुज़रना है दवा हो जाना।'

कष्ट की असह्यता के कारण ही राधा के लिए यह असंभव हो गया कि वे प्रकृति को दाहक रूप ही में देखें। प्रकृति के साथ सौहार्द स्थापन के परिणाम स्वरूप राधा के चित्त को वह शान्ति मिली जिससे वें अन्य दुःखिनियों की सेवा कर सकीं। ऊधो के चले जाने के बाद तो श्रीकृष्ण के शीघ्र आने की कोई आशा नहीं रह गई थी, ब्रज का विषाद ज्यों का त्यों बना था, किन्तु सेविका राधा की सेवाओं का लाभ अवश्य ही सब पीड़ितों को मिल रहा था। ऐसे अवसर का एक अत्यन्त मार्मिक चित्र देखिए; हरिऔध जी ने इसमें अपनी भावुकता का हृदयहारी परिचय दिया है :—

"जब कुसुमित होतीं बेलियाँ औ लताएँ।
जब ऋतुपति आता आम की मंजरी ले।
जब रसमय होती मेदिनी हो मनोज्ञा।
जब मनसिज लाता मत्तता मानसों में।
जब मलय प्रसूता वायु आती सुसिक्ता।
जब तरु कलिका औ कोंपलो वान होता।
जब मधुकर माला गूँजती कुंज मे थी।
जब पुलकित हो हो कूकती कोकिलाएँ।
तब ब्रज बनता था मूर्ति उद्विग्नता की।
प्रतिजन उर में थी वेदना वृद्धि पाती।
गृह पथ वन कुञ्जों मध्य थीं दृष्टि आती।
बहु विकल उनीदी ऊबती बालिकाएँ।
उन विविध व्यथाओ मध्य डूबे दिनों में।
अति सरल स्वभावा सुन्दरी एक-बाला।

निशि दिन फिरती थी प्यार से सिक्त होके।
गृह-पथ बहु बागों कुञ्ज पुञ्जों वनों में।
वह सहृदयता से ले किसी मूर्छिता को।
नित अति उपयोगी अंक में यत्न द्वारा।
मुख पर उसके थी डालती बारि छींटे।
वर व्यजन डुलाती थी कभी तन्मयी हो।
कुवलय-दल बीछे पुष्प औ पल्लवों को।
निज कलित करों से थी धरा में बिछाती।
उस पर यक तप्ता बालिका को सुलाके।
वह निज कर से थी लेप सीरे लगाती।
यदि अति अकुलाती उन्मना बालिका को।
वह कह मृदु बातें बोधती कुञ्ज में जा।
बन बन बिलखाती तो किसी बावली का।
वह ढिग रह छाया-तुल्य संताप खोती।
यक थल अवनी में लोटती वंचिता का।
तन रज यदि छाती से लगा पोंछती थी।
अपर थल उनींदी मोह-मग्ना किसी को।
वह सिर सहला तो गोद में थी सुलाती।"

यदि राधा को इस दिशा में विकसित होने का अवसर था तो उर्मिला को भी कम अवसर नहीं था। चौदह वर्षों का लम्बा समय भावुकतापूर्वक कष्ट और क्षति के अनुभव तथा वियोग का गान गाने ही में बिता देना उस उदारहृदया और त्यागशीला युवती को शोभा नहीं देता। सीता के कौशलपूर्ण प्रबन्ध से जब वन में लक्ष्मण और उर्मिला का थोड़ी देर के लिए मिलन हुआ था तब उसने कहा था—

'मेरे उपवन के हरिण आज वनचारी।
मैं बाँध न लूँगी तुम्हें तजो भय भारी।'

यह सुन लक्ष्मण भाव-विह्वल होकर उसके चरणों पर गिरे पड़े थे—

"गिर पड़े दौड़ सौमित्र प्रिया पद-तल में।
वह भींग उठी प्रियचरण धरे दृग-जल में।"

इसी समय लक्ष्मण ने कहा था—

'वन में तनिक तपस्या करके
बनने दो मुझको निज योग्य।
भाभी की भगिनी तुम मेरे
अर्थ नहीं केवल उपभोग्य।'

लक्ष्मण ने उर्मिला का इस समय जो आदर किया था उस पर कोई भी युवती सहस्रों जीवन का यौवन निछावर कर सकती है। किंतु क्या वह उतनी ऊँची हुई, जितनी ऊँची उसे लक्ष्मण देखना चाहते थे? लक्ष्मण के लिए वन जाना अनिवार्य्य नहीं था, क्या सेवा-भाव और कर्त्तव्य की प्रेरणा ही से विवश होकर वे राम के साथ वन को नहीं गये थे? इस सेवा-भाव को लक्ष्मण ने तो दुर्गम कानन में भी अपने गले का हार बनाये रक्खा, लेकिन उर्मिला के लिये वह राज-प्रासाद में भी कठिन हो गया। क्या प्रणय-मूर्ति उर्म्मिला अपने कुटुम्बी गुरुजन की सेवा में प्रियतम की प्रणय-स्मृति का सौरभ नहीं पा सकती थी? क्या सूनी और मृत प्राय अयोध्या में वह अपने पति के महान् आदर्श की व्यवहारिक प्रतिष्टा करके नवजीवन का संचार नहीं कर सकती थी? लेकिन उर्मिला ने यह सब कुछ नहीं किया। उसने रो रो कर ही सारा समय काटा और जब रामचन्द्र, लक्ष्मण तथा सीता के लौटने के दिन निकट आये तब तो वह एक सीढ़ी और ऊपर चढ़ गयी। अगर हृदय में कष्ट हो और आँखों से आँसू निकलते रहें तो प्रायः देखने वाले विशेष चिन्तित नहीं होते, किन्तु परिताप की ज्वाला ज्यों की त्यों बनी रहने पर भी यदि आँसू न निकलें तो घबराने की बात है ही। बेचारी मांडवी उर्मिला की यह दशा देख कर भरत से कहती है :—

"किन्तु बहन के बहने वाले
आँसू भी सूखे हैं आज।
बरुनी के वरुणालय भी वे
अलकों से सूखे हैं आज।
उनके मुँह की ओर देख कर
आग्रह आप ठिठकता है।
कहना क्या कुछ सुनने में भी
हाय आज वह थकता है।
दीन भाव से कहा उन्होंने
बहन एक दिन बहुत नहीं।
बरसों निराहार रह कर क्या
ये आँखें भर गयीं कहीं।
विवश लौट आयी रोकर मैं
लायी हूँ नैवेद्य यहीं।
आता हूँ मैं—कह कर देवर
गये उन्हीं के पास वहीं।"

क्या उर्मिला के लिये यह उचित था कि वह मांडवी को रुला कर लौटा देती? कवि ने उर्मिला को अयोध्या की, अथवा कुटुम्ब की समस्या को सुलझाने में सहायक न बना कर स्वयं उर्मिला को ही एक पेचीले समस्या के रूप में प्रस्तुत कर दिया। महामना भरत अपने ही को परिवार के इस करुण काण्ड का मूल कारण समझ कर सदा कोसा करते थे, इसी नाते मांडवी की भी यह दयनीय परिस्थिति थी। क्या उर्मिला को इस दम्पति की वेदना के प्रति सहानुभूति न रखना चाहिए था? और यदि सहानुभूति होती तो क्या वह मांडवी को रोने का कारण देती? बात भी मांडवी के रोने ही तक नहीं रह गयी भरत ने जब सुना कि उर्मिला ने कुछ खाया नहीं तब उन्होंने भी उस दिन उपवास ही करने का निश्चय किया। मांडवी और भरत की यह शोचनीय स्थिति कवि ही के शब्दों में सुनिए:—

"स निःश्वास तब कहा भरत ने
—'तो फिर आज रहे उपवास।'

'पर प्रसाद प्रभु का ?' यह कहकर
हुई मांडवी अधिक उदास।

'सबके साथ उसे लूँगा मैं
बीते, बीत रही है रात।

हाय ! एक मेरे पीछे ही
हुआ यहाँ इतना उत्पात।

एक न मैं होता तो भव की
क्या असंख्यता घट जाती ?

छाती नहीं फटी यदि मेरी
तो धरती ही फट जाती !

'हाय नाथ धरती फट जाती
हम तुम कहीं समा जाते।

तो हम दोनों किसी तिमिर में
रह कर कितना सुख पाते।

न तो देखता कोई हमको
न वह कभी ईर्ष्या करता।

न हम देखते आर्त्त किसी को
न यह शोक आँसू भरता।

स्वयं परस्पर भी न देख कर
करते हम बस अंगस्पर्श।

तो भी निज दाम्पत्य-भाव का
उसे मानती मैं आदर्श।"

क्या इस संवाद में वह तत्व नहीं है जो उर्मिला के शोक-विस्तार में स्वार्थ का प्रसार सिद्ध कर दे ? वास्तव में कवि ने उर्मिला को उचित

और स्वाभाविक विकास से रहित तथा महत्व शून्य भावुकता के संकीर्ण क्षेत्र के भीतर बंदी करके उसके साथ अन्याय किया है। प्रियतम मिलन के समय और उसके पूर्व सखी से शृंगार-विषयक बातें करने के अवसर पर उसने जो उद्गार प्रकट किये हैं, वे सच पूछिए तो उसे शोभा नहीं देते। क्या त्यागी लक्ष्मण के सम्मुख अपनी शारीरिक यौवन-हानि के लिए परिताप की अभिव्यक्ति से अधिक सुन्दर लक्ष्मण के अधिक योग्य-उपहार उर्मिला नहीं प्रस्तुत कर सकती थी? क्या सत्य की अनुभूति की दिशा में उर्मिला का मानसिक विकास प्रियतम के चरणों में अधिक मनोहर भेंट न होती? परन्तु इसमें बेचारी प्रतिभाशालिनी उर्मिला का क्या अपराध? वह तो कवि के हाथ की कठपुतली है और उसकी जादू की लकड़ी से खींचे हुए घेरे के बाहर आने का साहस नहीं कर सकती। ऐसी दशा में उसके लिये यह स्वाभाविक ही है कि वह लक्ष्मण के व्यक्तित्व का उचित मूल्य आँकने में असमर्थ हो। और, जब शारीरिक लावण्य और यौवन—हानि की क्षति—पूर्ति करने वाला मलहम—आध्यात्मिक विकास—उसे उपलब्ध नहीं हो सका तब अगर वह अपनी एक मात्र सम्पदा को खोकर आहें भरती हैं तो इसमें आश्चर्य ही क्या है? ऐसी अवस्था में लक्ष्मण को पाकर भी अकिञ्चन बनी रहने वाली 'साकेत' की विलास-वासनामयी उर्मिला, कृष्ण को खोकर भी विश्व की वास्तविक विभूति 'सन्तोष' और 'आनन्द' से सम्पन्न और उसी कारण सौभाग्यशालिनी बनने वाली प्रिय-प्रवास की सेवा-परायण राधा के मनोहारक सौन्दर्यपूर्ण कवित्वमय आदर्श जीवन को, क्या ईर्ष्या की दृष्टि से नहीं देखेगी?

हिन्दी साहित्य में प्रकृति-चित्रण और हरिऔध

जब समाज की स्थिति सुव्यवस्था-सम्पन्न होती है। तब मनुष्य, प्रकृति और ईश्वर के प्रति उस की प्रवृत्ति औचित्य-पूर्ण और संयत मात्रा में पायी जाती है। हमारे संस्कृत साहित्य में एक ओर ईश्वर की खोज पराकाष्ठा को पहुँचा दी गयी है, दूसरी ओर प्रकृति-वर्णन और मानव सौन्दर्योपभोग भी प्रचुर मात्रा में पाया जाता है। उसका कारण यह है कि उक्त साहित्य की सृष्टि उस काल में हुई थी जब हिन्दू जाति अपनी उन्नति के शिखर पर आरूढ़ थी, जब उसके सम्राट् की भवें तनी देख कर ही कितने शत्रु परास्त हो जाते थे, जब इन्द्र को भी हमारे भूपालों की सहायता की आवश्यकता होती थी। हमारे दुर्भाग्य से हिन्दी-साहित्य का उत्पत्ति-काल हमारे पराजय से शुरू होता है। हमारे प्रथम कवि चन्दवरदाई थे, जिनके समय में महाराज पृथ्वीराज का प्रताप-सूर्य अस्त हो गया। यद्यपि हिन्दी-साहित्य के अनेक इतिहासकारों का यह कथन कि पराजय जनित मनोवृति ने ही भक्ति-आन्दोलन को जन्म दिया नितान्त भ्रमपूर्ण है, तथापि यह तो निर्विवाद है कि पराधीनता की अप्राकृतिक परिस्थिति ने पहले ही से ईश्वरोन्मुखता तथा भौतिक समृद्धि के प्रति उदासीनता के संस्कार से अभिभूत हिन्दू समाज की अन्तरात्मा को प्रकृति के स्वाभाविक सौन्दर्य के उपभोग से और भी विरत कर दिया। बौद्ध धर्म के ह्रास और आर्य्य धर्म के उत्थान के साथ ही साथ संस्कृत-साहित्य का जो पुनरुत्थान हुआ उसमें बौद्ध धर्म्म के विराग के विरुद्ध एक प्रबल प्रतिक्रिया शृंगार रस के प्रति अनुकूलता धारण करके प्रगट हुई। हिन्दू-समाज का यह पुनर्निर्माण-काल संयोग से हिन्दी साहित्य का शैशव-काल भी है।

अतएव संस्कृत-साहित्य की शृंगारिक विलास-विभूति भी हिन्दी-साहित्य को उत्तराधिकार के रूप में प्राप्त हुई। इस प्रकार एक ओर भक्ति ने और दूसरी ओर शृंगार-रस ने हिन्दी-कवियों के चित्त को अभिभूत कर रक्खा; यहाँ तक कि प्रकृति की ओर वे मुक्त-हृदय होकर दृष्टिपात नहीं कर सके। नीचे कतिपय प्रमुख कवियों के प्रकृति-चित्रण की कुछ पंक्तियाँ दी जाती हैं, इन से पाठकों को यह ज्ञात हो जायगा कि उन्होंने अधिकांश में प्रकृति का उपयोग लोक-शिक्षा अथवा नारी-सौन्दर्य्य को प्रस्फुटित करने ही के लिए किया है।

(१) पहले लोक-शिक्षा में प्रकृति के उपयोग के उदाहरण देखिए :—

"पुनि प्रभु गये सरोवर तीरा।
पंपा नाम सुभग गम्भीरा।
संत हृदय जस निर्मल वारी।
बाँधे घाट मनोहर चारी।
जहँ तहँ पियहि विविध मृग नीरा।
जनु उदार गृह याचक भीरा।

पुरइनि सघन ओट जल; वेगि न पाइय मर्म्म।
मायाछन्न न देखिये, जैसे निर्गुण ब्रह्म।
सुखी मीन सब एक रस; अति अगाध जल माहि।
यथा धर्म शीलन्हि के, दिन सुख संयुत जाहि।"

"दामिनि दमकि रही घन माहीं।
खल की प्रीति यथा थिर नाहीं।
बरसहिं जलद भूमि नियराये।
यथा नवहि बुध विद्या पाये।
बुंद अघात सहहिं गिरि कैसे।
खल के बचन सन्त सह जैसे।

क्षुद्र नदी भरि चलि उतराई।
जस थोरे धन खल बौराई।
भूमि परत भा डाबर पानी।
जिमि जीवहि माया लपटानी।

सिमिट सिमिट जल भरे तलावा।
जिमि सद्गुन सज्जन पहँ आवा।
सरिता जल जल निधि महँ जाई।
होइ अचल जिमि मन हरि पाई।

दादुर धुनि चहुँ ओर सुहाई।
वेद पढ़ै जनु वटु समुदाई।
नव पल्लव मय विटप अनेका।
साधक मन जस होइ विवेका।

अर्क जवास पात बिनु भयऊ।
जिमि स्वराज्य खल उद्यम गयऊ।
खोजत कतहुँ मिलै नहि धूरी।
करै क्रोध जिमि धर्महिं दूरी।

ससि-सम्पन्न सोह महि कैसी।
उपकारी की सम्पति जैसी।
निसि तम घन खद्योत विराजा।
जनु दंभिन कर जुरा समाजा।

महा वृष्टि चलि फूट कियारी।
जिमि स्वतंत्र होइ बिगरहि नारी।
कृपी निरावहि चतुर किसाना।
जिमि बुध तजहि मोह मद माना।

देखिय चक्रवाक खग नाहीं।
कलिहि देखि जिमि धर्म पराहीं।

ऊसर बरसे तृन नहि जामा।
संत हृदय जस उपज न कामा।
विविध जंतु संकुल महि भ्राजा।
बढ़ै प्रजा जिमि पाय सुराजा।
जहँ तहँ पथिक रहे थकि नाना।
जिमि इन्द्रिय गण उपजे ज्ञाना।
कबहुँ प्रबल चल मारुत, जहँ तहँ मेघ बिलाहिं।
जिमि कुपुत्र कुल ऊपजे सम्पति धर्म नसाहिं"।

—तुलसीदास।

(७) मनोवृत्तियों को उत्तेजन करने में प्रकृति का उपयोग आप निम्नलिखित पंक्तियों में पाएँगे :—

"ए ब्रज चंद चलौ किन वा ब्रज लूकैं बसंत की ऊकन लागीं।
त्यों 'पदमाकर' पेखौ पलासन पावक सी मनों फूँकन लागीं।
वै ब्रज-नारी बिचारी बधू बनवारी हिये लौं हुहूकन लागीं।
कारी कुरूप कसाइनैं ए सु कुहू कुहू क्वैलिया कूकन लागीं"।

"पात बिन कीन्हें ऐसी भाँति गन बेलिन के,
परत न चीन्हें जो ये लरजत लुंज हैं।
कहै 'पदमाकर' बिसासी या बसंतु के सु-
ऐसे उतपात गात गोपिन के भुंज हैं।
ऊधो यह सूधो सो सँदेसो कहि दीजो भलो,
हरि सों हमारे यों न फूले बन कुञ्ज हैं।
किंशुक गुलाब कचनार औ अनारन की,
डारन पै डोलत अँगारन के पुंज हैं" ।२।

—पद्माकर।

"वर्षा काल मेघ नभ छाये।
गरजत लागत परम सुहाये।
घन घमंड नभ गरजत घोरा।
प्रिया हीन डरपत मन मोरा।"

—तुलसीदास।

"फिर घर को नूतन पथिक, चले चकित चित भागि,
फूल्यो देखि पलाश वन, समुहैं समुझि दवागि।
उयौ शरद राका शशी, करति न क्यों चित चेत,
मनो मदन छिति पाल को, छाँहगीर छवि देत।"

—बिहारी।

"केला दल डोलैं मूल मंद मंदाकिनी कूल
एला फूल बेला की सुबास बरबासी है।
सरद की साँझ भई सीरी लगे सोम गयी
साजन सहेट भेंटि उठत उदासी है।
मालती को मिलि जब मलय कुमार आये
रेवा रस रोमनि जगायो नींद नासी है।
सखि हे सुहेल बरु दच्छिन समीर यह
बही पुरवैया बरी बैरिनि बिसासी है"।

—आलम।

गरजे घन दौरि रहैं लपटाइ भुजा भरि कै सुख पागी रहैं।
'हरि चन्द' जू भींजि रहैं हिय मैं मिलि पौन चले मद जागी रहैं।
नभ दामिनी के दमके सतराइ छिपी पिय अंग सुहागी रहैं।
बड़ भागिनी वेई अहैं बरसात में जो पिय कंठ सो लागी रहैं।

नीचे की पंक्तियों में नारी के शारीरिक सौन्दर्य्य-वर्णन में प्रकृति के उपयोग का अवलोकन कीजिए :—

"अवलोकत हैं जबहीं जबहीं।
दुख होत तुम्हैं तबहीं तबहीं।
वह बैर न चित्त कछू धरिए।
सिय देहु बताय कृपा करिए"।

—केशव।

सरिता इक केशव सोभरई।
अवलोकि तहाँ चकवा चकई।
उर में सिय प्रीति समाय रही।
तिनसों रघुनायक बात कही।

"कंज सकोच गड़े रहे कीच में मीनन बोरि दियो दह नीरन।
'दास' कहै मृगहूँ को उदास कै बास दियो है अरन्य गँभीरन।
आपुस में उपमा उपमेय है नैन ये निंदत हैं कवि धीरन।
खंजन हूँ को उड़ाय दियो हलुके करि डारे अनंग के तीरन"। २।

—दास।

"बरन बास सुकुमारता, सब विधि रही समाय।
पँखुरी लगे गुलाब की, गात न जानी जाय।
पिय तिय सों हँसि कै कह्यो, लखे दिठौना दीन।
चन्द्र मुखी मुख चन्द्र तें, भलो चन्द्र सम कीन।
तू रहि सखि हौं ही लखौं, चढ़ि न अटा बलि बाल।
बिन ही ऊगे ससि समुझि, दै हैं अर्ध अकाल।
दयो अरघ नीचे चलौ, संकट भानै जाय।
सुचती है औरै सबै, ससिहिं बिलोकैं आय"।

—बिहारी।

"सरस बसंत समय भल पाओलि दछिन पवन बह धीरे।
सपनहुँ रूप वचन यक भाषिय मुख से दूरि करु चीरे।
तोअर बदन सम चाँद हो अथि नहिं जैयो जतन बिह देला।
कै बेरि काटि बनावल नव कय तैयो तुलित नहिं भेला।
लोचन तूअ कमल नहिं भै सक से जग के नहिं जाने।
से फिर जाय लुकैलन्हि जल भय पंकज निज अपमाने"।

—विद्यापति।

(३) निम्नलिखित पद्यों में उत्तेजित मनोवृत्ति के कारण प्रकृति का विकृत चित्रण देखिए :—

"हिमांशु सूर सो लगै सो बात वज्र सी बहै।
दिसा लगै कुसानु ज्यों विलेप अंग को दहै।
विसेस काल राति सों कराल राति मानिए।
वियोग सीय को न काल लोक हार जानिए"।

—केशव।

"धुरवा होय न अलि उठै, धुआँ धरनि चहुँ कोद
जारत आवत जगत को, पावस प्रथम पयोद"।

—बिहारी।

"जब ते गुपाल मधुबन को सिधारे माई।
मधुबन भयो मधु दानव विषम सों।
सेष कहै सारिका सिषंडी षंडरीच सुक।
मिलि कै कलेस कीन्हों कालिंदी कदम सों।
जामिनी बरन यह जामिनीयो जाम जाय।
बधिबे को जुवति जनावै टेरि जम सों।
देह करैं करट। करेजो काढ़ों चाहति है।
कागु भई कोयल कगायो करै हम सों"।

—आलम।

"शिखिनि शिखर चढ़ि टेर सुनायो।
बिरहिन सावधान ह्वै रहियो सजि पावस दल आयो।
नव बादल बानैत पवन ताजी चढ़ि लुटकि दिखायो।
चमकत बीजु शैल कर मंडित गरजि निसान बजायो।
दादुर मोर पपीहा पिक गन सब मिलि मारू गायो।
मदन सुभट कर बान पंच लै ब्रज तन सन्मुख धायो।
जानि बिदेस नंद को नंदन अबलन त्रास दिखायो।
सूरदास पहिले गुन सुमिरिहि प्रान जानि बिरमायो। १।
हमारे माई मोरवा बैर परे।
घन गरजत बरज्यो नहिं मानत त्यों त्यों रटत खरे।
करि करि पंख प्रगट हरि इन को लै लै सीस धरे।
ताही ते मोहन बिरहिनि को एऊ ढीठ करे।
को जानैं काहे ते सजनी हमसों रहत अरे।
सूरदास पर देस बसे हरि ए बनते न टरे"। २।

—सूरदास।

(४) प्रकृति का सरल स्वरूप :—

"विकसे सरसिज नाना रंगा।
मधुर मुखर गुञ्जत बहु भृंगा।
बोलत जल कुक्कुट कल हंसा।
प्रभु विलोकि जनु करत प्रशंसा।
चक्रवाक बक खग समुदाई।
देखत बनै बरनि नहिं जाई।
सुंदर खग गण गिरा सुहाई।
जात पथिक जनु लेत बुलाई।
ताल समीप मुनिन्ह गृह छाये।
चहुँ दिशि कानन विटप सुहाये।
चम्पक बकुल कदम्ब तमाला।
पाटल पनस पलास रसाला।
नव पल्लव कुसुमित तरु नाना।
चंचरीक पटली कर गाना।
सीतल मन्द सुगन्ध सुभाऊ।
सन्तत बहइ मनोहर बाऊ।
कुहू कुहू कोकिल धुनि करहीं।
मुनि रव सरस ध्यान मुनि टरहीं"। १।

—तुलसीदास।

"दामिनी दमक सुर चाप की चमक स्याम
घटा की घमक अति घोर घन घोर ते।
कोकिला कलापी कल कूजत है जित तित
सीतल है हीतल समीर झक झोर ते।
सेनापति आवन कह्यो है मन भावन
लग्यो है तरसावन विरह जुर जोर ते।
आयो सखि सावन विरह सरसावन
लाग्यो बरसावन सलिल चहुँ ओर ते"।

—सेनापति।

"फूली फुलवारी वर मालती सु मौल सिरी
मोतिया अगस्त मान वेल की जु क्यारी है।
गुलपेंचा गुल्लाला गुड़हर गुलाब चहूँ
गुलसब्बो गुल अनार कुन्दक तारी है।
बरनत 'भट्ट' पिया बाँस गुलाबांस जुही
गुलतुर्रा गुञ्ज गैंदा दाउदी पियारी है।
चाँदनी चमेली चम्पा सेवती सुफूलीं सब
ऐसी ऋतु राज के समाज की तयारी है"।

(५) कुछ कवियों ने ही क्यों, प्रायः सभी कवियों ने रस के परिपाक के लिए प्रकृति को सहानुभूतिमयी चित्तवृति में अंकित किया है:—

"छाँह करहि घन विबुध गण, बरषहिं सुमन सिहाहिं।
देखत गिरि वन विहँग मृग, राम चले मगु जाहिं।

× × ×

"लागत अवध भयानक भारी।
मानहुँ काल राति अँधियारी।
घर मसान परिजन जनु भूता।
सुत हित मीत मनहुँ यम दूता।
बागन विटप बेलि कुम्हिलाहीं।
सरित सरोवर देख न जाहीं।"

—तुलसीदास।

"कहि केशव याचक के अरि चम्पक शोक अशोक भये हरि कै।
लखि केतक केतकि जाति गुलाबन तीक्षण जादि तजे डरि कै।
सुनि साधु तुम्हें हम बूझन आये रहे मन मौन कहा धरि कै।
सिय को कछु सोध कहो करुणा मय हे करुणा करुणा करि कै"।

—केशव।

"गोरे आँक थोरे लाँक थोरी बैस भोरी मति,
घरी घरी और छवि अंग अंग मैं जगै।
कहि कवि आलम छलक नैन मैन मई,
मोहनी सुनत बैन मन मोहन ठगै।
तेरोई मुखारविन्द निंदै अरविंदै प्यारी,
उपमा को कहै ऐसी कौन जिय मैं खगै।
चपि गयी चंद्रिकाऊ छपि गयी छवि देखि,
भोर को सो चाँद भयो फीकी चाँदनी लगै"।

—आलम।

"नैन लाल कुसुम पलास से रहे हैं फूलि,
फूल माल गरें बन झालरि सी लायी है।
भँवर गुञ्जार हरि नाम को उचार तिमि,
कोकिला सी कुहुकि वियोग राग गायी है।
हरिचंद तजि पतझार घर बार सबै,
बौरी बनि दौरि चारु पौन ऐसो धायी है।
तेरे बिछुरे तें प्रान कंत के हिमंत अंत,
तेरी प्रेम जोगिनी बसंत बनि आयी है"।

—भारतेन्दु।

हिन्दी-साहित्य के आदि काल से लेकर उन्नीसवीं शताब्दी के अंत तक हिन्दी-कवियों के प्रकृति-वर्णन की यहीं समाप्ति हो जाती है। 'प्रिय-प्रवास' के प्रकृति-वर्णन की विशेषताओं का दिग्दर्शन कराते हुए मैंने इस दिशा में हरिऔध जी की मौलिकता की ओर संकेत किया है। उन्होंने भी प्रकृति का उपयोग उक्त प्रणालियों के अनुसार किया है, किन्तु प्रकृति के उस स्वरूप का अंकन कर के, जिसमें वह माता के वत्सल-भाव-से-युक्त होकर मनुष्य के आँसु पोंछती और शूल सी गड़ाने वाली स्मृतियों को मादक थपकी दे दे कर सुलाती है, हरिऔध जी ने वह काम किया है जिसे हिन्दी के किसी भी कवि ने नहीं किया था।

प्रकृति के सम्पर्क में रख कर उन्होंने राधा का जो सुन्दर विकास किया है, उसने हिन्दी-साहित्य की सूनी गोद को मानो प्रियतम के मधुर स्पर्श से पुलकित कर दिया है। 'प्रियप्रवास' के बाद प्रकाशित होने वाले काव्य-साहित्य में हरिऔध जी के प्रकृति अंकन का प्रभाव स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होता है। पं० सुमित्रानन्दन पंत की निम्न-लिखित पंक्तियों को देखिए:—

"रँगीले मृदु गुलाब के फूल !
कहाँ पाया मेरा यौवन ?
प्राण ! मेरा प्यारा यौवन ?

रूप का खिलता हुआ उभार,
मधुर मधु का व्यापार;
चुभे उर में सौ सौ मृदु शूल,
खुले उत्सुक दृग द्वार

हृदय ही से गुलाब के फूल।
तुम्हीं सा है मेरा यौवन।

× × × ×

मालिन मुरझे गुलाब के फूल
सुकृति ही है, हाँ, आश्वासन—

सुमन ! बस अन्तिम आश्वासन !
किया तुमने सुरभित उद्यान,
दिया उर से मधु दान।
मिला है तुम्हें आज वह मूल,
लिया जिससे आधान।
स्वप्न ही से गुलाब के फूल !
नव्य जीवन है आश्वासन !
धूलि धूसित गुलाब के फूल !
यही है पीला परिवर्तन—

प्रतनु ! यह पार्थिव-परिवर्तन ।
नवल कलियों में वह मुसकान,
खिलेगी फिर अनजान;
सभी दुहराएँगी यह गान—
जन्म का है अवसान
विश्व-छवि से गुलाब के फूल !
करुण है पर यह परिवर्तन !"

उक्त पंक्तियों में प्रकृति के साथ एकाकार का जो चित्र अंकित किया गया है, मानव-यौवन की प्रकृति के यौवन के साथ जो तन्मयता प्रदर्शित की गयी है उसकी तुलना पाठक राधा की उस भावना के साथ करें जिसने फूलों, भौंरों, बादलों, कालिन्दी, चन्द्रमा, आदि को उनके प्राणेश्वर के रूप में परिवर्त्तित कर दिया। प्रियतम श्याम की वंशी से मुखरित यमुना के कूलों ने अपनी दाहक प्रवृत्ति का अन्त करके राधा के हृदय को जिस प्रकार शान्तिमय विकास प्रदान किया, वैसे ही उक्त पंक्तियों में गुलाब के फूल के यौवन में अपने ही यौवन का दर्शन करने वाला कवि उसको विभिन्न अवस्थाओं में मानव जीवन की विभिन्न अवस्थाओं की कल्पना द्वारा शीतलतामय शान्ति प्रदान करने वाले सत्य के निकट पहुँच रहा है।

पंडित रामनरेश त्रिपाठी की निम्नलिखित पंक्तियों में भी मानव-व्यक्तित्व पर प्रकृति की प्रभाव डालने की क्षमता की स्वीकृति है:—

"एक बूँद जल घन से गिरकर।
सरिता के प्रवाह में पड़कर।
जाता हूँ मैं फिर न मिलूँगा,
यह पुकारता हुआ निरन्तर।
चला जा रहा है आगे से,
कैसा है यह दृश्य भयावह।
इस अस्थिर जग में क्या मेरे,
लिए नहीं है चिन्तनीय यह।"

× × × ×

"पर्वत-शिखरों का हिम गलकर,
जल बन कर नालों में आकर।
छोटे बड़े चौकने अगणित,
शिला-समूहों से टकरा कर।
गिरता, उठता, फेन बहाता,
करता अति कोलाहल हर हर।
वीर वाहिनी की गति से वह,
बहता रहता है निशि-वासर।
मानों जलदों के शिशु-गण-दल,
बाँध खेलते हुए परस्पर।
अति उतावले पन से चल कर,
गोल पत्थरों पर गिर गिर कर।
उठते करते नृत्य विहँसते,
तथा मानते हुए महोत्सव।
सागर से मिलने जाते हैं,
पथ में करते हुए महा रव।
इनका बाल-विनोद देखते,
हुए किसी तीरस्थ शिला पर।
सतत सुगंधित देव-दारु की,
छाया में सानन्द बैठ कर।
सिर भर हरि के पद-पद्मों पर,
करके जीवन-सुमन समर्पण।
बना नहीं सकता क्या कोई भी,
अपने आनन्द-निकेतन?"

प्रकृति की इस प्रभावशालिता ने उसे जड़ समझने वाली मनोवृत्ति का प्रायः अंत कर दिया है। हरिऔध जी के अनेक पूर्ववर्त्ती कवियों ने भी प्रकृति को मानव भावान्तरित रूप में देखा था, उदाहरणार्थ—

"सेनापति तपन तपत उतपति तैसो,
छायो रतिपति तातें विरह बरतु है।
लुवन की लपटैं ते चहुँ ओर लपटैं पै,
ओढ़े सलिल पटै न चैन उपजतु है।
गगन गरद धूँधि दसौ दिसि रही रूँधि,
मानो नभ भार की भसम बरसतु है।
बरनि बतायी छिति व्योम की तताई जेठ,
आयो आततार्इ पुटपाक सो करत है।
विविध बरन सुरचाप ते न देखियत,
मानो मनि भूषन उतारि धरे भेस हैं।
उन्नत पयोधर बरसि रसु गिरि रहे,
नीके न लगत फीके सोभा के न लेस हैं।
सेनापति आये तें सरद रितु फूलि रहे,
आस पास कास खेत सेत चहूँ देस हैं।
जीवन हरन कुम्भ जोनि के उदै ते भये,
बरषा बिरिधता के सेत मानो केस है।"

किन्तु 'प्रिय-प्रवास' में राधा ने प्रकृति का मानव-प्रियतमभावान्वित रूप अत्यन्त प्रभावशाली रूप से दर्शन करके हमारे वर्तमान काव्य की इस प्रवृत्ति को बहुत अधिक बल प्रदान कर दिया है। नीचे की कतिपय कविताएँ देखिए। पंडित इलाचन्द्र जोशी ने शरदऋतु का और पंडित सूर्य्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' ने संध्या का चित्रण नारी रूप में किया है :—

[१]

महा विजन से सजनी मेरी आयी
प्यारी शरत् कुमारी;
नग्न नयन में नील गगन का अञ्जन
मेरे मन का मान कर रहा भंजन
स्वर्ण-वर्ण-विहरण से हृदय हरण कर

झिल मिल झलकाती है छवि क्या न्यारी ?
जग मग जोवन जगा रही हैं उसकी
तारक दीपावलियाँ ;
फहरा कर उल्काओं की फुल झड़ियाँ
प्यार जताती हैं उसको प्रिय परियाँ ;
दलित कर रही है सुललित चरणों से—
कलित काश कुसुमों की कोमल कलियाँ
चन्द्र-विभासित शुभ्र मेघ शैया पर
लहराती है बाला ;
विधुर अधर के तरुण करुण कम्पन से
पल पल पुलकित करती है चुम्बन से
चुन चुन ओस कणों को तरलित वन में
कब मुझको पहनाएगी वर माला।"
—इलाचन्द्र जोशी।

[२]

"दिवसावसान का समय
मेघमय आसमान से उतर रही है
वह संध्या सुन्दरी परी सी
धीरे धीरे धीरे,
तिमिरांचल में चंचलता का नहीं कहीं आभास,
मधुर मधुर हैं दोनों उसके अधर—
किन्तु ज़रा गम्भीर— नहीं है उनमें हास-विलास,
हँसता है तो केवल तारा एक,
गुँथा हुआ उन घुँघराले काले बालों से,
हृदय-राज्य की रानी का वह करता है अभिषेक।
—निराला।

मानव भावारोप का यह स्वरूप, यदि सीमा के भीतर रहे तो, विशेष आपत्ति योग्य नहीं। बाबू जयशंकर 'प्रसाद' की निम्नलिखित कविता में इसका प्रयोग उचित से अधिक मात्रा में हो गया है :—

"क्या अलका की विकल विरहिणी
की पलकों का ले अवलम्ब
सुखी सो रहे थे इतने दिन!
कैसे? हे नीरद निकुरम्ब।

बरस पड़े क्यों आज अचानक
सरसिज कानन का संकोच।
अरे जलद में भी यह ज्वाला!
झुके हुए क्यों? किसका सोच?

किस निष्ठुर ठंडे हृत्तल में
जमे रहे तुम बर्फ समान?
पिघल रहे किसकी गर्मी से
हे करुणा के जीवन-प्रान?
चपला की व्याकुलता ले कर
चातक का ले करुण विलाप।
तारा आँसू पोंछ गगन के
रोते हो किस दुख से आप?
किस मानस-निधि में न बुझा था
बड़वानल जिससे बन भाप।
प्रेम प्रभाकर-कर से चढ़कर
इस अनन्त का करते माप।

क्यों जुगुनू का दीप जला है
पथ में पुष्प और आलोक।
किस समाधि पर बरसे आँसू
किसका है यह शीतल शोक?

थके प्रवासी बनजारों से
लौटे किस मंथर गति से?
किस अतीत की प्रणय-पिपासा
जगती चपला सी स्मृति से?"

इस कविता में सरसता है, भावुकता है किन्तु मानव-भावारोपण की प्रवृत्ति ने प्रकृति के प्रकृत स्वरूप के चित्रण पर विजय प्राप्त कर ली है। यह प्रायः वैसी ही प्रवृत्ति है जैसी बिहारी लाल की अतिशयोक्तियों में दिखायी पड़ती है। ऐसी कविताएँ पढ़ कर कालिदास के यक्ष का स्मरण हो आता है, जिसके सम्बन्ध में कवि ने लिखा है:—

"धूम ज्योतिः सलिल मरुतां सन्निपातः क्व मेघः।
सन्देशार्थाः क्व पटुकरणैः प्राणिभिः प्रापणीया।
इत्यौत्सुक्यादपरिगणयन् गुह्यकस्तं ययाचे।
कामार्त्ता हि प्रकृति-कृपणाश्चेतना चेतनेषु।"

शेष

हरिऔध जी के सम्बन्ध में पिछले पृष्ठों को पढ़ने के बाद पाठक सम्भवतः हिन्दी-साहित्य में उनके स्थान के सम्बन्ध में अपनी धारणा स्थिर करने में अधिक कठिनाई का अनुभव नहीं करेंगे। प्रकृति-सौन्दर्य्य के अंकन में तो वे बेजोड़ हैं; नारी-सौन्दर्य्य-सृष्टि में हिन्दी के दो-चार महाकवियों के बाद ही उनका नाम लिया जायगा; रहा ईश्वर-विषयक काव्य, सो उसके सम्बन्ध में भी यह कहा जा सकता है कि इस दिशा में उनकी कृति आधुनिक कवियों की अपेक्षा अधिक सरल, सुबोध और स्पष्ट है।

हरिऔध जी के सम्बन्ध में पाठक को एक बात तो अवश्य ही स्मरण रखनी चाहिए और वह यह कि उनका सम्पूर्ण कार्य हिन्दी-साहित्य में प्रयोग ही के रूप में हुआ है, जिससे उनकी विकास-दिशा में विलक्षण नवीनता आ गयी है। प्रयोगों की सफलता और असफलता के सम्बन्ध में अनिश्चय तो बना ही रहता है, किन्तु अपने जीवन-काल ही में हरिऔध जी को उनकी लोकप्रियता के इतने प्रमाण मिल चुके हैं कि उनकी सफलता के विषय में संदेह करने के लिए कोई स्थान नहीं रह गया है। ठेठ हिन्दी लिखने की ओर उन्होंने जो प्रयास किया उसी को आज हम हिन्दुस्तानी भाषा का रूप पकड़ते देख रहे हैं; यद्यपि इसमें संदेह नहीं कि हिन्दुस्तानी ठेठ हिन्दी न है और न होगी। काव्य-भाषा में अधिकतर तद्भव शब्दों का व्यवहार करके भी हरिऔध जी ने एक मार्ग प्रदर्शित किया है और इस दिशा में की गयी उनकी काव्य-रचना—चौपदे आदि—तो हिन्दुस्तानी भाषा की अमूल्य सम्पत्ति हैं। यहाँ यह भी कथन कर देना असंगत न होगा कि काव्य-रचना में कला और सौन्दर्य्य-सृष्टि के तकाजों का पूरा निर्वाह करते हुए भी हरिऔध जी अधिकांश में ऐसी कृतियाँ हिन्दी-साहित्य को दे सके हैं जिसे भाई अपनी बहन के सामने और माँ अपने लड़के के सामने निस्संकोच भाव से पढ़ सकती है। बालकों के लिए तो

उन्होंने बहुत कुछ किया है; आधुनिक हिन्दी-साहित्य में बाल-साहित्य-निर्माण के श्रीगणेश का श्रेय उन्हीं को मिलेगा।

हरिऔध जी की लोकप्रियता के सम्बन्ध में मैं आरम्भ ही में कुछ निवेदन कर चुका हूँ। वर्त्तमान समय में हिन्दी के वयोवृद्ध तथा नवीन साहित्यकारों में एक संघर्ष दृष्टिगोचर हो रहा है। किन्तु इस पारस्परिक मनोमालिन्य के काल में भी यदि कोई साहित्यकार ऐसा है जो युवकों और वृद्धों दोनों की मण्डली में श्रद्धा की दृष्टि से देखा जाता है तो वह हरिऔध जी ही हैं। ब्रजभाषा के सफल तथा नव रस मय-काव्य-रचना में कुशल होने के कारण जहाँ वे एक ओर ब्रजभाषा-रसिक-मण्डली के भक्ति-भाजन हैं वहाँ आधुनिक शैली के कलाकारों के भी श्रद्धा-पात्र हैं। काव्य के प्रत्येक विभाग में जैसे उनकी लेखनी के क्रियाशील होने के कारण यह स्थिति संभव हुई है, वैसे ही उनकी लोकप्रियता का एक बहुत बड़ा कारण कलह-वैमनस्य से दूर रह कर विशुद्ध साहित्य-सेवा में निमग्न रहने की उनकी प्रवृत्ति है। नीचे थोड़ी सी सम्मतियाँ इस उद्देश्य से दी जाती हैं कि पाठक उस श्रद्धाभाव का परिचय प्राप्त कर लें जो हरिऔध जी की साहित्य-सेवा के प्रति हिन्दी के अन्य साहित्य-सेवियों के हृदय में है :—

[१]

हिन्दू-विश्व-विद्यालय, काशी के प्रसिद्ध अध्यापक पं० रामचन्द्र शुक्ल लिखते हैं :—

"उपाध्याय जी में लोक-संग्रह का भाव बड़ा प्रबल है। उक्त काव्य में श्रीकृष्ण ब्रज के रक्षक नेता के रूप में अंकित किये गये हैं। खड़ी बोली में इतना बड़ा काव्य अभी तक नहीं निकला है। बड़ी भारी विशेषता इस काव्य की यह है कि यह संस्कृत के वर्णवृत्तों में है। उपाध्याय जी का संस्कृत पदविन्यास बहुत ही चुना हुआ और काव्योपयुक्त होता है।

× × ×

यह काव्य अधिकतर वर्णनात्मक है। वर्णन कहीं कहीं बहुत मार्मिक है—जैसे 'कृष्ण के चले जाने पर ब्रज की दशा का वर्णन। विरह-वेदना से क्षुब्ध वचनावली के भीतर जो भाव की धारा अनेक बल खाती, बहुत दूर तक लगातार चली चलती है, उसमें पाठक अपनी सुधबुध के साथ कुछ काल के लिए मग्न हो जाता है।

[२]

ब्रजभाषा के उपासक श्री पण्डित रामशंकर शुक्ल एम० ए० रसाल जी का हरिऔध जी के कार्य्य के सम्बन्ध में इस प्रकार मत है :—

"खड़ी बोली में ऐसा सुन्दर, प्रशस्त, काव्यगुण-सम्पन्न और उत्कृष्ट काव्य आजतक दूसरा निकला ही नहीं। हम इसे खड़ी बोली के कृष्ण-काव्य का सर्वोत्तम प्रतिनिधि कह सकते हैं। वर्णनात्मक काव्य होकर यह चित्रोपम, सजीव, रोचक, तथा रसपूर्ण है। वर्णन-शैली बड़ी ही चोखी और चुटीली है, भावानुभावादि का भी अच्छा मार्मिक तथा मर्मस्पर्शी चित्रण किया गया है। कला-कौशल और अलंकार-वैचित्र्य भी स्तुत्य है। इसी एक काव्य से उपाध्याय जी खड़ी बोली के कवि-सम्राट् होकर अमर हो गये हैं। साथ ही खड़ी बोली काव्य भी इसी से गौरवान्वित हुआ है। अतुकांत शैली के सफल तथा स्तुत्य प्रवर्त्तक हम हिन्दी-क्षेत्र में हरिऔध जी को ही मान सकते हैं।

× × ×

आप खड़ी बोली के सर्वोच्च प्रतिनिधि, कवि-सम्राट्, मर्मज्ञ, ठेठ हिन्दी के अनुकरणीय लेखक तथा बोलचाल की भाषा के विशेषज्ञ माने जाते हैं। आप सरल और क्लिष्ट दोनों प्रकार की साहित्यिक भाषा के सिद्ध हस्त लेखक एवं कवि हैं। खड़ीबोली के विविध रूपों तथा उसकी शैलियों पर आपका पूरा अधिकार है; मुहावरों तथा लोकोक्तियों के प्रयोग में आप पूर्ण पटु पण्डित हैं।

× × ×

'ठेठ हिन्दी का ठाट' और अधखिला फूल में औपन्यासिक कला-कौशल तो उतना महत्त्वपूर्ण नहीं जितना भाषा एवं रचना-कौशल है।

परन्तु इनके साथ यदि वेनिस का बाँका रखा जाय तो यही कहना पड़ता है कि उपाध्याय जी को हिन्दी-भाषा पर पूर्ण अधिकार प्राप्त है। वे न केवल एक कवि-सम्राट् ही हैं वरन लेखक-सम्राट् भी हैं। यदि एक ओर वे उच्च कोटि की संस्कृत प्राय भाषा लिख सकते हैं तो दूसरी ओर सरलाति सरल ठेठ हिन्दी भी।

(३)

श्रीयुत पण्डित सूर्य्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' लिखते हैं :—

"खड़ीबोली के उस काल के कवियों में पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' की काव्य-साधना विशेष महत्व की ठहरती है। सहृदयता और कवित्व के विचार से भी ये अग्रगण्य हैं। परन्तु संस्कृत के वृत्तों तथा प्रचलित समस्त पदों के प्रयोग की प्रथा ये भी नहीं छोड़ सके। इनके समस्त पद औरों की तुलना में अधिक मधुर हैं जो इनकी कवित्वशक्ति के ही परिचायक हो जाते हैं। इनकी यह एक सबसे बड़ी विशेषता है कि ये हिन्दी के सार्वभौम कवि हैं। खड़ी-बोली, उर्दू के मुहावरे, ब्रजभाषा, कठिन, सरल, सब प्रकार की कविता की रचना कर सकते हैं और सब में एक अच्छे उस्ताद की तरह ये सरल चित्त से सब की बातें सुन लेते हैं। इनके समय, स्थिति और जीवन पर विचार करने पर कवित्व का कहीं पता भी नहीं मिलता, पर ये महाकवि अवश्य हैं। हिन्दू-कुल की प्रचलित ब्राह्मण प्रथाओं पर विश्वास रखते हुए, अपने आचार-विचारों की रक्षा करते हुए तथा नौकरी पर रोज हाज़िर होते हुए भी सदैव ये सरस, सरल कवि ही बने रहे। कवि की जो उच्छृंखलता उसकी प्रतिभा के उन्मेष के कारण होती है वह इनमें नाम के लिए भी नहीं है। परन्तु नौकरी करते हुए भी ये प्रतिभाशाली कवि ही रहे। हिन्दी-भाषा पर इनका अद्भुत अधिकार है।

(४)

श्रीयुत पण्डित जनार्दनप्रसाद झा एम०ए० का कथन इस प्रकार है:—

"हमारे सम्मानित महाकवि हरिऔध जी की सबसे बड़ी

विशेषता यह है कि इन्होंने घोर असाहित्यिक वातावरण में रह कर अपने साहित्यिक जीवन को गौरवान्वित किया है। × × × काव्य-साधना की जो संलग्नता इनमें देखी जाती है वह शायद ही किसी और बूढ़े कवि में देखी जा सके। × × × इनका महान् व्यक्तित्व सर्वथा आडम्बर शून्य है। ये निष्कपट, निर्लोभ, और निरभिमानी तो हैं ही, साथ ही इनकी मिलनसारी भी बड़ी मधुर है। मिलने जुलनेवालों से ये कभी उकताते नहीं, उनके साथ भूल कर भी अप्रिय वर्ताव नहीं करते। अतिथि को सचमुच अपने घर का देवता मानते हैं। छोटा-बड़ा जो इनके पास पहुँच जाय उसे ये समभाव से अपना लेते हैं। जो इनसे पहली ही बार मिलता है, वह यही अनुभव करता है कि प्रेम ही इनकी प्राण-शक्ति है।

× × × ×

ऐसा कौन है जो इनके गम्भीर मुखमण्डल तथा उन्नत ललाट को देखते ही यह न मान ले कि ये सत्यम् शिवम् सुन्दरम् की सृष्टि करने वाली प्रतिभा के प्राणवल्लभ हैं।

[५]

श्रीयुत् पण्डित रमाकान्त त्रिपाठी एम० ए० की निम्नलिखित पंक्तियाँ भी देखने योग्य हैं :—

"आधुनिक हिन्दी-साहित्य के इतिहास में उपाध्याय जी का स्थान बड़ा महत्त्वपूर्ण रहेगा। वर्तमान हिन्दी-कविता की धारा को चिर-प्रचलित ब्रजभाषा की ओर से हटाकर खड़ीबोली की ओर प्रेरित करने में उपाध्याय जी ने उसी प्रकार का परिवर्तन उपस्थित कर दिया है जिस प्रकार प्रसिद्ध कवि वर्ड्सवर्थ ने अँग्रेजी कविता में उत्पन्न करने का प्रयत्न किया था; उनके (वर्ड्सवर्थ के) लिरिकल वैलड्स (lyrical ballads) ने एक नये ढंग की कविताएँ जनता के सम्मुख रखी थीं, जिनकी भाषा में अभूतपूर्व सारल्य था और जो सब के लिये समान रूप में सुबोध थीं, उपाध्याय जी ने 'प्रिय-प्रवास' नामक भिन्न तुकांत

महाकाव्य उसी खड़ीबोली के परिष्कृत रूप में लिख कर वर्ड्सवर्थ से भी बढ़ कर असाधारण उथलपुथल हिन्दी-कविता में मचा दी थी। इसके सिवाय 'तिनका' 'आँसू' ऐसे साधारण विषयों पर भावपूर्ण कविता बना कर उन्होंने इस बात का निराकरण कर दिया है कि किसी समय की बोलचाल की भाषा में उच्च कोटि के काव्य—साहित्य का निर्माण नहीं किया जा सकता।

× × × ×

ठेठ भाषा में दो अपने ढंग के उत्तम उपन्यासों को निश्चित उद्देश्य से लिख कर उपाध्याय जी ने यह सिद्ध कर दिया है कि बिना खरे संस्कृत शब्दों अथवा उत्कृष्ट उर्दू की पदावली का सहारा लिये ही बोलचाल की भाषा में सजीव से सजीव गद्य लिखा जा सकता है। तात्पर्य्य यह है कि उन्होंने सदा के लिए हिन्दी-गद्य का रुझान बोलचाल की ओर किया।"

× × × ×

पं० अयोध्यासिंह जी स्वयं प्रायः संस्कृतमय गद्य लिखते हैं। कभी कभी वे बड़े असाधारण क्लिष्ट शब्दों का प्रयोग करते हैं। परन्तु तब भी उनके वाक्यों में वह दुरूहता नहीं होती जो शायद पं० श्रीधर पाठक तथा पं० गोविन्दनारायण मिश्र की भाषा में पायी जाती है। उनका वाक्य-विन्यास भी सरल होता है। वे एक सरल हृदय पुरुष तथा उच्च कोटि के कवि हैं। इसलिए उन्हें सरस भाषा से प्रेम है। यही कारण है कि उनके वास्तविक गद्य में संस्कृत पदावली की अच्छी छटा रहती है। सच्चे कवि की भाँति गद्य लिखते समय भी उनकी भावुकता उन्हें झंकारपूर्ण कोमल, कान्त शब्दों का प्रयोग करने के लिए प्रेरित करती है।

उपाध्याय जी की संस्कृत गद्य-शैली में जो सौष्ठव तथा जो विशदता है उसका श्रेय उनके काव्य-कौशल को है। क्योंकि वे कवि पहले हैं और गद्य-लेखक उसके बाद; तभी उनकी भाषा में शैथिल्य नहीं है।

एक बात और है। 'ठेठ' वाली भापा को एक विशेप प्रकार के सोद्देश्य गद्य का उदाहरण मान कर अलग रखिए और उनके साधारण प्रकार के गद्य पर विचार कीजिए तो ज्ञात होगा कि उसमें गम्भीरता है, हास्य और व्यंग उनकी प्रकृति के विरुद्ध है। इसी दृष्टि से पं० अयोध्यासिंह जी को संस्कृत (Classical) शैली में गद्य—लेखकों में रखना चाहिए।

मध्य प्रदेश के प्रसिद्ध साहित्यिक काव्य विनोद श्रीमान लोचन प्रसाद पाण्डेय 'स्वदेश वान्धव' पत्र के अगस्त १६१५ के अंक में यह लिखते हैं :—

"उनके सरस और हृदयग्राही स्फुट कविताओं के पाठ से हमें उनके एक सुकवि होने का पूर्ण विश्वास था पर हमें इस वात का ध्यान न था कि श्रीयुत् उपाध्याय जी की 'प्रतिभा' कार्यकारिणी शक्ति में हिन्दी साहित्य-संसार भर में अधिक वलवती है और इस खड़ीवोली के नवयुग में वह हम लोगों का आदर्श वन कर मार्ग-प्रदर्शक हो सकेगी।

'गद्य लिखने में— नयी शैली की हिन्दी लिखने में 'हरिऔध' जी ही हिन्दी-ससार में अद्वितीय हैं।

'हिन्दी भापा पर ऐसा अपूर्व अधिकार रखने वाले एक प्रसिद्ध विद्वान ग्रन्थकार का महोच्च कवि की प्रतिभा-शक्ति से सम्पन्न होना हिन्दी-संसार के लिए गौरव का विषय है।"

'विहार के विख्यात साहित्यकार श्रीमान् पं० रामदहिन मिश्र काव्यतीर्थ 'पद्यप्रमोद' की भूमिका में यह लिखते हैं :—

"साहित्यरत्न पण्डित अयोध्यासिंह उपाध्याय कैसे काव्यकला-कुशल, शब्दशिल्पी, सत्कवि और सुलेखक हैं— यह हिन्दी-संसार विशेप रूप से जानता है। आपका पाण्डित्य प्रगाढ़, वुद्धि तीक्ष्ण, विचार उत्तम, कवित्व-शक्ति निस्सीम और प्रतिभा अप्रतिहत है। हिन्दी तो आपकी अनुगत सी ज्ञात होती है। आप उसे जिस साँचे में ढालना चाहते हैं ढाल देते हैं। कोई भी मर्मज्ञ पाठक हिन्दी-संसार में नव नव युग के प्रवर्त्तक और नई नई सृष्टि के स्रष्टा उक्त उपाध्याय जी के 'ठेठ हिन्दी

का ठाट, 'अधखिला फूल' से सरस और शिक्षाप्रद उपन्यास 'प्रियप्रवास' सा महाकाव्य और इन ग्रन्थों की तथा उपाध्याय जी की संकलित "कबीर वचनावली" की विवेक और पाण्डित्य-पूर्ण शतशत पृष्ठ से भी अधिक भूमिका पढ़कर मेरी इन उक्तियों को अत्युक्तियों में परिगणित नहीं करेगा। आपकी प्रशंसा मुक्तकण्ठ से क्या देशी और क्या विदेशी सभी साहित्य-सेवियों ने की है। आपकी गणना महाकवियों में होती है।"

'युवक' मासिक पत्र के सम्पादक विहार प्रान्त के उत्साही साहित्य सेवी श्रीमान् रामवृक्ष शर्मा बेनी पुरी 'पद्य प्रसून' की भूमिका में यह लिखते हैं:—

"उपाध्याय जी पूरे शब्द-शिल्पी हैं। आप के एक एक शब्द चुने-चुनाये नपे-तुले होते हैं। जहाँ आपने केवल संस्कृत की ही कविता की सरिता बहाई है, वहाँ भी—उस सरिता-स्रोत पर भी—आपकी सुन्दर शब्द-तरंग-माला अठखेलियाँ करती देख पड़ती है।

'आपको देखकर उस स्वर्णयुग के आदर्श ब्राह्मणों की याद आ जाती है। आपकी विद्वत्ता, सादगी, निर्लोभता, धर्मपरायणता आदि गुणों को देखकर ब्राह्मणत्व का एक स्पष्ट चित्र आँखों के निकट खिंच जाता है। आपकी विद्वत्ता अथाह है, अध्ययन-शीलता अनुकरणीय है, सादगी सराहनीय है, धार्मिकता धारणीय है और निस्पृहता अभिनन्दनीय।

'काव्य-चर्चा ही आपका व्यसन है। कविता ही आपकी सहचरी है। इन पंक्तियों के लेखक को जब जब आप के दर्शनों का सौभाग्यप्राप्त हुआ है तब तब उसने आपको कविता ही के बीच में बैठे पाया है।

उनका उन्नत ललाट उनकी प्रतिभा का द्योतक है। गम्भीर मुख-मंडल सदाचारिता का सूचक है। एक दुबले पतले शरीर में एक हृष्ट-पुष्ट आत्मा का विनोद-विलास उन्हीं को देखने पर दीख पड़ता है।

निर्लोभता की चर्चा पहले हो चुकी है। इस युग में—इस रुपये पैसे के युग में—आपने रुपयों को पैरों से ठुकराया है। आप अपनी प्रतिभा-शक्ति द्वारा बहुत कुछ उपार्जन कर सकते थे। किन्तु सरस्वती का

क्रय-विक्रय करना आपको पसन्द नहीं। आपने अपनी कृतियों को, जिसने माँगा उसे ही, उदारता पूर्वक मुफ़्त दे दिया।

आप छोटे बड़े सभी आगन्तुकों से बड़े प्रेम से, दिल खोल कर मिलते हैं। अभिमान आपको छू नहीं गया है। आपका सीधापन देख कर दंग रह जाना पड़ता है। अतिथि-सत्कार शायद आपके ही पल्ले में पड़ा है।"

विहार प्रान्त के प्रतिष्ठित विद्वान् हिन्दी-संसार के प्रसिद्ध जीवनी-कार स्वर्गीय श्रीमान् बाबू शिवनन्दन सहाय 'बालविभव' की भूमिका में यह लिखते हैं:—

"देश के सभी कविता प्रेमी उपाध्याय जी से और आपकी रचनाओं से पूरे परिचित हैं। हिन्दी कविता जगत में आज आपका यश सविता के समान देदीप्यमान है। केवल एक ही शब्द 'सम्राट्' जो आपके नाम के साथ लिखा जाता है, आपकी गुणगरिमा की व्याख्या के लिए एक वृहद् ग्रन्थ काम देता है।"

वर्त्तमान हिन्दी-साहित्य-सेवियों की उक्त सम्मतियों से पाठक सहज ही समझ सकते हैं कि हिन्दी-संसार के विभिन्न दलों के प्रति-निधि अन्य विषयों में भले ही मतभेद रखते हों किन्तु हरिऔध जी का सम्मान करने में वे सभी सहमत हैं। ऐसी अवस्था में हरिऔध जी का हिन्दी के प्राचीन और अर्वाचीन साहित्यकारों की श्रेणी में क्या स्थान हो सकता है, इसका वे किसी विशेष कठिनाई के विना ही निश्चय कर सकते हैं। पं० नन्ददुलारे वाजपेयी एम० ए० ने इस विषय में नेतृत्व ग्रहण किया है। उनकी सम्मति पाठक पहले ही, इस ग्रन्थ के आरम्भ में पढ़ चुके हैं। उनका कहना है कि हरिऔध जी का स्थान भारतेन्दु हरिश्चन्द्र से भी ऊँचा है। इसमें सन्देह नहीं कि जितना उपयोगी और प्रभावशाली कार्य्य हरिऔध जी ने किया है उतना इधर कई शताब्दियों से किसी एक व्यक्ति ने नहीं किया। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र बहुत ही प्रतिभाशाली व्यक्ति थे; यदि उन्हें जीवन के कुछ और वर्ष मिल गये होते तो, संभव है, उनकी मनोहर कृतियों से हिन्दी-साहित्य और भी

का ठाट, 'अधखिला फूल'से सरस और शिक्षाप्रद उपन्यास 'प्रियप्रवास' सा महाकाव्य और इन ग्रन्थों की तथा उपाध्याय जी की संकलित "कबीर वचनावली" की विवेक और पाण्डित्य-पूर्ण शतशत पृष्ठ से भी अधिक भूमिका पढ़कर मेरी इन उक्तियों को अत्युक्तियों में परिगणित नहीं करेगा। आपकी प्रशंसा मुक्तकण्ठ से क्या देशी और क्या विदेशी सभी साहित्य-सेवियों ने की है। आपकी गणना महाकवियों में होती है।"

'युवक' मासिक पत्र के सम्पादक बिहार प्रान्त के उत्साही साहित्य सेवी श्रीमान् रामवृक्ष शर्मा बेनी पुरी 'पद्य प्रसून' की भूमिका में यह लिखते हैं:—

"उपाध्याय जी पूरे शब्द-शिल्पी हैं। आप के एक एक शब्द चुने-चुनाये नपे-तुले होते हैं। जहाँ आपने केवल संस्कृत की ही कविता की सरिता बहाई है, वहाँ भी—उस सरिता-स्रोत पर भी—आपकी सुन्दर शब्द-तरंग-माला अठखेलियां करती देख पड़ती है।

'आपको देखकर उस स्वर्णयुग के आदर्श ब्राह्मणों की याद आ जाती है। आपकी विद्वत्ता, सादगी, निर्लोभता, धर्मपरायणता आदि गुणों को देखकर ब्राह्मणत्व का एक स्पष्ट चित्र आंखों के निकट खिंच जाता है। आपकी विद्वत्ता अथाह है, अध्ययन-शीलता अनुकरणीय है, सादगी सराहनीय है, धार्मिकता धारणीय है और निस्पृहता अभिनन्दनीय।

'काव्य-चर्चा ही आपका व्यसन है। कविता ही आपकी सहचरी है। इन पंक्तियों के लेखक को जब जब आप के दर्शनों का सौभाग्यप्राप्त हुआ है तब तब उसने आपको कविता ही के बीच में बैठे पाया है।

उनका उन्नत ललाट उनकी प्रतिभा का द्योतक है। गम्भीर मुख-मंडल मननशीलता का सूचक है। एक दुबले पतले शरीर में एक हृष्ट-पुष्ट आत्मा का विनोद-विलास इन्हीं को देखने पर दीख पड़ता है।

निर्लोभता की चर्चा पहले हो चुकी है। इस युग में—इस रुपये पैसे के युग में—आपने रुपयों को पैरों से ठुकराया है। आप अपनी कविता-शक्ति द्वारा बहुत कुछ उपार्जन कर सकते थे। किन्तु सरस्वती का

क्रय-विक्रय करना आपको पसन्द नहीं। आपने अपनी कृतियों को, जिसने माँगा उसे ही, उदारता पूर्वक मुफ्त दे दिया।

आप छोटे बड़े सभी आगन्तुकों से बड़े प्रेम से, दिल खोल कर मिलते हैं। अभिमान आपको छू नहीं गया है। आपका सीधापन देख कर दंग रह जाना पड़ता है। अतिथि-सत्कार शायद आपके ही पल्ले में पड़ा है।"

विहार प्रान्त के प्रतिष्ठित विद्वान् हिन्दी-संसार के प्रसिद्ध जीवनी-कार स्वर्गीय श्रीमान बाबू शिवनन्दन सहाय 'बालविभव' की भूमिका में यह लिखते हैं:—

"देश के सभी कविता प्रेमी उपाध्याय जी से और आपकी रचनाओं से पूरे परिचित हैं। हिन्दी कविता जगत में आज आपका यश सविता के समान देदीप्यमान है। केवल एक ही शब्द 'सम्राट्' जो आपके नाम के साथ लिखा जाता है, आपकी गुणगरिमा की व्याख्या के लिए एक बृहद् ग्रन्थ काम देता है।"

वर्त्तमान हिन्दी-साहित्य-सेवियों की उक्त सम्मतियों से पाठक सहज ही समझ सकते हैं कि हिन्दी-संसार के विभिन्न दलों के प्रतिनिधि अन्य विषयों में भले ही मतभेद रखते हों किन्तु हरिऔध जी का सम्मान करने में वे सभी सहमत हैं। ऐसी अवस्था में हरिऔध जी का हिन्दी के प्राचीन और अर्वाचीन साहित्यकारों की श्रेणी में क्या स्थान हो सकता है, इसका वे किसी विशेष कठिनाई के विना ही निश्चय कर सकते हैं। पं० नन्ददुलारे वाजपेयी एम० ए० ने इस विषय में नेतृत्व ग्रहण किया है। उनकी सम्मति पाठक पहले ही, इस ग्रन्थ के आरम्भ में पढ़ चुके हैं। उनका कहना है कि हरिऔध जी का स्थान भारतेन्दु हरिश्चन्द्र से भी ऊँचा है। इसमें सन्देह नही कि जितना उपयोगी और प्रभावशाली कार्य्य हरिऔध जी ने किया है उतना इधर कई शताब्दियों से किसी एक व्यक्ति ने नहीं किया। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र बहुत ही प्रतिभाशाली व्यक्ति थे; यदि उन्हें जीवन के कुछ और वर्ष मिल गये होते तो, संभव है, उनकी मनोहर कृतियों से हिन्दी-साहित्य और भी

कृतकृत्य होता। जिस अल्पवय में उनका शरीरपात हो गया उसमें जितना काम उन्होंने किया उतना भी कर जाना इन्हीं के से प्रतिभाशाली पुरुष का काम था। इसके अतिरिक्त उन्हें अपने ही परिश्रम द्वारा क्षेत्र भी तैयार करना पड़ा। वास्तव में उनकी प्रतिभा सर्वतोमुखी थी और हरिऔध जी का महत्व प्रतिपादित करने के लिये यह आवश्यक नहीं है कि भारतेन्दु से उनकी तुलना की ही जाय। मैं तो इन दोनों महाकवियों को किसी प्रकार की विवाद ग्रस्त तुलना का विषय न बना कर यही कहूँगा कि—

'बलि बोई कीरति लता, कर्ण कीन्ह द्वै पात।' भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने आधुनिक हिन्दी को जन्म दिया और हरिऔध जी ने उसे पल्लवित किया।

हिन्दी-साहित्य में हरिऔध जी का स्थान निर्दिष्ट करने में यत्र-तत्र वर्त्तमान कवियों की चर्चा भी आ गयी है; उसका उद्देश्य केवल यही है कि वर्त्तमान पीढ़ी के कवि यह भले प्रकार समझ सकें कि हरिऔध जी ने जीवन भर परिश्रम करके कितना कार्य्य किया है और कितना उनके लिये छोड़ दिया है। हरिऔध जी की शक्तियों की परिमिति की ओर मैंने यत्र-तत्र संकेत किया है; उनमें त्रुटियाँ हैं और उनकी ओर यथावसर मैंने इस उद्देश्य से दृष्टिपात किया है कि उनकी कविता के प्रेमी न उनकी कृतियों का अतिरंजित मूल्य आँकें और न उस पथ के पथिक बनें जिस पर चलने ही से वे त्रुटियाँ संभव हो सकी हैं।

ईश्वर हरिऔध जी को चिरंजीवी बनावे और जीवन की अन्तिम श्वास तक हिन्दी-साहित्य की अभिवृद्धि में रत रहने के योग्य उन्हें स्वास्थ्य प्रदान करे, जिससे हिन्दी के इस वृद्ध वशिष्ठ का उचित आदर सत्कार करके अपने आपको गौरवान्वित करने का हमें अधिकाधिक अवसर मिले—यही मेरी और, मुझे पूर्ण विश्वास है कि मेरे, साथ दस करोड़ हिन्दी-प्रेमियों की विनीत प्रार्थना है।

217

॥ इति ॥

कृतकृत्य होता। जिस अल्पवय में उनका शरीरपात हो गया उसमें जितना काम उन्होंने किया उतना भी कर जाना इन्हीं के से प्रतिभाशाली पुरुष का काम था। इसके अतिरिक्त उन्हें अपने ही परिश्रम द्वारा क्षेत्र भी तैयार करना पड़ा। वास्तव में उनकी प्रतिभा सर्वतोमुखी थी और हरिऔध जी का महत्व प्रतिपादित करने के लिये यह आवश्यक नहीं है कि भारतेन्दु से उनकी तुलना की ही जाय। मैं तो इन दोनों महा-कवियों को किसी प्रकार की विवाद ग्रस्त तुलना का विषय न बना कर यही कहूँगा कि—

'बलि बोई कीरति लता, कर्ण कीन्ह द्वै पात।' भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने आधुनिक हिन्दी को जन्म दिया और हरिऔध जी ने उसे पल्लवित किया।

हिन्दी-साहित्य में हरिऔध जी का स्थान निर्दिष्ट करने में यत्र-तत्र वर्त्तमान कवियों की चर्चा भी आ गयी है; उसका उद्देश्य केवल यही है कि वर्त्तमान पीढ़ी के कवि यह भले प्रकार समझ सकें कि हरिऔध जी ने जीवन भर परिश्रम करके कितना कार्य्य किया है और कितना उनके लिये छोड़ दिया है। हरिऔध जी की शक्तियों की परि-मिति की ओर मैंने यत्र-तत्र संकेत किया है; उनमें त्रुटियाँ हैं और उनकी ओर यथावसर मैंने इस उद्देश्य से दृष्टिपात किया है कि उनकी कविता के प्रेमी न उनकी कृतियों का अतिरंजित मूल्य आँकें और न उस पथ के पथिक बनें जिस पर चलने ही से वे त्रुटियाँ संभव हो सकी हैं।

ईश्वर हरिऔध जी को चिरंजीवी बनावे और जीवन की अन्तिम श्वास तक हिन्दी-साहित्य की अभिवृद्धि में रत रहने के योग्य उन्हें स्वास्थ्य प्रदान करे, जिससे हिन्दी के इस वृद्ध वशिष्ठ का उचित आदर सत्कार करके अपने आपको गौरवान्वित करने का हमें अधिकाधिक अवसर मिले—यही मेरी और, मुझे पूर्ण विश्वास है कि मेरे, साथ दस करोड़ हिन्दी-प्रेमियों की विनीत प्रार्थना है।

217

॥ इति ॥